

2761

संस्कृत-शास्त्र-सू. ॥

श्री समाज विद्वान्

दिल्ली-कजमेर

॥ मानवधर्मशास्त्रम् ॥

लाल भारती

भीमसेनशर्मणा लोकोपकारमत्या सम्पादितया
संस्कृतार्यभाषाद्वयोपेतमानवधर्ममीमांसाभि-
धव्याख्यया सुशोभितम् ।

श्यामलाल शर्मणा सरस्वतीयन्त्रालये

मुद्रापयित्वा प्रकाशितम् ॥ श्यामलाल शर्मणा

सहाय

THE

तिथि

पुस्तकालय

MANAVA DHARM SHASTRA

WITH A COMMENTARY OF PANDIT BHIMSEN SHARMA

PRINTED AT

THE SARASWATI PRESS ETAWAH

Registered under Sections 18 and 19 of act XXV of 1867.

VOLL : 2

(भाग २ द्वितीय)

२२ अगस्त सन् १८९८ तथा १९५५ वि० भाद्रपद ॥

प्रथमवार १०००

मूल्यम् १॥

विज्ञापन ॥

कई मित्रों तथा देशहितैषियों के अनुरोध से हमने प्रथम अथर्ववेद के भाष्य करने का संकल्प कर लिया है और आवश्यकता समझेंगे तो अथर्व भाष्य छपने के पश्चात् सामवेद का भी भाष्य छपावेंगे। अथर्ववेद भाष्य का मासिक अङ्क ५ फारम ४० पेज पुष्ट रायल कागज में निकलेगा वार्षिक मूल्य इस का २१) मात्र डाकव्यय सहित होगा। मूल्य भेजने के लिये हम पीछेसे सूचना देंगे ग्राहक बनने के लिये लोग शीघ्र २ सूचना भेजें अर्थात् जिन महाशयों को अथर्ववेद भाष्य देखने की शीघ्र इच्छा हो, वे लोग, ग्राहक बढ़ाने का उद्योग अवश्य करें ॥

भीमसेन शर्मा सरस्वती प्रेस इटावा

(पश्चिमोत्तर द्वे

अथ मानवधर्ममीमांसाभाष्यद्वितीयखण्डस्य

सूचीपत्रम् ॥

चतुर्थाध्यायः-

आर्य समाज कट्टे।

जिला-मन्त्री।

विषय	श्लोक से श्लोक तक
१-स्नातक की जीविकाओं का वर्णन-	१-६
२-अल्प संग्रह की उत्तमता-	७-९
३-शिलोच्छ्वति में भी पञ्च यज्ञादि का वर्णन-भवानीलाल भारतीय	१०
४-निन्दित जीविका निषेध-	संख्या ११
५-सन्तोष प्रशंसा	तिथि १२
६-स्नातक व्रत व्याख्या-	पुस्तकालय १३-१८५
७-प्राण यज्ञादि की व्याख्या-	१२-२४
८-अतिथि यज्ञ में वकत्रतादि का निषेध-	-३०
९-अतिथि यज्ञ में पूज्यों का परिगणन-	३१-३२
१०-क्षुधा पीडित होने पर राजा से धन चाहना	३२-३४
११-गृहस्थ स्नातक चिह्न-	-३६
१२-रजस्वला गमन निषेध-	४०-४२
१३-स्वस्त्री दर्शनादि नियम-	४३-४४
१४-मल मूत्र करने के नियम-	४५-५२
१५-अग्नि विषयक नियम-	५३-५४
१६-दक्षिण हाथ से करने योग्य काम	-५८
१७-अन्य के पहिने जूते वस्त्रादि का निषेध ।	-६६
१८-शूद्र को धर्मोपदेशादि का निषेध-	८०-८१
१९-धर्मकर्म हीन क्षत्रिय भिन्न राजा से दान लेने का प्रबल निषेध	८४-९१
२०-सन्ध्योपासन ब्रह्म यज्ञ का विशेष विधि-	९२-९४
२१-उपाकर्म उत्सर्ग द्वारा वेदाध्ययन के नियम	९५-१००
२२-भिन्न २ समयवास्थानादिमें वेदाध्ययन के अनध्यायोंका पूराव्याख्यान	१०-१२७
२३-वेदाभ्यास की अधिक प्रशंसा-	१४७-५०
२४-सदा चार प्रशंसा-	१५३-१५८
२५-सुख दुःख का लक्षण-	१६९-६९
२६-ऋत्विज् आदि १९ के साथ विवाद का निषेध-	१७९-८५
२७-दान लेने विषयक नियम और निषेध-	१८६-१९१

[२] मानवधर्ममीमांसाभाष्यद्वितीयखण्डस्य सूचीपत्रम् ॥

१८-अयोग्य को भोजनादि देने का प्रबल निषेध-	१९२-२००
२९-स्नान विषयक विचार-	२०१-२०३
३०-यम नियमों का विचार-	२०४
३१-अर्थवाद सहित जिन २ का पकाया अन्न न खाना चाहिये उन का परिगणन-	२०५-२२६
३२-सब प्रकार के दानों का व्याख्यान	२२७-२३७
३३-धर्म संचय की आवश्यकता-	२३८-२४३
३४-सस्त्र की आवश्यकता-	२४४-२४६
३५-सब से लेने योग्य वस्तु व्याख्या-	२४७-२५२
३६-जिन शूद्रों का पक्कान खाना चाहिये उन का परिगणन ।	२५३-२५६
३७-गृहस्थाश्रम के अन्त्य समय का कर्तव्य-	२५७-२६०

अथ पञ्चमाऽध्यायः ॥

३८-मृत्यु से कैसे बचे इस के प्रश्नोत्तर	१-४
३९-भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों की गणना	५-२५
४०-मांस भक्ष्याभक्ष्य विचार-	२६-५६
४१-मृतक और जन्म की सब प्रकार अशुद्धि का व्याख्यान	५७-७३
४२-विदेशस्थों के लिये अशुद्धि का विचार-	७४-७८
४३-दशदिन के अन्तर्गत दो जन्म सरण होने पर विचार	७९
४४-आचार्यादि कुटुम्ब से भिन्नों के सरणादि में	८०-८३
४५-अशुद्धि विषयक सामान्य विचार	८४-९२
४६-राजा को अशुद्धि न लगने के विषय में-	९३-१००
४७-असम्बन्धी किसी अनाथादि के मृत्यु विषय में-	१०१-१०४
४८-शरीर की वाह्याभ्यन्तर सामान्य शुद्धि विषय में	१०५-११०
४९-अन्न वस्त्र वर्तनादि वस्तुओं के संशोधन विषय में	१३१
५०-शरीर के मल और शरीरावयवों की विशेष शुद्धि वि०	१३३-१४६
५१-स्त्री धर्म [सधवा, विधवा विषयक] की व्याख्या-	१४७-६९

अथ षष्ठाऽध्यायः

५२-वानप्रस्थ के सब कर्तव्य वा तप का व्याख्यान-	१-३२
५३-संन्यासी का पूरा कर्तव्य वा संन्यास की व्याख्या	३३-८५
५४-वेद संन्यासियों का धर्म-	८६-९७

इति द्वितीयखण्डसूचीपत्रम् ॥

अथ चतुर्थाध्यायारम्भः ॥

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥१॥

अ०-द्विजो ब्राह्मणादिरायुषश्चतुर्थमाद्यं भागं गुरौ गुरु
सेवायामुषित्वा कृतदारोऽनुकूलभार्यया कृतविवाहश्चायुषो
द्वितीयं भागं द्वितीयभागसमाप्तिपर्यन्तं गृहे वसेद् गृहस्थो
भूत्वा गृह्याणि कार्याणि सम्पादयेत् । अत्र कालाध्वनोरत्य-
न्तसंयोगे द्वितीया बोध्या ॥

भा०-चतुर्थपञ्चमाध्याययोगृहाश्रमकृत्यं विशेषतो व्या-
ख्यास्यते । पञ्चमहायज्ञानां गृहस्थे प्राधान्येऽप्यन्याश्रमद्वयेपि
तेषां कर्तव्यत्वमस्ति । अस्मिंश्चाध्यायद्वये ततोऽप्याधिक्येन
गृहस्थानामेव कृत्यमस्ति । पश्येमशरदः शतम् । शतायुर्वै
पुरुषइति सामान्यकथनाच्छतं वर्षाणि मनुष्याणां पूर्णमा-
युस्तेषां पञ्चविंशतेर्वर्षाणां प्रत्येकश्चतुर्थो भागस्तथासति प-
ञ्चविंशत्यब्दावधि गुरुसन्निधौ ब्रह्मचर्येण वेदाध्ययनं ततः
पञ्चाशद्वर्षावधि गृहस्थेन भाव्यम् । एवमन्त्यभागद्वयेना-
श्रमद्वयं कार्यभिति विभागः । एवं च तृतीयाध्यायारम्भे ष-
ट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं यदुक्तं तन्नोपपद्यते । अत्रेदं समाधानं

बोधयम्-देशकालाधिकारिभेदादनेकविधः कालाङ्घिनियम
 आश्रमेषु सम्भाव्यते । कस्मिन्नपि काले यस्याधिकमायुः
 सम्भवति तेन तदा षट्त्रिंशद्वर्षाणि ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयम् । श-
 तायुष्टेऽपि यो गृहाश्रमसुखं विशेषतो नाभिलषति स बहु-
 कालावधि ब्रह्मचर्ये स्थित्वा मध्येऽल्पेनैव कालेन कृतदारः
 पुत्रमेकं पुत्रद्वयं वोत्पाद्य सद्यो वने वसेत् । केनचिच्च गृ-
 हाश्रमोऽपि कर्तुं न युक्तः । ये च मध्यमकक्षायां गृहसुख-
 मपेक्षन्ते तदर्थमायुषो भागचतुष्टयश्रमचतुष्टयानुष्ठानवि-
 धिः । ये च गृहाश्रमे स्थातुं नेच्छन्ति नहि तदर्थं धर्मशास्त्रे
 नियोगो लक्ष्यते । अधिकारिभेदं पुरस्कृत्यैव तदधिकं पा-
 दिकं वेत्यादिना ब्रह्मचर्यकालेऽपि विकल्पाः प्रदर्शिताः ॥१॥

भाषार्थः—(द्विज आयुषश्चतुर्थभाद्यं भागं गुरावुपित्वा) ब्राह्मणादि द्विज अपने
 आयु के पहिले चतुर्थभाग नाम पच्चीश वर्ष की अवस्था पर्यन्त गुरु की सेवा
 में वेदाध्ययन के लिये बस कर (कृतदारः) अनुकूल निर्दोष कन्या से विवाह करके
 (आयुषो द्वितीयं भागं गृहे वसेत्) आयु के द्वितीय भाग नाम पचाश वर्ष के
 आयु पर्यन्त घर में स्त्री के समीप निवास करे। अर्थात् गृहस्थ बन कर धर्मा-
 नुकूल गृह के कार्यों की सिद्धि करे ॥

भा०-चौथे पांचवें अध्यायों में विशेष कर गृहाश्रम का ही कृत्य कहेंगे ।
 पूर्व तृतीयाध्याय में कहे पांच महायज्ञों की गृहस्थ में प्रधानता होने पर भी
 अन्य ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ में भी उन का कर्तव्य ही माना है । इस कारण
 तृतीयाध्याय के विषय का अन्याश्रमों के साथ भी सम्बन्ध है । परन्तु इन चतुर्थ
 पञ्चम दो अध्यायों में उस से भी अधिक गृहस्थों का ही कर्तव्य है । नहम सौ
 वर्ष तक देखें नेत्र हीन न हों । तथा मनुष्य का आयु सौ वर्ष का होता है
 इत्यादि वेदादिशास्त्र प्रमाणों के अनुसार मनुष्यों का आयु सौ वर्ष का नियत
 है उन में पच्चीश २ वर्ष के प्रत्येक चार भाग होते हैं जिन में से पहिले पच्चीश
 वर्ष पञ्चोपवीत संस्कार तक विशेष वात्यावस्था के आठ वर्ष छोड़ कर सत्रह

वर्ष ब्रह्मचर्य काल होता है । ऐसा होने पर २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य, तथा उस से आगे ५० वर्ष तक गृहाश्रम इसी प्रकार आयु के अन्तिम दो भागों में वानप्रस्थ संन्यास दो आश्रम करने चाहिये ऐसा विभाग हो जाने पर तृतीयाध्याय के आरम्भ में द्वातीश वर्ष का जो ब्रह्मचर्याश्रम कहा है वह ठीक नहीं बनता । इस का समाधान यह है कि देश काल और अधिकारियों के अनेक भेद वा प्रकार होने से आश्रमों में कालादि का नियम अनेक प्रकार का अपेक्षित है । किसी काल में जिस का आयु सौ वर्ष से अधिक (भूयश्च शरदः शतात्) के अनुसार होना सम्भव है । उस को उस काल में द्वातीश वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करना चाहिये । और सौ वर्ष का आयु होने पर भी जो गृहाश्रम का सुख विशेष कर भोगना नहीं चाहता वह बहुत काल तक अर्थात् ८ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार करके बारह २ वर्ष तीनों वेद को ब्रह्मचारी बन कर ब्रती हुआ पड़े तो ३६ वर्ष का ब्रह्मचर्य करके ४४ वर्ष की अवस्था पूरी होने पर थोड़े काल के लिये अर्थात् छः वर्ष में एक वा दो पुत्र हो जाने तक विवाह करके गृहाश्रम में रहे पश्चात् शीघ्र ही वानप्रस्थाश्रम को स्वीकार करे । तथा कोई अधिकारी ऐसा हो सकता है जिस को गृहाश्रम करने की सर्वथा ही इच्छा न हो वह गृहस्थ भी न बने । और जो बीच की कक्षा में रह कर गृहस्थाश्रम के सुख को भी चाहता है उसके लिये आयु के चार भागों में चारों आश्रमों के सेवन का विधान है । जो लोग गृहाश्रम में रहना ही नहीं चाहते उन के लिये धर्मशास्त्र में कोई विशेष आज्ञा वा नियम नहीं है कि उन को भी गृहाश्रम अवश्य करना ही चाहिये । अधिकारियों का भेद मान कर ही तृतीयाध्याय के आरम्भ में आधा वा चौतिहाई ब्रह्मचर्य काल के विकल्प दिखाये हैं ॥१॥

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।

या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।

अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥३॥

अ०-अनापदिकाले भूतानां प्राणिनामद्रोहेण या वृत्तिरल्पद्रोहेण वा तां समास्थाय विप्रो जीवेद् भोजनादि

निर्वाहं कुर्यात् । अगर्हितैरधर्मांशरहितैः स्वैरेव कर्मभिर्न क्षत्रियादीनां यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं साधारणभोजनवसनैर्निर्वाहायैव नतूत्तमोत्तमसुखभोगाभिलाषपूर्त्तये शरीरस्याक्लेशेनैव नतु परिश्रमाधिक्येन धर्मं विस्मृत्यायुषो हानिं वा कृत्वा धनसंचयं कुर्वीत ॥

भा०-वक्ष्यमाणे शिलोञ्छसन्तोषवृत्ती सर्वथैव द्रोहरहिते याचनवृत्तौ वणिग्वृत्तौ वा कृष्याद्यपेक्षयाल्पो द्रोहस्तस्मात्पूर्वं वृत्ती उत्तमे उत्तरे च मध्यमे अन्त्ये च निकृष्टे, ये साधारणनिर्वाहायैव वृत्तिमपेक्षन्ते न ते लोभाधिकादधर्माधिक्यं कुर्वन्ति नवा धर्मानुष्ठानायानवकाशा भवन्ति । ब्राह्मणेन यथा स्वकर्म सुकरं न तथाऽन्यदीयमतः स्वकर्मणाऽधिका धर्मार्थसिद्धिः । श्रमाधिक्येन क्लेशेन ये धनसंचयार्थं यतन्ते न ते श्रान्ता धर्ममनुष्ठातुमुत्सहन्तइति मत्वा गृहस्थविप्रेण यथोक्तं यथोचितमेव कर्म कार्यम् ॥ ३ ॥

भावार्थः-(अनापदि भूतानामद्रोहेणैव पुनरल्पद्रोहेण वा) आपत्काल से भिन्न अनुकूल समय में प्राणियों के साथ सर्वथा ही द्रोह न करके अर्थात् किसी प्राणी को किंचित् भी पीड़ा न पहुंचा कर वा ऐसा न हो सके तो जिस प्रकार अन्यो को बहुत थोड़ा कष्ट पहुंचे जो न पहुंचने के समान ही माना जाय ऐसे आचरण वा कर्म द्वारा (या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेत्) जो जीविका हेा सकती है उसीका आश्रय लेकर ब्राह्मण अपना कालक्षेप करे (अगर्हितैः स्वैः कर्मभिः) अधर्मांश से होने वाली निन्दा से रहित अपने ही शुद्ध निर्दोष वेदाक्त कर्मों से किन्तु क्षत्रियादि के कर्मों से नहीं (यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थम्) साधारण भोजन वस्त्रादि द्वारा निर्वाहमात्र के लिये किन्तु उत्तमर सुखों के भोग की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये नहीं (शरीरस्याक्लेशेन) शरीर को अधिक कष्ट न देकर किन्तु परिश्रम की अधिकता से धर्म को भुना के वा आयु की हानि करके नहीं (धनसंचयं कुर्वीत) गृहस्थ ब्राह्मण धनादि पदार्थों का संवय करे ॥

भा०—आगे कही शिलोञ्ज और सन्तोष से होने वाली ये दो जीविका सर्वथा ही द्रोह रहित हैं इन के द्वारा किसी को कुछ भी कष्ट नहीं पहुंचता । याघनवृत्ति और वाणिज्य इन दोनों में कृष्यादि की अपेक्षा अल्प द्रोह है नाग दूसरों को कम कष्ट पहुंचता है इस से ये दोनों वृत्ति नाम जीविका मध्यम तथा पहिली दोनों उत्तम हैं । और अन्य की दो जीविका निकृष्ट हैं । जो ब्राह्मण लोग साधारण निर्वाह के लिये ही जीविका चाहते हैं उन को लोभ की अधिकता से अधिक अधर्म नहीं करने पड़ता और धर्म के लिये अवकाश भी मिल सकता है । ब्राह्मणादि मनुष्य जैसा अच्छा अपने २ काम को कर सकते हैं वैसा अन्य क्षत्रियादि कोई नहीं, वा कुलपरम्परा से होते आने के कारण जो जिस काम को अच्छी सुगमता से अच्छा कर सकता है वह २ कर्म जिस २ वर्ण का होना उचित है वह २ ब्राह्मणादि है । इसी कारण अपने २ कर्म से धर्म तथा अर्थ की अधिक सिद्धि कर सकता है । जो लोग अधिक परिश्रम के साथ बड़े २ कष्ट सह के धनसंचय के लिये प्रयत्न करते हैं वे अपनी बुद्धि और शरीर की सब शक्तियों उसी में केंद्र कर स्वाहा कर देते उन्हीं कामों को करते २ अन्त समय आ जाता है वे फिर धर्म का अनुष्ठान नहीं कर पाते ऐसा मान कर गृहस्थ ब्राह्मण को चाहिये कि यथोचित धर्म को धक्का न दे के धर्मानुकूल कर्म करता रहै ॥ ३ ॥

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।

सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादद्याचितम् ।

मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ॥

स्वेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥६॥

अ०—ऋतादिनामका ब्राह्मणवृत्त्यर्थं षडुपाया उत्तम मध्यमनिकृष्टाः । तत्रोञ्जश्च शिलश्चोञ्जशिलमापणरथ्या-

दिपतितस्यास्वामिधान्यादेरादानमुञ्छी लूनक्षेत्रादिपतित-
सतुषान्नाजर्जनं शिलइति द्वयमृतसंज्ञकमुत्तममतो निकृष्टम-
याचितस्य सन्तोषेणावस्थिताय यद्दानं तदमृतसंज्ञकं ततो
निकृष्टममायया याचितं भैक्षं ततोऽपि निकृष्टं प्रमृतं कर्षणं
कृष्याजीवनम् । ततोऽपि निकृष्टं कस्मिन्नप्यंशे कृषेरुत्कृष्टं
च सत्यानृतं यत्र सत्यमसत्यं चोभयमपि सम्भवति ता-
दृशं वाणिज्यं तेन चैवाप्यापदि जीव्यते जीविकां कर्तुम-
र्हतीति कथयता कृषितोऽस्योपायस्योत्कृष्टत्वं प्रदर्शितम् ।
सेवा दास्यं कर्म श्ववृत्तिशुनइव स्वामिमुखावलोकनेन जी-
वनोपायोऽतिनिकृष्टस्तस्मात्तां वृत्तिं परितः सर्वथाऽऽपत्कालेऽपि
वर्जयेत् ॥

भा०-अन्वर्था ऋतादयः सञ्ज्ञाः । सर्वापेक्षयोञ्छशिलं
सत्यं न तत्कस्याप्यासीदपितु य आददीत तस्यैव तत् । अ-
याचितादानमप्यन्यस्यैवादीयते यः स्वेच्छया सन्तोषेणाव-
स्थिताय ददाति न तस्य कश्चित् क्षोभो दुःखलेशोऽपि दान
काले भवत्यतोऽयचितममृतं सर्वथैव हिंसादोषशून्यम् । ये च
प्रत्यहं याचन्ते तान् दूरतएव दृष्ट्वा दातारो वदन्त्यागतोऽयं
दातव्यं भविष्यति सदैव पीडयत्यस्मानिति दातृणां पीड-
नाद्विंसनादेव याचितं मृतमित्युक्तम् । कृष्या जीवनेन भू-
मिस्थप्राणिनां विशिष्टा हिंसा विग्रहादिनाऽन्येषां पीडा च
तस्मात्तत्प्रमृतं पूर्वस्मादपि विशिष्टहिंसायुक्तम् । सत्यं स्वीयं
वस्तु तस्य दानमपि सत्यं तत्प्रतिनिधित्वेनान्यस्यादानम-
नृतं तस्मादेव तस्य सत्यानृतत्वं न च मिथ्याभाषणमपि

वाणिज्यं प्रावश्यकमिति भ्रमितव्यम् । यो गोधूमचूर्णादि-
कमन्यस्मै ददाति पणांश्च ततो नादत्ते नासौ वाणिङ् न च
तद्वाणिज्यं कर्म । दानापेक्षयाऽऽदानस्य मनुना स्वयमेव
स्पष्टं निकृष्टत्वमुक्तम् । “प्रादानमप्रियकरं दानं च प्रिय-
कारकम् । दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः” दाना-
पेक्षया चादानस्य निकृष्टत्वेऽपि ह्यलेन वाणिज्यं ये कुर्वन्ति
तदपेक्षया यथोचितदानादानरूपवाणिज्यस्यात्युत्तमत्वं सि-
ध्यत्येव । “वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥” इत्यापत्का-
लिकजीवनोपायवर्णनप्रसङ्गे दशमाध्याये मनुना वाणिज्या-
पेक्षया कृषिर्निकृष्टत्वं स्पष्टमेव सूचितम् ॥ तथापि मांसाद्य-
तिनिकृष्टवस्तुविक्रयापेक्षया कृषिरप्युत्तमैवेत्यनुमेया । एकै-
कस्यां च जीविकायां बहवोऽवान्तरभेदाः सदा सम्भन्त्येव
तेनोत्तरोत्तरासु निकृष्टासु कस्याश्चिदुत्कृष्टवृत्तेरपेक्षयाऽऽधि-
क्येन निन्दितायामपि कस्यांचिद् वृत्तौ किमपि कृत्यं ततो
निकृष्टापेक्षया धर्मशास्त्रादिषु प्राशस्त्येनोपदिष्टं सम्भवति ।
एवं पूर्वपूर्वासु प्रशस्तवृत्तिषु ततोऽधमापेक्षया विहिते प्र-
शस्तेऽपि कस्मिंश्चित्कर्मणि ततोऽप्युत्तमापेक्षया त्याज्यत्वं
विहितमुपलभ्येत तदेतच्छास्त्रसङ्गतिं सापेक्षविचारेण प-
श्यद्विनिर्दीपमेव द्वयमपि सम्यक् श्रद्धीयते । अल्पज्ञाश्च
दोषानेव पश्यन्ति न तेन शास्त्रं दूष्यते । सर्वाएव वृत्तयः
सार्वकालिकाः षट्स्विमास्वन्तर्भवन्ति । राज्ञो वृत्तिः काचित्तु
सत्यानृता यत्र रक्षणादिप्रतिनिधित्वेन धनाद्यादानं कुत्र-

चित्कर्षणाय भूखण्डरूपं क्षेत्रमुदकं वा दत्त्वा प्रजाधनं ह्रियते कुत्रचिच्च याचनेनादानं कुत्रचिदयाचितमेवागच्छति । प्रायेण च निर्बलप्रजाः प्रपीड्य राज्ञा धनं संचीयत आदीयते तस्मादन्यदुःखहेतुत्वात्तस्य यौगिकार्थेन मृतत्वं प्रमृतत्वं वेति वक्तुं शक्यते । कुसीदवृद्धिः सर्वा च शिल्पविद्या वाणिज्यान्तर्गता न ततो व्यतिरिक्ता । घोरस्तस्य प्रतिग्रहइति वदता मनुना राजायस्य मृतत्वादिना निकृष्टत्वं सूचितम् । राजकर्मचारित्वं वैतनिकत्वं च सेवावृत्तावेव सर्वमन्तर्भवति सेवायां च बहुभेदभिन्नायां कस्मिंश्चिदुत्तमाधिकारे नियुक्तोऽपि कश्चित्प्रत्यक्षतो भिक्षुकाद्यपेक्षयाऽधिकसुखयुक्तो बहुप्रकारेण लक्ष्यमाणोऽपि यदा सुखदुःखयोर्मूलमन्विष्यते “सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्” तदा नासौ पराधीनः कृताधिकधनसंचयोऽपि स्वाधीनभिक्षुकाद्यपेक्षया प्राप्ताधिकसुखः सम्भवति । मायावित्त्वलोभाधिक्यादिना यद्भिक्षकादीनां विशिष्टं दुःखं तत्तु भिन्नकारणकमितरत्रापि मायाद्यानुकूल्येन सम्भवत्येव ॥ ६ ॥

भाषार्थः—ऋतादिनामक ब्राह्मण की जीविका के लिये उत्तम मध्यम निकृष्ट छः उपाय हैं उन में (ऋतमुच्छशिलं ज्ञेयम्) बाजार वा रास्ता आदि में फैला, जिस का कोई स्वामी न हो ऐसे अन्न को वीन बटोर लाना उच्छ कहाता और खेत काटने वालों से गिरा गेहूं जी आदि की बाली सहित अन्न जिस का कोई स्वामी न हो वह शिला कहाता उस को वीन लाना दोनों का नाम ऋत है यही सब से उत्तम ब्राह्मण की जीविका है (अमृतं स्यादयाचितम्) इस से नीचा सन्तोष से बैठे हुए को जो कोई विना मांगे कुछ दे देवे उसी से निर्वाह कर लेना अमृत कहाता है इसी का नाम सन्तोषवृत्ति भी है । इस से भी निकृष्ट (मृतं तु याचितं भैक्षम्) छल कपट चालाकी छोड़ कर अ-

पने निर्वाहभात्र के लिये अनेक घरों से भिक्षा मांग लाना जो न देवे उस के पीछे न पड़ना वा जो अहु से न दे उस को भी न सताना इत्यादि प्रकार से भिक्षा मांग कर निर्वाह करना स्नातक ब्राह्मण के लिये तृतीयकक्षा की जीविका है इस से भी निरुष्ट (प्रसृतं कर्षणं स्मृतम्) खेती करके जीविका करना पहिली भिक्षा वृत्ति से भी अधम है इसी से इस का नाम प्रसृत है [समय बदल जाने अधर्मियों में भिक्षावृत्ति आ जाने से सस्मृति खेती से भी नीच भिक्षावृत्ति हो गई] उस से भी नीच वा किसी अंश में खेती से अच्छा (सत्यानृतन्तु वाणिज्यम्) जिस में अपना विक्रीय वस्तु देना सत्य और दूसरे से उस का धनादि मूल्य लेना अनृत असत्य ये दोनों जिस में रहते ऐसा वाणिज्य कर्म जीविका है (तेन चैवापि जीवयते) उस वाणिज्य के द्वारा भी आपत्काल में ब्राह्मण जीविका करे वा कर सकता है । इस कथन से खेती की अपेक्षा इस जीविका को आपत्काल में ब्राह्मण के लिये अच्छा कहा जानो (सेवा प्रवृत्तिराख्याता लस्मात्तां परिवर्जयेत्) सेवा दास्यभास [खिद्वन्तगारी] कुत्ते कीभी जीविका सब से बुरी है इस से इसे छोड़ देवे ॥

भा०—यहां ऋत आदि छः जीविकाओं के नाम सार्थक हैं किन्तु रूढि संज्ञा नहीं हैं । सब की अपेक्षा शिलोच्छ्वत्ति सत्य नाम यथाथं निर्दोष है क्योंकि वह हाट बाजार मार्ग वा खेत आदि में गिर गया अन्नादि किसी का नहीं उस का कोई स्वामी नहीं किन्तु जो उस को ले जावे वही स्वामी हो जाता है । [इसी कारण उस के द्वारा जीविका करने वाले से किसी को किञ्चित् भी कष्ट नहीं पहुंचता । यदि कभी कहीं खेतादि में किसी का इतना अन्न गिर गया हो जिस को क्षेत्र स्वामी लेना चाहता हो तो शिलोच्छ्वत्ति बाला जान कर न लेवे यदि अज्ञान से ले आने पर ज्ञात हो तो फिर उसी स्वामी को दे देवे । सस्मृति शिलोच्छ्वत्ति नीच समझी जाती है । इस का कारण यह है कि वे शिलोच्छ्वत्ति वाले धर्मनिष्ठ नहीं होते धर्म के लिये नहीं करते किन्तु वे भी अपने को दीन निरुष्ट मानते हैं सन्तोषादि धर्म उन में नहीं हो । वैश्यपन सस्मृति उत्तमकोटि में आगया तभी से ऐसे वचन बनने लगे कि ०यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः० इसी से धर्म की महिमा घट गयी] बिना मांगे किसी से निर्वाहार्थ जो मिल जाय वह को लेकर निर्वाह करने में भी अन्य का ही लेना है । मांग कर लेने की अपेक्षा उस में देने वाले का भार वा ऋण लेने वाले पर नहीं तथापि ऋत

की अपेक्षा विना मांगे लेके निर्वाह करने वाले पर भी कुछ भार अवश्य होता है इसी कारण ऋत से नीचा द्वितीय कक्षा में अयाचित है। परन्तु अपनी इच्छा और श्रद्धा से देने वाले को कुछ कष्ट वा लेश मात्र भी दुःख नहीं होता इस कारण अयाचित का नाम असृत है। जो सर्वथा सृत नाम हिंसा दोष से शून्य हो वह असृत कहाता है। और जो प्रतिदिन भिक्षा मांगते हैं उन को दाता लोग दूर से देखते ही कहते हैं कि « यह आया इस को कुछ देने पड़ेगा सदैव हम को कष्ट देता है » इस प्रकार दाता लोगों को पीड़ित करता और स्वयं भी उन के धनकाने आदि से पीड़ित होता इस कारण भिक्षावृत्ति का नाम सृत है। खेती करके जीविका करने से पृथिवी में रहने वाले असंख्य प्राणियों की हिंसा होती और खेती के कारण अन्यो को लड़ाई झगड़े द्वारा भी कष्ट पहुंचता है इस कारण भिक्षावृत्ति की अपेक्षा भी हिंसा की अधिकता से खेती द्वारा जीविका करना निकृष्ट होने से प्रसृत कहाता है। अपना वस्तु अन्न आटादि अन्य को देना सत्य नाम अच्छा उत्तम काम तथा उस के बदले पैसा वा अन्य वस्तु उससे लेना अनृत नाम बुरा वा असत्य है इन दोनों लेन देन को करके जीविका करना वाणिज्य कहाता है। इसी अर्थ से वाणिज्य को सत्यानृत कहा है। किन्तु अनृत नाम मिथ्याभाषण भी वैश्य वृत्ति वाले द्विकन्दारों को करना ही चाहिये ऐसा अर्थ करके अन्ति में कोई मत पड़े। जो पुरुष आटादि किसी को देता है और उस के बदले में पैसे आदि उस का मूल्य उस से नहीं लेता वा नहीं लेना चाहता तो वह शणिकू वा वैश्य नहीं और न उस कर्म का नाम वाणिज्य होसकता है। इस लिये सत्यानृतरूप देन लेन दोनों ही वाणिज्य कहाते हैं। और देने की अपेक्षा लेने को मनु जी ने स्वयमेव निकृष्ट कहा है यथा— «लेना प्रीति को बिगाड़ने वाला और देना प्रीति बढ़ाने वाला है। इसीलिये मनुष्य को निरय दानशील होना चाहिये किन्तु सब किसी से सब प्रकार के दान को लेने का स्वभाव न रखे परन्तु दान देके सदा परोपकार करे » इसी कारण विद्यादाता अध्यापक बड़ा और विद्या लेने वाला अध्येता उस से निकृष्ट माना जाता है। परन्तु दान की अपेक्षा आदान के निकृष्ट होने पर भी जो लोग ऊल कपेट से वाणिज्य करते सरासर लोगों को ठगलेते हैं उन बड़े प्रसिद्ध ठगों की अपेक्षा ठीक २ देने लेने वालों का वाणिज्य अत्युत्तम है। तथा विद्या पुस्तकों आदि उत्तमोत्तम रत्न पदार्थों को बेचकर निर्वाह करना सामान्य

यथाचित लेन देन से भी वाणिज्य में अत्युत्तम है। आगे दशमाध्याय के आप-
 दुर्म प्रकरण में मनु जी ने कहा है कि "अन्य प्रकार की जीविका से ब्राह्मण वा
 क्षत्रिय का निर्वाह न चलता हो तो आपत्काल में वैश्यवृत्ति से निर्वाह करने
 पर भी जिस में हिंसा और पराधीनता अधिक है ऐसी खेती की जीविका को
 प्रयत्न पूर्वक अवश्य छोड़ देवे। अर्थात् अन्य जीविका में कष्ट वा परिश्रम अ-
 धिक हो तो भी उस को करले पर खेती में कष्ट और परिश्रम कम हो तो भी
 धर्म की हानि अधिक शोच कर उसे न करे" इस कथन से मनु जीने वाणिज्य
 की अपेक्षा खेती का निकृष्ट होना अवश्य सूचित किया है। तथापि नांसनद्या-
 दि अति निकृष्ट वा निकृष्ट वस्तु बेंचकर जीविका करने अथवा छल कपट द्वारा
 वाणिज्य करने वाले की अपेक्षा से खेती करना भी उत्तम ही है। जीविका के
 एक २ उपाय में बहुत अवान्तर भेद होने सदा ही सम्भव हैं। इस से अगली २
 निकृष्ट जीविकाओं में सिकी उत्तम जीविका की अपेक्षा से अधिक कर किसी
 जीविका के निन्दित होने पर भी उसी में कोई काम उस से निकृष्ट कर्म की
 अपेक्षा से धर्मशास्त्रादि में अच्छा कहा होना सम्भव है ॥ तथा पूर्व २ उत्तम
 प्रशस्त जीविका में उस से निकृष्ट वृत्ति की अपेक्षा से विधान किये किसी उ-
 त्तम कर्म का उस से भी उत्तम की अपेक्षा त्याज्य होना कहा मिले यह भी सम्भव
 हैं। सो सापेक्ष विचार से शास्त्र की संगति को देखते जानते हुए विचारशील
 धर्मात्माओं का दृष्टि में ये दोनों ही प्रकार निर्दोष शुद्ध ठहरते और सत्यकू अ-
 द्वापूर्वक ग्राह्य होते हैं। और अल्पज्ञ लोगों को ऐसे विचारों में दोष ही दीखते
 हैं परन्तु इस से शास्त्र में कोई दोष नहीं आता। इन पूर्वोक्त ऋतादि नामक
 छः प्रकार की जीविकाओं में अन्य सब प्रकार की जीविका अन्तर्गत हो जाती
 हैं। जैसे राजा की जीविका कोई तो सरयानृत है जहां प्रजा की रक्षा आदि के
 बदले में राजा धनादि वस्तु लेता वा कहीं पृथिवी के खाडरूप खेत वा कुल्हा
 [नहर] द्वारा किसानों को जल देकर उस का मूल्य धन लेता है। कहीं राजा
 सांगकर लेता तथा कहीं बिना सांगे भी धनादि आता है। पर सब दशाओं में
 निर्बल प्रजा को पीड़ा देकर राजा धनसंचय करता प्रजा से लेता है। इस का-
 रण अर्थोंको दुःख का हेतु होने से वह राजा का कर्म यौगिक अर्थ से मृत वा
 प्रमृत कहा जाय यह भी उचित ही है। (घोरस्तस्य प्रतिग्रहः) उस राजा के दान को
 लेना बहुत बुरा निकृष्ट है इस आगे कहे कथन से राजा की आमदगी को मनु जी

ने स्पष्ट ही सृष्ट आदि अभिप्राय को लेकर निकृष्टता दिखायी है। व्याज वृद्ध लेकर जीविका वा सब प्रकार की कला कौशलरूप शिल्पविद्या, विचार पूर्वक देखने शोचने से स्पष्ट ही वाणिज्य के अन्तर्गत है। तथा डिपटी तहसीलदारादि राजकर्मचारी भृत्य बन के जीविका करना सेवावृत्ति के अन्तर्गत ही है। सेवा वृत्ति के अनेक भेद होने पर उत्तमाधिकार में किसी के नियुक्त होने से भी वह कोई राजकर्मचारी भिक्षुकादि की अपेक्षा से बहुत प्रकार ऊपर से अधिक सुखी दीख भी पड़ता है। तथापि जब लोग कर सुख दुःख का मूल देखा जाय तो "पराधीनता सब दुःख और स्वाधीनता सब सुख है" इस सिद्धान्त के अनुसार वह पराधीन डिपटी आदि अधिक धन बटोर लेने पर भी स्वाधीन भिक्षुकादि की अपेक्षा सुखी नहीं ठहरता। तथा बल कपट वा लोभ की अधिकतादि से जो भिक्षुकादि को अधिक दुःख होता उसका कारण भिक्षुवृत्ति से भिन्न है वैसे तृष्णा की अधिकतादि कारण से यहां राजकर्मचारी को भी दुःख होता वा होना सम्भव ही है ॥ ६ ॥

कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा ।

त्र्यहैहिको वापि भवेत्प्रवस्तनिक एव वा ॥७॥

[सद्यःप्रक्षालिको वा स्यान्माससंचयकोऽपि वा ।

षण्मासनिचयो वापि समानिचय एव वा ॥]

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् ।

ज्यायान्परःपरो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥८॥

अ०-कुसूलपरिमितधान्यं संचितमनेन तादृशो वा स्यात्कुम्भी मृन्निर्मितं बृहत्यात्रं तत्परिमितसंचितधान्यको वा स्यात् । दिनत्रयाय चेष्टितधान्यको वा भवेत्प्रत्यहं संचयको वा स्यादिति यथासाध्योत्तमवृत्त्या स्वनिर्वाहाय स्नातक-श्रुतुर्विधविकल्पितसंचयेषु कतममपि देशकालानुकूलं सं-

चयमङ्गीकुर्वीत । सद्यःप्रक्षालिकइति पद्यं कस्मिंश्चिदेव पु-
स्तक उपलभ्यते । एतेषां गृहमेधिनां गृहिणीसङ्गिनां कूसू-
लादिचतुष्टयसंचयिनां स्नातकविप्राणां मध्ये धर्मतो धर्ममा-
श्रित्य लोकान् जनान् त्यागसन्तोषाभ्यामतिशयेन जयति
तादृशः परःपरो ज्यायान् विशेषेण प्रशंसाहो ज्ञेयः ॥

भा०-ऋतादयः षड्जीविकोपायास्तैर्गृहस्थविप्रेण क्रि-
यान् संचयः कर्तुमुचितइति कथ्यते । कुसूलादिपदानि ब-
हुप्रकारार्थपराणि नानाप्रमाणानि भवितुमर्हन्ति । तथापि
त्र्यहैहिकाश्वस्तनिककथनसाहचर्यादल्पसंचयकस्य ज्याय-
स्त्वकथनाच्च «द्वादशाहं कुशूलेन वृत्तिः कुम्भ्या दिनानि
षट्» इति कस्यचित्कथनानुकूलमेवार्थग्रहणं साधु प्रतीयते ।
कुल्लूकादयस्त्वती विरुद्धं भाषमाणा बहुसंचयं स्वस्थेवान्ये-
षामपि साधु मन्यन्ते । शरीरेण धनादिसंचयमुपेक्षमाणा
यादृशं यावन्तं च धर्ममनुष्ठातुं शक्नोति न तादृशं तावन्तं
च धनाद्यर्जनरक्षणासक्तइति मत्वैव परस्यपरस्य ज्यायस्त्वं
साधीयः सम्पद्यते । अन्यत्राप्युक्तम्-«धर्मार्थं यस्य वित्तेहा
वरं तस्य निरीहता» सर्वत्रैव तात्पर्यमवगच्छता धर्मतत्त्वं
विज्ञातुं शक्यते । यदभिप्रेत्य यत्कर्तुमुच्यते तत्तात्पर्यं य-
द्यन्यथाकरणेन सुफलं सम्भवति तथैव क्रियमाणे देशका-
लादिभेदेन नैष्फल्यं च सम्भाव्यते तदा बुधेन साफल्यार्थमे-
वोद्योगः कार्यः । यः संग्रहमपेक्षते नासौ सन्तुष्टो विरक्तो वा
सम्भवति । धनादिसंग्रहश्च जलाशयादुदकमिव धनिभ्यएव
सम्भवति तस्मात्संग्रही विप्रो धन्याधीनो भवति त्यागे च

धनिनोऽपि तस्य वशे जिता भवन्ति तस्माद् गृहस्थदशा-
यामपि वैराग्यं मुख्यम् ॥ ८ ॥

भाष्यार्थः—(कुसूलधान्यको वा स्यात्) स्नानक गृहस्थ ब्राह्मण कुठला वा कु-
ठिया भर अन्न का संचय करे (कुम्भीधान्यक एव वा) वा गोरी—कटा वा बड़े
घड़ा भर अन्न का संचय एक बार करे (त्र्यहैहिको वापि भवेत्) वा तीन दिन
का निर्वाह जितने से चल सके इतने अन्न का संचय करे अथवा (अप्रवर्तनिक
एव वा) इतना अन्न किसी उत्तम जीविका के उपाय से लावे जो उसी दिन का
काम चलजाय अगले दिन को कुछ न बचे जिस से चौर आदि का भय वा रक्षा
का ध्यान न रहे । इस के आगे किसी २ पुस्तक में एक यह श्लोक भी मिलता
है कि (मद्यःप्रक्षालिको वा०) तरकाल लाकर खालेवे मध्याह्न का लाया सन्ध्या
को भी न रखे यदि सन्ध्या को अपेक्षा ही तो फिर ले आवे । वा एक मास
के लिये संचय करे तथा छः मास के लिये वा एक वर्ष के लिये इकट्ठा करके
रख लेवे० (चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्) उक्त चार प्रकार की जी-
विका वाले चार प्रकार के गृहस्थ ब्राह्मणों में से (धर्मतो लोकजित्तमः परःपरो
उपायान् ज्ञेयः) पर २ नाम अगला २ धर्म का अधिक २ सेवन कर सकने से
लोगों को वशीभूत अपने अनुकूल करने वाला होने से अतिश्रेष्ठ जानने मानने
योग्य होता है ॥

भा०—ऋतादि नामक जीविका के छः उपाय पूर्व कहे उन के द्वारा गृहस्थ
ब्राह्मण को कितने अन्नादि का संचय करना चाहिये यह विचार यहां कहते हैं ।
यद्यपि कुसूल नाम कुठलादि वाच्य वस्तु छोटे बड़े नाना प्रकार के होते और
हो सकते हैं इस कारण कुसूल वा कुम्भी कहने से अन्न के परिमाण का कुछ
निश्चय नहीं हो सकता कि गृहस्थ कितना अन्न संचित करे—तथापि तीन दिन
और एक दिन कहने के योग से और अल्पसंग्रही को उत्तम कहने से यह सिद्ध
होता है कि «(द्वादशाहं०) बारह दिन के निर्वाहार्थं जितना अपेक्षित ही उस
अन्न को कुसूल नाम कुठलाभर तथा छः दिन के निर्वाहार्थं अपेक्षित कुम्भी
धान्य कहाता है० इस में जिस गृहस्थ का जितना थोड़ा वा बहुत स्त्री पुत्रादि
का व्यय ही वैसे ही बड़े छोटे उस के कुसूल तथा कुम्भी माने जायेंगे ।
इस रीति से उस का परिमाण भी नियत हो जाता है । (द्वादशाहं०) इत्यादि

किन्नी अन्य ग्रन्थकार का वचन है इसी के अनुसार यहां अर्थ लेना अच्छा प्रतीत होता है । कुल्लूक भट्टादि टीकाकार इस से विरुद्ध कहते हुए अपने समान अन्य ब्राह्मणों को भी अधिक संचय करना अच्छा मानते हैं सो टीक नहीं धनादि के संग्रह से उपेक्षा उदासीनता रखता हुआ जैसा और जितना अपने शरीर से धर्म का सेवन कर सकता है, वैसा वा उतना धर्म धनादि के संग्रह वा रक्षा में फसा हुआ पुरुष कदापि नहीं कर सकता ऐसा मान कर ही अगले २ को श्रेष्ठ कहना ठीक बनता है । अन्यत्र भी कहा है कि "धर्म के लिये जो धन का संग्रह करना चाहता है उस को अति उचित है कि वह परिश्रम [तकलीफ] न उठावे" क्योंकि धन के उपार्जन में जितना अधर्म लगेगा उस की शुद्धि मात्र धन से धर्म करने द्वारा ही सकती है और शरीर से केवल निर्दोष शुद्ध धर्म ही सकता है । इस लिये जो सर्वत्र मुख्य सिद्धान्त को शांभता जानता है वही धर्म के तत्त्व को जान सकता है । जिस अभिप्राय को लेकर जो कर्म करने को कहा गया है वही अभिप्राय उस काम को अन्य प्रकार करने से यदि सिद्ध हो सकता है और कहे अनुसार करने से देश कालादि का भेद हो जाने के कारण निष्फलता होनी सम्भव है तब बुद्धिमान् पुरुष को सफलता प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिये और ऐसा ही उद्योग शास्त्रानुकूल माना जायगा । जो धनादि का संग्रह करना चाहता है वह सन्तुष्ट और विरक्त नहीं और कृपादि जलाशय से ही जल मिल सकने के समान धनियों से ही धन प्राप्त वा संगृहीत हो सकता है इस कारण संग्रही ब्राह्मण धनियों के आधीन हो जाता वा रहता है । और धनादि का त्याग रखने पर धनी लोग भी उस के आधीन वशीभूत हो जाते हैं इस कारण ब्राह्मण के लिये गृहस्थ दशा में भी वैराग्य उत्तम है ॥८॥

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।

द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥९॥

अ०—एषां पूर्वाक्तचतुर्विधगृहमेधिनां मध्य एकः कुसूलधान्योऽध्यापनादिषट्कर्मा भवति । अन्यस्त्रिभिरध्यापनयाजनादानैः कर्मभिः प्रवर्तते । एकस्त्वतीयः प्रतिग्रहं विहाय याजनाध्यापनाभ्यामेव कर्मभ्यां वर्तते चतुर्थस्तु

केवलेन ब्रह्मसत्रेण ब्रह्मणो वेदस्याध्यापनेन ब्रह्मयज्ञेन जी-
वति "अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः" इत्युक्तं च, ब्रह्मसत्रं ब्रह्मयज्ञइति
चानर्थान्तरम् । केचिदेनं श्लोकमेवं योजयन्ति-एकः कुसू-
लधान्यक ऋतादिषट्कर्मा, द्वितीयः कुम्भीधान्यक आद्यैर्ऋ-
तादित्रिभिस्त्र्यहैहिकस्तृतीय ऋतामृतद्वयेन चतुर्थोऽश्वस्त-
निकः शिलोञ्छेनैव जीवति । तदेतच्चिन्त्यमेकेनैवोपायेन
कृतकृत्यः किमर्थं षट्कर्मा स्यात् । असाध्यमप्येकेनोपाय
षट्कं ये चैकेनोपायेन यावदर्थं फलं नोपलभन्ते तत्र कर्म
कर्त्तृसाधनानामन्यतमस्य द्वयोस्त्रयाणां वा वैगुण्यमेव हेतुः ।
एवं य एकैकर्त्ताद्युपायेन यावदर्थं संचेतुमशक्तो नासौ स-
र्वापायैरपि फलभाक् सम्भवति । यावता साङ्गोपाङ्गत्वेनैकै-
कमेव कष्टसाध्यं तावता सर्वं कथं सुसाध्यं स्यात् । दृष्ट-
विरोधश्चास्त्येव नहि कृषका वाणिज्यं वणिजो वा कृषिं
द्वावपि भिक्षावृत्तिं वा कुर्वाणा दृश्यन्ते कर्त्तुमशक्तत्वात् ।
नहि कदाचित् कस्यचिद्वस्तुनः क्रयविक्रयाभ्यां कृषको
वणिग्भवत्येवं चेत्सर्वएव सर्वेस्युस्तथाचैकद्वित्रिकर्माणोऽपि
षट्कर्माणाः स्युरनिष्टं चैतत्तस्मान्नायमर्थः साधुरिति ॥

भा०-षट्कर्माण्यग्रजन्मनइति प्रथमाध्यायउक्तमतः
स्वरितत्वाद्दध्यापदीन्येव षट्कर्माणि । अयाचनवृत्तौ कि-
मपि कर्मैव नास्ति तस्माद्योऽधिकसंग्रहमपेक्षेत सोऽध्या-
पनादिषट्कर्माणि कुर्यात् । यश्च ततो न्यूनं कुम्भपरिमितं
धान्यमपेक्षेत स त्रिभिरेव कर्मभिर्वर्त्तत ततोऽपि न्यूनापे-
क्षिणा प्रतिग्रहोऽपि हेयो यतः प्रतिग्रहः प्रत्यवरः । चतु-

र्थेन च " वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते" इति सिद्धान्तं पुरस्कृत्य जीविकोपायः प्रात्यहिकएव सम्यग्बोध्यः। एषूत्तरोत्तरो गरीयान् । अध्यापनादीनि चाल्पकालीनि नै-मित्तिकानि चैकेन कर्तुं युगपत् शक्यन्तइति सर्वमवदातम्॥

भावार्थः—(एषामेकः षट्कर्मा भवति) इन पूर्वोक्त चार प्रकार के गृहस्थों में एक नाम कुटला भर अन्न रखने वाला षट्कर्मा होता अर्थात् उस को अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान देना और लेना ये छहों काम करने चाहिये । तभी विशेष अन्नदि की प्राप्ति और धर्म दोनों चल सकते हैं (त्रिभिरन्यः प्रवर्त्तते) अन्य नाम दूसरा गौरी कटादि भर अन्न को संचित करने वाला अध्यापन याजन और दान लेना इन तीन कर्मों से प्रवृत्त रह के अपना निर्वाह करे । तो उस का निर्वाह और धर्म दोनों की अच्छी दशा रहेगी । (द्वाभ्यामेकः) एक तीसरा तीनदिन के निर्वाहार्थ संग्रह चाहने वाला प्रतिग्रह नाम दान लेने को छोड़ कर अध्यापन और याजन के द्वारा ही अपना निर्वाह करे क्योंकि तीन २ दिन के निर्वाहार्थ धनादि इन्हीं दो कर्मों से प्राप्त ही जाना अति सुगम है (चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति) और चौथा एक ही दिन के लिये चाहना रखने वाला ब्राह्मण ब्रह्मसत्र नाम एक ब्रह्मयज्ञ को ही करता हुआ अपना निर्वाह करे थोड़ी चाहना एक ही कर्म द्वारा सिद्ध ही सकती है । वेद को पढ़ने पढ़ाने का नाम ब्रह्मयज्ञ है यह पूर्व कह चुके हैं । सत्र और यज्ञ शब्दों का एक ही अर्थ है । कोई लोग इस श्लोक का अर्थ ऐसा करते हैं कि "एक-कुसूल धान्य का संघयी ऋतादि छहो जीविका के उपाय करे, द्वितीय कुम्भी धान्यार्थ उड्डलिश, अयाचित और भिक्षा मांगना इन तीन कर्मों से निर्वाह करे, तीसरा तीन दिन का संग्रहार्थी शिलोड्ड और अयाचित दो कर्मों के द्वारा निर्वाह करे और चौथा एक ही दिन को अन्न चाहने वाला केवल शिलोड्डवृत्ति से ही निर्वाह करे" सो यह अर्थ चिन्तनीय इस लिये है कि यदि जीविका के लिये ठीक २ एक भी उपाय करे तो भी अधिक से अधिक खर्च का-निर्वाह चल सकता है फिर किस लिये छः कर्म करे ? । और एक मनुष्य जीविका के सभी उपाय एक काल में कर सके यह दुस्तर भी है । जो लोग एक प्रकार की जीविका से अपने प्रयोजनमात्र फल को भी प्राप्त नहीं कर पाते

वहाँ उन में स्वयं वा उन की क्रिया में अथवा साधनों में न्यूनता [कमर] होनी है ऐसे लोग जीविका के सब उपायों से भी अपना निर्वाह नहीं चला सकते । और यह प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध भी है कि जब एक मनुष्य सब प्रकार के व्यापार ससार भर के सब पदार्थों का लेना बेचना वा सब पदार्थों की खेती ही पूरी नहीं कर सकता तो जीविका के सब उपाय कैसे कर सकेगा ? और किसान लोग व्यापार करते नहीं देखते न व्यापारी खेती करते तथा न वे दोनों भिक्षा मांगते हैं । क्योंकि ऐसा कर सकना असम्भव ही है कि व्यापार खेती दोनों को एककाल में कोई करता ही ऐसा नहीं देखता । और कभी किसी वस्तु के लेने बेचने से किसान व्यापारी होजाय तो सब ही सब हो जायेंगे तब एक दो तीन कर्मों वाले भी छः कर्म कर्ता माने जायेंगे क्योंकि कभी न कभी सब ही को सब काम किसी प्रकार करने पड़ते हैं सो यह अनिष्ट है इस लिये उक्तार्थ ठीक नहीं जान पड़ता ॥

भा०-ब्राह्मण के छः कर्म हैं यह प्रथमाध्याय में कह चुके हैं इस कारण षट्कर्म पद से प्रतिपदोक्त वे ही षट् कर्म लेने चाहिये । सत्ताप से बैठे रहना बिना मांगे जो मिल जावे उसी से निर्वाह कर लेना इस में कोई कर्म ही नहीं है तब शिलोड्ढादि छः कर्म ही ही नहीं सकते इस लिये इन श्लोक का यही अभिप्राय ठीक है कि जो अधिक संग्रह चाहता है वह अध्यापनादि छः कर्म करे, उस से कम चाहने वाला तीन कर्म तथा उस से भी कम चाहने वाला दो ही कर्म करे, प्रतिग्रह को भी छोड़े क्योंकि दान लेने को मनु जीने नीच काम इसी अध्याय में आगे कहा है और चौथा केवल नित्य निर्वाह को ही चाहने वाला "निष्कारण वेद का अभ्यास करना ही ब्राह्मण का परम तप है" इस द्वितीयाध्याय में कहे सिद्धान्त को सामने रख के एक ही दिन के लिये प्रतिदिन जीविका का उपाय कर लेवे यही उत्तम है । इन चारों में पूर्व २ की अपेक्षा पिछला २ ब्राह्मण श्रेष्ठ माना जायगा जो जितना कम संग्रह करना प्रसन्न करता वह वैसे ही अधिक धर्मनिष्ठ हो सकता है । अध्यापनादि कर्म थोड़े २ समय तक होते हैं किन्तु दिन भर नहीं इस कारण याज्ञनादि नैमित्तिक कर्म भी साथ में किये जा सकते हैं इस प्रकार सब विचार निर्दोष शुद्ध और संगत है ॥९॥

**वर्त्तयंश्च शिलोड्ढाभ्यामग्निहोत्रपरायणः ।
इष्टीः पार्वयनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥**

अ०—शिलोऽच्छाभ्यामुपायद्वयेन जीविकां वर्त्तयन् कुर्वन्स्ना-
तकविप्रोऽग्निहोत्रपरायणो नियमेनाग्निहोत्रं कुर्वन् पर्वयो-
र्दर्शपौर्णमासयोरन्ते समीपे प्रतिपदि भवाः पार्वान्तीया
अयनस्य संवत्सरस्यान्ते भवा आयनान्तीया आग्रहायणे-
ष्टीः केवलाः सदा निर्वपेत् कुर्यात् । पर्वचायनं च पर्वायणे
तयोरन्तौ तत्र भवाः पूर्वं स्वार्थिकमणं कृत्वा ततो वृद्धा-
च्छः प्रत्ययः कार्यः ॥

भा० शिलोऽच्छवृत्त्या जीवतः समीपेऽन्नधनाधिक्यसञ्चयो
न सम्भवति ततश्च व्ययविशेषसाध्या अन्ये प्रधाना यज्ञा-
स्तेनानुष्ठानं न शक्यन्ते तदकरणे न कोऽपि दोषोऽस्ति त-
दासाङ्गोपाङ्गस्याग्निहोत्रस्यैव नियमेनानुष्ठानं कार्यं नात्रा-
न्नधनाधिक्यमपेक्ष्यते ॥ १० ॥

भाषार्थः -- जिस के निकट खर्च कम हो अर्थात् लड़के वाले कम हों या
न हों ऐसा तपस्वी गृहस्थ ब्राह्मण (शिलोऽच्छाभ्यां वर्त्तयन्) शिला वीन वा वा-
जारआदि में से अन्न वीन कर जीवन का निर्वाह मात्र करता हुआ (अग्निहो-
त्रपरायणः) नित्य अग्निहोत्र करने में तत्पर रहे और उस के साथ (पार्व-
यनान्तीयाः केवला इष्टीः सदा निर्वपेत्) अमावास्या पौर्णमासी नामक पर्वों के
अन्त में प्रतिपदा के आरम्भ में होने वाली दर्शेष्टि पौर्णमासेष्टि तथा वर्षान्त
में विधान की गयी आग्रहायणेष्टि जो अग्रहन के आरम्भ में प्रतिपदा लगते
ही होनी चाहिये । केवल इतना ही नित्य नैमित्तिक अग्निहोत्र यज्ञ किये जावे
किन्तु इन से भिन्न बड़े २ खर्च वाले बड़े यज्ञ न करे ॥

भा०—शिलोऽच्छवृत्ति से जीविका करने वाले के समीप में अन्न धनादि का
अधिक संवय होना सम्भव ही नहीं क्योंकि अन्य जीविका कर सकने पर भी धर्म
की अनुकूलता देख कर जो शिलोऽच्छवृत्ति करेगा वह संवय करना स्वयं ही नहीं
चाहेगा । इस कारण अधिक व्यय के द्वारा सिद्ध होने वाले ज्योतिष्टोमादि प्र-
धान यज्ञों का अनुष्ठान वह पुरुष नहीं कर सकता और उन बड़े यज्ञों के न

करने से कोई दोष भी उस को नहीं लगता वा अधिक पुण्य से वञ्चित भी वह नहीं रह सकता क्योंकि उन यज्ञादि के लिये धन संग्रह करने में जो दोष लगेंगे उन से अधिक पुण्य यज्ञों द्वारा ही यह सम्भव है तथापि धनसंग्रह की ओर चित्त की फसावट न रहने पर शरीर के परिश्रम से जितना धर्म वह ब्राह्मण कर सकेगा वह धर्म उस यज्ञ के पुण्य से बहुत अधिक होगा तथा धनोपाजन से लगने वाले दोषों से भी वह बचेगा । इस लिये उस त्यागी गृहस्थ को केवल साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र का ही नियम से अनुष्ठान करना चाहिये इस में अधिक अन्न धनादि की कुछ अपेक्षा नहीं है अपने निर्वाहार्थ जो तिष्ठे उसी से नित्य का अग्निहोत्र भी चल सकता है ॥१०॥

न लोकवृत्तं वर्त्तत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।

अजिह्यामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥

अ०—स्नातको विप्रो जीविकाप्राप्तिहेतोर्वेदादिशास्त्रविरुद्धं धर्महीनमधर्मयुतं वा किमपि लोकवृत्तं न वर्त्तत न कुर्यादपित्वजिह्यामवक्राशयामशठां परवञ्चनरहितां शठसंसर्गरहितां वा तादृशीं स्ववर्णस्य शुद्धामदीषां जीविकां जीवेत् ॥

भा०—गतानुगतिकत्वं लोके प्रधानं लोकाः प्रवाहेण प्रवृत्तं शास्त्रविरुद्धमपि यत्साधु मन्यन्ते तदेव योऽनुमोदते तस्य प्रतिष्ठां कुर्वन्ति जीविकां च तस्मै ददति सामान्येनायं लोकप्रवाहः । सुमार्गीपादानाभिमानिनोऽपि बहवो न कदापि लोकोत्तराः सम्भवन्ति किन्तु तन्नायकः कश्चित्कदाचित् कुत्रचिल्लोकप्रवाहादुच्यतिरिच्यते । यश्च यथा लोकप्रवाहमत्येति तथैवाधिकं केवलं धर्मं संचिनोति तस्मात्सर्वैः शास्त्रमर्यादाविद्धिः सर्वदैव लोकप्रवाहान्निस्सृत्य शास्त्रसृतिमनुसर्तुं प्राबल्येनीद्योगः कार्यः ॥ ११ ॥

भाषार्थः—गृहस्थ ब्राह्मण (वृत्तिहेतोर्योऽकवृत्तं कथंचन न वर्त्तते) जीविका प्राप्त होने के कारण वेदादिशास्त्र की आज्ञा से विरुद्ध धर्म रहित वा अधर्म युक्त लोकचाल के प्रवाह में कदापि न बड़े अर्थात् जीविका होने की आज्ञा से शास्त्रविरुद्ध लोकचाल पर कभी न चले किन्तु (अजिह्मामशठां शुद्धां ब्राह्मणजीविकां जीवेत्) जिस का अभिप्राय किसी प्रकार की कुटिलता वा धानाकी से सम्बन्ध रखने वाला न हो तथा जो किसी द्वितीय को धोखा दे कर प्राप्त होती हो वा जो शठ नीच प्रकृतियों के संग से प्राप्त न हो ऐसी अपने ब्राह्मण वर्ण के किसी शुद्ध निर्दोष कर्म द्वारा सिद्ध होने वाली जीविका को करे ॥

भा०—एक के पीछे दूसरे का चलना जिस को भेड़ियाघसान भी कहते हैं । जिस वान को किसी ने किसी कारण अच्छा कहा वा माना तो उस को अच्छा कहने वा मानने वाले उस एक के अनुगामी अनेक हो जाते हैं यही प्रधान लोकपन है कि तर्ब का खोज फिर नहीं करते अन्धाधुन्ध वही रटें चले जाते हैं । अर्थात् संसार के प्रवाह में पड़े संभारी लोग प्रवाह से प्रवृत्त शास्त्रविरुद्ध भी जिस सन्तव्य को अच्छा मानते हैं उसी का जो अनुमोदन करता उस की वे प्रतिष्ठा करते उस को जीविका देते हैं सामान्य कर यही लोक का प्रवाह है । तथा बहुत से लोग सुमार्ग को पकड़ने उस पर चलने का अभिमान रखने वाले भी लोकप्रवाह के पार नहीं पहुँचते । किन्तु अनेकों का नायक कोई २ कभी कहीं लोक प्रवाह से बच के निकल सकता है । जो जितना लोक प्रवाह को त्यागता है वह उतना ही अधिक केवल धर्म का संचय करता । इस से सब के लिये सब शास्त्रज्ञ लोगोंको सब काल में लोक प्रवाह से बाहर निकल के शास्त्र की आज्ञा के अनुसार चलने के लिये प्रबल उद्योग करना चाहिये ॥११॥

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।

संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥१२॥

अ०—सुखार्थी स्नातको गृहस्थो ब्राह्मणः परमुत्कृष्टमाधिक्येन संतोषमास्थायोद्दिश्य संयतो जितेन्द्रियः प्रचुरधनार्जनादुदासीनो भवेत् । हि यतः सन्तोषएव सुखस्य मूलं नहि तृष्णाप्रवाहोर्मिपतितः सुखं लभते तस्मादेव सन्तो-

षाद्विपर्ययो दुःखमूलं तृष्णाधिक्यमेव दुःखाधिक्यस्य सर्व-
त्रप्रधानं कारणमस्तीति ॥

भा०—यथासम्भवभृत्यात्मपोषणावश्यकपञ्चमहायज्ञानु-
ष्ठानमात्रोचितान्नधनानधिकोपादित्सा गृहस्थस्य सन्तोषः।
नहि कोऽप्यधिकधनान्नार्जनाय धावन् शान्तः सुखी वा
भवितुमर्हति । पट्टके प्रविष्टस्य निर्लिप्तत्वमिवासम्भवम् ॥

भावार्थः—(सुखार्थी परं संतोषमाख्याय संयतो भवेत्) स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण
अधिकता से उत्तम सन्तोष को धारण कर वा सन्तोष को ही परम उद्देश मान
कर गितेन्द्रिय हो अर्थात् अधिक धन जेड़ने से उदासीन रहे (हि सन्तोषमूलं
सुखं विपर्ययो दुःखमूलम्) क्योंकि सन्तोष ही सुखका मूल कारण है जो सन्तोष
को त्यागना है उसे सुख नहीं मिलता और सन्तोष का त्याग-तृष्णा का बढ़ना
ही सर्वत्र दुःख का मूल कारण है ॥

भा०—शक्ति वा प्राप्ति के अनुपार स्त्री पुत्रादि तथा अपने साधारण भरण
पोषण के लिये जितना आवश्यक है तथा पञ्चमहायज्ञ करने के लिये जितना
अन्न धन उचित आवश्यक है उतने से अधिक प्राप्ति के लिये तृष्णा न रखना
गृहस्थ का सन्तोष कहाता है क्योंकि कोई अधिक अन्न धन जेड़ने के लिये
भागता हुआ शान्त वा सुखी नहीं हो सकता जैसे काँचड़ में फने हुए का न जि-
सना असन्तोष है वैसे लोभ लालच में फने हुए पुरुष का चित्त शुद्ध निर्दोष
शान्त वा सुखयुक्त रहना असम्भव है ॥ १२ ॥

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातकोद्विजः।
स्वर्गायुष्यशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥

अ०—स्नातको द्विजो विप्रोऽतः सुखार्थित्वादेव षट्सु
जीविकोपायेषु मध्येऽन्यतमया देशकालाद्यनुसारेण कर्तुमु-
चितैकया कयाऽपि वृत्त्या जीवन् स्वर्गायुष्यशःकराणीमानि
वक्ष्यमाणानि व्रतानि धारयेत् स्वीकुर्यात् ॥

भा०—अत्र प्रकरणे सन्तोषाधिक्येन धानाद्यर्जनसंकोचो ब्राह्मणापरएव विज्ञायते यतस्तस्य तपएव धर्म वा धनं यस्य च धनमेव धनं न तस्य तपएव धर्मएव वा धनं भवति । यद्वा यस्य तपएव धर्मएव वा धनं सएव ब्राह्मणः । कुलेन यो ब्राह्मणस्तनान्येन च स्वब्राह्मण्यरक्षायै सन्तोषएव प्रधानीकार्यः । यो धर्मणाधिकसुखमाप्नुमिच्छति स ब्राह्मणो यः प्रभुत्वेन सुखमिच्छत्यसौ क्षत्रियो यश्च प्रधानतया धनेन सुखमिच्छति सएव वैश्यइति । अतः सन्तं षादिवाक्यानि गौणभावेन क्षत्रियादिषु प्राधान्येन च ब्राह्मणेषु घटन्ते । यो हि वृत्त्याधिक्येन सुखाय धावति न तस्य सुखार्थित्वं सफलं सम्भवति । यश्च बहुभिर्वृत्युपायैर्जीवति नासौ भविष्यति कल्याणहेतूनि स्वर्गायुर्थशांसि प्राप्तुं व्रतान्यनुष्ठातुं वा शक्तः सावकाशो वा जायते । तस्मादेकवृत्त्या जीवने सुखार्थित्वं पूर्वपद्योपात्तं हेतुस्तादृशं जीवनं च व्रतधारणे हेतुरिति ॥१३॥

भाषार्थः—(सनातको द्विजोऽप्यन्यतमया वृत्त्या जीवन्तु) ब्रह्मचर्याग्रम को समाप्त कर ग्रहस्य हुआ ब्राह्मण सुख का अभिलाषी होने के कारण पूर्व कहे जीविका के छः उपायों में से देश कानादि के अनुसार करने योग्य किसी एक प्रकार की जीविका से जीवन का निर्वाह करता हुआ (स्वर्गायुष्ययशस्यानी-गानि व्रतानि धारयेत्) सुख आयु तथा यश कीर्ति को अधिक बढ़ाने वाले इन आगे कहे जाने वाले व्रतों नाम नियमों को धारण करे ॥

भा०—इस प्रकरण में सन्तोष की अधिकता से धनादि के जोड़ने में संकोच रखना मुख्य कर ब्राह्मण का ही काम है [इसी कारण सामान्य कर तीन वर्ण के वाची भी द्विगपद से ब्राह्मण का ग्रहण किया गया है सो (विप्रो जीवेद-नापदि ४२) इस अध्याय के आरम्भ में तथा (वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती ४२५) इसी अध्याय के अन्त में विप्रपद से ब्राह्मणके लिये मुख्य उपदेश है यह बात ग्रन्थकार ने उपक्रमोपसंहार द्वारा स्वयमेव प्रकट करदी है] क्योंकि ब्राह्मण

का तप वीक्षितं ही मुख्य धन है और जिस का धन ही धन है उस का तप वा धर्म ही धन नहीं हो सकता अथवा जिस किसी (वैश्य क्षत्रियादि कहाने वाले) का भी तप और धर्म ही धन है वही ब्राह्मण कहावेगा । इस लिये जो कुल से ब्राह्मण है उस को तथा अन्य गुण कर्मानुकूल ब्राह्मण को अपने ब्राह्मणपन की रक्षा के लिये सन्तोष को ही प्रधान मानना चाहिये । जो कोई पुरुष धर्म के द्वारा अधिक सुख चाहता वह ब्राह्मण जो प्रभुता [हकूमत] द्वारा सुख की अधिक इच्छा रखता वह क्षत्रिय तथा जो मुख्य कर धन के द्वारा सुख भोगना चाहता है वही वैश्य है । इस कारण सन्तोषादि सम्बन्धी वाक्य मुख्य कर ब्राह्मणों में तथा गौणरूप से क्षत्रियादि में घटते हैं । जो अधिक जीविका करके सुख प्राप्ति के लिये भागता है उस का सुखार्थीपन सफल नहीं हो सकता । और जो बहुत जीविका के उपायों का आरम्भ करके जीवता है वह भावी समय में कल्याण के हेतु स्वर्ग अधिक आयु और उत्तम यश को प्राप्त वा नियम व्रतों का सेवन नहीं कर सकता और उस को सुखभोग के लिये अवकाश भी नहीं मिलता है । इस लिये पूर्व श्लोक में कहा सुखार्थी होना एक वृत्ति से जीवने में हेतु और वैसे जीवन व्यतीत करना व्रत धारण में हेतु है ॥१३॥

**वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
 तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥१४**

अ०—स्नातकः स्वकं स्ववर्णाश्रमोचितं वेदोक्तं कर्म नित्यं निरन्तरमतन्द्रितः कुर्यात् । तद्धि दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितं वैदिकं कर्म यथाशक्ति शक्तितोऽन्यूनं कुर्वन् परमां गतिं सर्वोत्कृष्टं निःश्रेयससुखं प्राप्नोति ॥

भा०—यथा सर्वत्रैव लोके शास्त्रे च साधनतारतम्येन साध्यतारतम्यसिद्धिर्जायते । अन्नेन भक्षितेन क्षुन्निवर्त्ततइत्यस्मिन्सामान्यवाक्येऽल्पेनाल्पा मध्यमेन मध्यमाऽधिकेन चाधिका तथैवात्रालस्यादिदोषत्यागपुरस्सरं दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितेन वेदोक्तकर्मणा परमगतिः सम्भवति ।

अल्पकालादिसेवितेन चाल्पैव सुखावाप्तिरिति । ज्ञानेनैव मुक्तिरिति सिद्धान्ते सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानेन मोक्षे सति नास्ति बाधः । तदुक्तं महाभारतभोक्षधर्मपर्वणि—“ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । तदा दर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि” ॥ १४ ॥

भाषार्थः—(स्वकं वेदोदितं कर्म नित्यमतन्द्रितः कुर्यात्) गृहस्थ ब्राह्मण वेद में कहे अपने वर्ण वा आश्रमानुकूल कर्म को नित्य निरन्तर निरालस्य होके करे (तद्धि यथाशक्ति कुर्वन् परमां गतिं प्राप्नोति) अधिक काल तक श्रद्धा के साथ निरन्तर उस वेदोक्त यज्ञादि कर्म को अपनी शक्ति भर करता हुआ परमगति नाम सर्वोत्तम मोक्ष सुख को प्राप्त ही जाता है ॥

भा०—जैसे लोक वा शास्त्र में सर्वत्र ही साधनों के उत्तम मध्यम प्रबल निर्बल वा न्यूनाधिक होने से वैसी ही न्यूनाधिक कार्यों की सिद्धि होती है । अन्न खाने से क्षुधा निवृत्त होती इस सामान्य वाक्य में इतना ऊपर से जोड़ के समझना उचित होता है कि थोड़े से थोड़ी मध्यम से मध्यम और अधिक अन्नसे अधिक क्षुधा निवृत्त हो सकती है । वैसे यहां भी अलस्यादि दोषों के त्याग पूर्वक बहुत काल तक श्रद्धा के साथ निरन्तर सेवन किये वेदोक्त कर्म से मुक्ति हो सकती है और थोड़े कालादि से सेवन किये वेदोक्त कर्म से थोड़ी ही सुख प्राप्ति होती वा हो सकती है । ज्ञान से ही मुक्ति होती इस सिद्धान्त में सत्त्वशुद्धि द्वारा हुए ज्ञान से मुक्ति होती है ऐसा मानने पर कोई बाधा नहीं है । सो महाभारत शान्ति-पर्वान्तर्गत भोक्षधर्ममें कहा है कि “मलिनता कुसंस्कार वा दुर्वासनारूप पाप कर्म के शुभ कर्मों द्वारा क्षीणहोने से शुद्ध दर्पण में ठीक स्वरूप दीख पड़ने के समान अपने अन्तःकरण में परमात्मा को देखता है” ॥ १४ ॥

नेहेतार्यान् प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा ।

न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्च्यामपि यतस्ततः ॥१५॥

अ०—धर्मकृत्यं विस्मृत्य धनाद्यासक्त्याऽर्थानुपार्जितुं नेहेत । विरुद्धेन धर्मविरोधिनिषिद्धप्रतिग्रहादिनार्थान्नेहेत ।

विद्यमानेषु निर्वाहमात्रमुपस्थितेष्वन्नधनादिषु चार्थान्नेहेता
 आर्थाप्यन्नमन्तरेण कष्टे सत्यपि यतस्ततः पतितादेनेहेतः॥

भा०-प्रसङ्गादिना धनाद्यर्जने धर्महानिरधर्मप्राप्तिर्वाभयं
 वा सम्भवति । तस्मादासक्त्यादीन् विहाय वृत्तिमाचरेत्॥१५॥

भाषार्थः-(प्रसङ्गेनार्थान्नेहेत) धर्म को मुला कर और धनादि में आसक्त होके
 धनोपार्जन की चेष्टा न करे (न विरुद्धेन कर्मणा) धर्म से विरुद्ध निषिद्ध दान लेने
 आदि कर्म के द्वारा भी धन संग्रह की चेष्टा न करे (न विद्यमानेष्वर्थेषु) निर्वा-
 हमात्र के लिये अन्न धनादि के उपस्थित होने पर भी लोभ से अधिक धन की चेष्टा
 न करे (नार्थापि यतस्ततः) अन्न प्राप्ति के विना कष्ट होने पर भी जिस किसी
 पतित वा अतिनीचादि से अन्नादि लेने की चेष्टा न करे ॥

भा०-धनादि में आसक्ति आदि के द्वारा धनादि के उपार्जन में धर्म की हानि
 अधर्म की प्राप्ति वा दोनों होनी सम्भव हैं इस लिये अधिक लालच वा फसावट
 आदि को छोड़ के गृहस्थ जीविका करे ॥ १५ ॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।

अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्त्तयेत् ॥

अ०-सर्वेषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविसर्गानन्दादानभ्रमणाभा-
 षणोष्विन्द्रियाणामर्थेषु विषयेषु कामतो रागेण भोगोत्कण्ठया
 न प्रवर्त्तत । एतेषामिन्द्रियाणां विषयेष्वतिप्रसक्तिं मनसा
 मानसविचारेण दोषदर्शनपुरस्सरं सम्यङ्निवर्त्तयेत् ॥

भा०-स्वभार्यागमनादीनि गृहस्थेन कर्त्तव्यान्यपि क-
 र्माणि "ऋतौ भार्यामुपेयात्" इत्यादिप्रेरणालक्षणधर्मम-
 त्त्यैव धर्ममिच्छता गृहस्थेन कार्याणि न त्वनुरागतः । एवं
 हि धर्मो ज्ञातुं सेवितुं च शक्यते नान्यथा ॥ १६ ॥

भाषार्थः-(सर्वेष्विन्द्रियार्थेषु कामतो न प्रसज्यते) शब्द स्पर्शरूप रस गन्ध
 इन ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषयों में तथा गुदा के त्याग, उपस्थ के आनन्द, हाथ

के लेने, पगों के भ्रमण और वाणी के भाषण विषयों में रागपूर्वक भोग की उत्कण्ठा से गृहस्थ आसक्त न हो (एतेषामतिप्रसक्तिं मनसा संनिवर्त्तयेत्) इन इन्द्रियों की विषयों में होने वाली अत्यन्त फसावट को मानस विचार से दोष देखने पूर्वक सम्यक् रोकता रहे । इन सब में कामासक्ति सब का मूल है उस को संहालने से अन्य विषयों में फसावट होना कम सम्भव है । अति फसावट यही है कि जिस से धर्म कर्मसब भूल जाता दिनरात उन्हीं विचारों में लगा रहता है । अति का निषेध करने से कुछ फसावट तो गृहस्थ होने से होती ही है यह जताया है इसी कारण सर्वथा फसावट छुड़ाने के लिये वानप्रस्थादि अगले आश्रम हैं ॥

भा०—स्वस्त्रीगमनादि गृहस्थ के कर्त्तव्य काम भी धर्मबुद्धि से ही धर्मोपार्जन की इच्छा रखता हुआ गृहस्थ करे किन्तु स्नेह वा राग में फस के नहीं ऐसा करने पर ही धर्म का ज्ञान और सेवन समुप्य कर सकता है अन्यथा नहीं ॥१६॥

सर्वान् परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः।

यथातथा यापयंस्तु साह्यस्य कृतकृत्यता ॥१७॥

अ०—वेदाध्ययनाध्यापनरूपस्य प्रधानधर्मस्य विरोधिनो विघ्नरूपान्सर्वानर्थान्कर्त्तव्यत्वेनोपदिष्टानपि वृत्त्युपायादीन् परित्यजेत्सर्वथैव जह्यात् । योहि-यथातथा कष्टेनापि स्वस्य, कुटुम्बस्य पुत्रकलत्रादेश्च निर्वाहं कुर्वन् स्वाध्यायरूपं परमं धर्मं न जहाति साह्यस्य कृतकृत्यताऽस्ति ॥

भा०—वेदस्याध्ययनमध्यापनं श्रवणं श्रावणं च सर्वद्विजार्थाणां परमो धर्मो योहि सांसारिकसुखलिप्सया तत्र विघ्नं करोति स स्वस्यैव भावि महत् कल्याणं निहन्ति ॥१७॥

भाषार्थः—(स्वाध्यायस्य विरोधिनः सर्वानर्थान् परित्यजेत्) वेद के पढ़ने पढ़ाने वेदीक्त धर्म के उपदेश रूप परमधर्म के विरोधी उस धर्म में विघ्न करने वाले अन्य धनोपार्जनादि कर्त्तव्यता से कहे कामों को भी सर्वथा ही छोड़ देवे जो पुरुष (यथातथा यापयंस्तु) जिस किसी प्रकार अपना वा स्त्री पुत्रादि का कष्ट से भी निर्वाह करता हुआ परमधर्म को नहीं छोड़ता (साह्यस्य कृतकृत्यता) तो

ही गृहस्थ ब्राह्मण का कृतार्थ हो जाना है । और धर्म कर लेना ही मुख्य कर वर्तमान में भी अधिक सुख का हेतु है ॥

भा०—वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना ही ब्राह्मणादि द्विज आर्यों का परमधर्म है जो पुरुष संसारी सुख भोग के लालच से उस परमधर्म में विघ्न करता है वह अपने ही होने वाले महत् सुख का नाश करता अर्थात् अपने पांव में कुल्हाड़ी मार कर आप ही पीड़ित दुःखित होता है ॥१७॥

**वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ॥
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेद्दिह ॥१८॥**

अ०—वयसो यौवनादेः कर्मणोऽध्यापनादेरर्थस्य धनस्य श्रुतस्य विद्वत्त्वस्याभिजनस्य कुलीनत्वस्य च वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्निह जगति विचरेत् । वेषादिसारूप्यस्य प्रत्येकेन वयआदिना सम्बन्धो योजनीयः ॥

भा०—वयआदिना वेषादिसारूप्यस्य लोकैरभिमतत्वाद् द्वेषाद्यभावेन सुखहेतुत्वाद् धर्मणा युज्यते तस्मात्तादृशमेवाचरणं धर्मानुकूलं विज्ञेयम् ॥ १८ ॥

भाषार्थः—(वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च) यौवन वृद्ध वा बीच की अवस्था, अध्यापन वा याजनादि प्रधान कर्म, अर्थ—धन, शास्त्र में प्रवेश और कुलीनता ये सब जिन २ (वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्निह विचरेत्) वेष, वाणी और बुद्धियों के चिह्नों से प्रकट हों वैसा ही वेषादि रखता हुआ इस जगत् में गृहस्थादि पुरुष विचरे ॥

भा०—यह कथन गृहस्थ से भिन्न के लिये भी सामान्य धर्म है । अवस्थादि के साथ अनुकूल वेषादि का होना लोगों को अच्छा लगने से किसी से द्वेषादि न हो कर सुख का हेतु होने से धर्म का साथी होता इस से वैसा ही आचरण करना धर्मानुकूल जानी अर्थात् युवावस्था में वृद्धों कासा वेष, वृद्ध कीसी, वाणी, वा बुद्धि रखना धर्म से विरुद्ध है तथा निर्धन होकर धनी कासा और धनी हो कर दरिद्र कासा वेष वाणी वा बुद्धि रखे तो यह भी धर्म से विरुद्ध काम है । क्योंकि उचित से विपरीत वर्त्ताव ही अधर्म है ॥ १८ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्यांश्च धन्यानि च हितानि च ॥
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥

अ०—वेदाविरुद्धानि सद्यः शुभवृद्धिवर्धकानि धन्यानि धनाय हितान्यर्थवेदाभिमुखानि हितान्यायुर्वेदादीनि च शास्त्राणि वेदार्थज्ञापकान् ब्राह्मणादिनिगमग्रन्थांश्च नित्यं स्नातकः प्रयत्नेन यथाकालं यथावकाशं चावेक्षेत ॥

भा०—नित्यं सच्छास्त्रावलोकनेन कर्त्तव्ये मनः समाधीयते तेन हृदि धर्मः सदैवोपचीयते ॥ १९ ॥

भाषार्थः—(आशु बुद्धिवृद्धिकराणि) शीघ्र ही अच्छे शुभ विचार को बढ़ाने (धन्यानि च हितानि च) अर्थत्रेद से संबन्ध रखने वाले जिन के अवलोकन से धर्मानुकूल धन प्राप्त कर सके तथा आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थ जिन से आरोग्यता द्वारा हित हो सके ऐसे (शास्त्राणि) शास्त्रों (च) और (वैदिकानेव निगमान्) वेद के आशय में निरन्तर प्रवेश कराने वाले वेद ही के व्याख्यानरूप ब्राह्मणादि ग्रन्थों को गृहस्थ (नित्यमवेक्षेत) नित्य २ देखा शोचा विचारा करे जिस से अभ्युदय निःश्रेयस की सिद्धि सुगम हो ॥

भा०—नित्य २ सत् शास्त्रों के अवलोकन से कर्त्तव्य में मन ठीक अचल-स्थिर होता जाता है । चक्र में घुमाने वाले सन्देह मिटते जाते हैं जिस से हृदय में धर्म का सदा संचय होता है ॥ १९ ॥

यथायथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथातथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥

[शास्त्रस्य पारं गत्वा तु भूयोभूयस्तदभ्यसेत् ।

तच्छास्त्रं शबलं कुर्यान्नचाधीत्य त्यजेत्पुनः ॥१॥]

अ०—पुरुषो यथायथा शास्त्रं सम्यगधिगच्छत्यभ्यस्यति

तथातथा तस्य मर्म विशेषेण जानाति विज्ञानं चास्य रो-
चते उज्ज्वलं प्रकाशितं भवति ॥

भा०-यद्यपि केचिज्जन्मान्तरीयशुद्धसंस्कारिणोऽल्पा-
भ्यासेनैव शास्त्रस्य यावन् मर्म विजानन्ति न तावन्मलिन-
संस्कारा दीर्घकालाभ्यासेनापि जानन्ति तथापि स्वल्पा-
भ्यासापेक्षया वेदादिशास्त्रस्याधिकाभ्यासः सर्वस्यैव विज्ञान-
नवर्धकः । रुचेरत्र रुच्यर्थाभावादेव सम्प्रदानसंज्ञाभावः ॥२०॥

भाषार्थः-(पुरुषो यथायथा हि शास्त्रं समधिगच्छति) गृहस्थादि पुरुष जैसा २
ही शास्त्र का वार २ अभ्यास करता उस के अभिप्राय को हृदय में बैठाता है (त-
थातथा विजानाति) वैसा २ उस को विशेष ज्ञान होता उस के मर्म को जानता
जाता (च) और (विज्ञानमस्य रोचते) इस को शास्त्र का बोध प्रसन्नता बढ़ाने
वाला होता क्योंकि उज्ज्वल शुद्ध निर्विकल्प बोध ही रुचि कहा जाता है ॥ [इसी के
आगेकिसी २ पुस्तक में (शास्त्रभ्यः) यह एक श्लोक और भी मिलता है जिसका अर्थ
है कि-किसी शास्त्र को आद्योपान्त पढ़के वार २ उसका अभ्यास आवृत्ति पारायण
करे तो उसका ठीक शुद्ध बोध निर्मल ज्ञान हो सकता है किन्तु गुरुमुख से पढ़
के उसका अभ्यास छोड़ न देवे] ॥

भा०-यद्यपि जन्मान्तर के अति शुद्ध संस्कारी कोई लोग थोड़ा अभ्यास करने से
भी शास्त्र का जितना मर्म जान लेते हैं, मलिन संस्कारी बहुत काल के अभ्यास से भी
उतना मर्म नहीं जान पाते। तथापि थोड़े २ अभ्यास की अपेक्षा से वेदादि शास्त्र
का अधिक २ अभ्यास सभी के लिये विशेष ज्ञान का बढ़ाने वाला माना जा-
यगा रुचि शब्द का अर्थ यहां निर्मलता है किन्तु अभिलाषा नहीं है ॥ २० ॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।

नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥२१॥

अ०-सर्वदा ऋषियज्ञं-ब्रह्मयज्ञं, देवयज्ञं-होमं, भूतयज्ञं-
वैश्वदेवं, नृयज्ञमतिथिपूजनं, पितृयज्ञं-पितृपदवाच्यानां वि-
प्राणां श्राद्धेन पूजनं यथाशक्ति न हापयेत्त्यजेत् ॥

भा०—विहितानामपि पञ्चयज्ञानां पुनरुपादानमुत्तरार्थं
तेनोक्तप्रकारेण वक्ष्यमाणप्रकारेण वा कार्या एव । रोगा-
दिना कर्तुमशक्तदशां विहायान्यदा न त्याज्याइत्याशयः ॥

भाषार्थः—(ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा) सन्ध्योपासन वेदाध्ययन,
अग्निहोत्र, वैश्वदेव, (नृत्यज्ञं पितृयज्ञं च) अतिथिपूजन, पितृयज्ञ पितृपदवाच्य
ब्राह्मणों का आहु द्वारा पूजन इन पञ्च सहायज्ञों को गृहस्थ सदा करे (यथा-
शक्ति न हापयेत्) यथाशक्ति कभी न त्यागे अर्थात् साधारण रोगों में भी जब
तक शरीर में शक्ति रहे तब तक करता ही रहे ॥

भा०—पञ्चमहायज्ञों के नित्य करने की आज्ञा गृहस्थ के लिये पूर्व आ चुकी थी
तो भी आगे विशेष व्याख्यान दिखाने के लिये फिर कहते हैं । इस से उक्त प्रकार
अथवा आगे कही रीति से किसी प्रकार अवश्य करना दिखाया है । रोगादि के
कारण अशक्त दशा को छोड़ कर अन्य समय कभी कोई मरण पर्यन्त भी न छोड़े ।
संन्यास आश्रम में केवल महायज्ञों का प्रकार बदल जाता है ॥ २१ ॥

एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥
वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा ।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥
ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा ।
ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा
॥ २२—२४ ॥

अ०—यज्ञशास्त्रतत्त्वज्ञाः केचिद्बहिरङ्गप्रकारेण महाय-
ज्ञानुष्ठानमनीहमाना अकुर्वाणा एतान् महायज्ञान्सततमि-
न्द्रियेष्वेव जुह्वति । केचिद्वाचि वेदाध्यापनोपदेशाध्ययनज-

पादिवाक्कर्मसु निरन्तरं प्रवृत्ता वाचि प्राणक्रियां जुह्वति ।
 एवं प्राणनिरोधकाले स्वप्नसमये वा प्राणे वाचमन्त्रयां यज्ञ
 सिद्धिं वाचि प्राणे च पश्यन्तो जुह्वति । अतोऽप्यपरे विप्रा
 ज्ञानचक्षुषैषां ज्ञानमूलां क्रियां पश्यन्त एतैर्मखैर्महायज्ञैः सदा
 ज्ञानेनैव यजन्ति । तदा चाविद्यादिदोषा ज्ञानाग्नौ हूयन्ते ॥

भा०—इत्थं पञ्चयज्ञानां त्रिधानुष्ठानमुपपन्नं बाह्यमे-
 कमाध्यात्मिकं च द्विविधम् । वाक्प्रवृत्तौ प्राणश्वासः स्वत-
 एव निरुद्धव जायते तस्मादेव प्राणसाध्यं दर्शनादिकं न कर्तुं
 शक्नोति । एवं च प्राणक्रियातत्परो न भाषते । एकस्य शक्ति-
 रित्यत्र हूयते तथाऽऽममनसोरेव संयोगेन तत्त्वालोचने रत-
 श्च न चेष्टते न पश्यति न च भाषतेऽपितु तदानीं सर्वाः शक्तयो
 ज्ञाने हूयन्ते सएव ज्ञानयज्ञ उच्यते । यतो ज्ञानमन्तरेण न
 किमपि बाह्यं कर्म केनापि कर्तुं शक्यते । स्वापकाल उन्माद
 दशायां वाऽविचारेण या चेष्टा सातु नात्र यज्ञादिकर्मण्य-
 न्तर्भवितुमर्हति । वायुरेव तस्यास्तृणादाविव कारणम् ।
 ज्ञानस्य प्राधान्यान्मूलत्वाच्च तदधीनां महायज्ञाः सर्वापे-
 क्षयाऽप्यत्युत्तमा बोध्याः । यथा कश्चित्कस्मैचित्किमपि
 ददाति कदापि कस्याप्युपकारं करोति न च सर्वदा परोप-
 कारं कोऽपि कर्तुमर्हति स्वोपकारमन्तरेण परोपकारास-
 म्भवात् । यश्चान्येषां हितमेव चिन्तयति न कस्याप्यहितं
 स च दात्राद्यपेक्षया श्रेष्ठएव । एवं च कस्याप्युपरिष्ठादप-
 कारापेक्षया मनसाऽनिष्टचिन्तको महानीचः पापिष्ठइति ।
 एतेनापि ज्ञानयज्ञस्य सर्वापेक्षया प्राधान्यम् । हस्तपादादि-

ना रक्षाशौचादिरूपा यमादिसंबद्धा महायज्ञक्रिया तृतीया कोटिः, वाचा प्राणैश्च जपप्राणायामादिका क्रिया प्राणायामप्रत्याहारसंबद्धा मध्यमपुण्यहेतुका, धारणाध्यानसमाधिसम्बद्धा प्रथमा मुख्योत्तमा धर्मकोटिः । एवरीत्यैव योगसाधनादिरूपाण्यहिंसादिकर्माणि ज्ञानोत्पत्तेः कारणान्यभ्युदयनिःश्रेयससुखयोर्हेतूनि विज्ञेयानि ॥ २२-२४ ॥

भाषार्थः—(यज्ञशास्त्रविद् एते जना एतान्महायज्ञाननीहमानाः) यज्ञों की शिक्षा के तत्त्व-मर्म को जानने वाले कोई २ महात्मा लोग इन पांच महायज्ञों को तृतीयाध्याय में कही प्रसिद्ध रीति से शरीर के द्वारा न करते हुए (इन्द्रियेष्वेव सततं जुह्वति) इन्द्रियों में ही इन्द्रियों का निरन्तर होम करते हैं [अर्थात् यज्ञों के मर्म को कोई २ बड़े ज्ञानी ही जान पाते हैं किन्तु सब कोई नहीं और जो लोग मर्म को जान लेते, वे ही इन्द्रियों वा अन्तःकरणमात्र में यज्ञ कर सकते हैं । और इन महायज्ञों का भीतरी मर्म यह है कि १-ऋषिपन वा ब्रह्मपन, २ देवपन, ३ पितृपन, ४-मनुष्यपन और ५-भूतपन स्थूल सूक्ष्म रूप से ब्यून वा अधिक सर्वत्र विद्यमान हैं उसी ऋषिपन आदि का यज्ञ नाम ठीक सुधार शुद्ध दशा [अच्छीहालत] रूप पूजन करना यही ऋषियज्ञ है क्योंकि ऋषिपूजन ऋषियज्ञ एक ही बात है । यज्ञ का अर्थ पूजा ही है । उसी ऋष्यादिपन के बाह्याभ्यन्तर ठीक संशोधन रूप पूजन से मनुष्य के संसार परमार्थ दोनों बन जाते हैं । इन का ठीक २ कर चुकना ही तीन ऋणों का चुका देना है यही मुक्ति है । सो प्रथम २ सीढ़ी के द्वारा ही जैसे अगली २ सीढ़ी पर पहुँचना हो सकता है । और जैसे बाह्य शुद्धि आभ्यन्तर शुद्धि का कारण है कोई पुरीषागार [पाखाने] में बैठा हुआ अपने भीतर को शुद्ध इस लिये नहीं रख सकता कि बाहर से श्वासादि द्वारा दुर्गन्ध युक्त तत्त्वों के अंश भीतर पहुँच कर अशुद्धि करेंगे । सो जैसे बाह्य अशुद्धि भीतरी अशुद्धि का कारण होती वैसे बाह्य शुद्धि भीतरी शुद्धि का कारण जानो । इसी प्रकार बाह्य पांच महायज्ञों का सेवन भीतरी महायज्ञों का हेतु होगा । अग्नि के साथ ऋषिपन, वायु के साथ देवपन जलों के साथ पितृपन और पृथिवी के साथ मनुष्यपन तथा भूतपन का प्रधान सम्बन्ध है, सो जहां २ जैसा २ स्थूल सूक्ष्म ऋषि आदि पन विवक्षित है वहां वेदादि में अग्नि आदि को

ऋषिआदि कहा है “(अग्निर्ऋषिः पवमानः ऋ०) (चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः । ब्राह्मणैः) इत्यादि] (एके वाचि प्राणं जुह्वति) कोई लोग वाणी के पढ़ाना वा धर्मोपदेश रूप यज्ञ वा जप पाठ करने आदि निरन्तर कर्मों में प्रवृत्त हुए वाणी में प्राण का होम कर देते अर्थात् देखने सूंघने आदि प्राण के कामों को वाणी के प्रवाह में ही झोंक देते उन को भूल जाते हैं (प्राणो वाचं च सर्वदा) इसी प्रकार प्राण को रोकने के समय वा स्वप्नादि में मौन हो जाने के समय वाणी की शक्ति का प्राण सम्बन्धी इन्द्रियों में होमकर देते हैं तब राग द्वेष रहित सामान्य देखना सुनना रह जाता है (अक्षयां यज्ञनिर्वृत्तिं वाचि प्राणो च पश्यन्तः) वाणी तथा प्राण में होम करने से हुई अत्यन्त काल तक ठहरने और अविनाशी सुख की देने वाली यज्ञ के फल की सिद्धि को ज्ञानदृष्टि से देखते हुए । (एषां ज्ञानमूलां क्रियां ज्ञानचक्षुषा पश्यन्तोऽपरे विप्राः) तथा इन महायज्ञों की क्रिया का मूल कारण ज्ञान ही है ऐसा ज्ञान चक्षुओं से देखते हुए कोई २ और भी बड़े महात्मा (एतैर्मखै-
श्चानेनैव सदा यजन्ति) केवल ज्ञान के द्वारा ही सदा इन महायज्ञों को करते हैं अर्थात् पहिली दो कक्षाओं से उत्तीर्ण हो कर तीसरी सर्वोत्तम कोटि में पहुंच जाते हैं ॥

भा०-इस उक्त प्रकार पञ्चमहायज्ञों का तीन प्रकार से करना सिद्ध हुआ जिन में एक बाहिरी और दो प्रकार का भीतरी, व्याख्यान वा लगातार वेदपाठादि के समय प्राण का श्वास स्वयमेव रुकसा जाता है । इसी लिये विचार पूर्वक पाठादि करने के समय प्राण से होने वाला देखनादि काम ठीक वा प्रधान नहीं होता । इसी प्रकार प्राण की क्रिया श्वास फेंकने वा रोकने समय वा विचार पूर्वक देखने आदि के समय बोल नहीं सकता एक की शक्ति अन्य में होम करदी जाती है । तथा आत्मा और मन के ही केवल संयोग से तत्त्वलोचन करने वा किसी भीतरी विचार में लगा हुआ न हाथ पांव चलाता न देखता तथा न कुछ बोल सकता है किन्तु उस समय विचार रूप ज्ञान में सब शक्तियों का होम हो जाता है । उसी को ज्ञानयज्ञ कहते हैं क्योंकि जिस कारण समझे विना किसी बाहिरी काम को कोई भी नहीं कर सकता । सोते समय वा पागल दशा में विना विचार जो हाथ पांव आदि की चेष्टा होती है वह यज्ञ के अन्तर्गत नहीं है क्योंकि भीतरी सूक्ष्म ज्ञान के वहां कारण होने पर भी प्रमाद [विहोशी] की प्रबलता से जड़ वृणादि हिलने के समान केवल वायु ही उस चेष्टा का कारण है । ज्ञान के मूल तथा प्रधान होने से ज्ञान के आधीन सिद्ध होने वाले महायज्ञ सब

की अपेक्षा अत्युत्तम हैं । जैसे कोई किसी को कभी २ कुछ देता वा कभी किसी का उपकार करता है किन्तु सर्वकाल में कोई परोपकार नहीं कर सकता क्योंकि अपना उपकार हुए विना परोपकार ही ही नहीं सकता । और जो अन्य सर्व साधारण का हित ही शोचा करता है किन्तु किसी का अहित नहीं शोचता वह हाथ से देने वाले आदि की अपेक्षा श्रेष्ठ ही है । प्रयोजन यह है कि जिस के हृदय में परोपकारादि धर्म है वह प्रायः हाथ आदि से कम भी करे तो भी जिस के हृदय में नहीं केवल लोक में प्रतिष्ठादि के लिये थोड़ा दानादि देकर अधिक प्रशंसा का उपयुक्त करता है उस की अपेक्षा उस से फिर भी दानादि धर्म अधिक ही होगा । इस से ज्ञानयज्ञ ही सर्वोत्तम ठहरता है । इसी प्रकार ऊपर से किसी का अपकार कर देने की अपेक्षा भीतर से जो सदा ही अन्यों के अनिष्ट चिन्तन में रहता धीरे २ दूसरे के हित की जड़ काटा करता है वही महापापी महानीच है तो भीतरी पाप अन्य पापों से बड़ा होने से भी ज्ञानयज्ञ की उत्तमता सिद्ध हो गयी । हाथ पांव आदि से किसी की रक्षा वा शरीरशुद्धि आदिरूप यमनियम आदि से सम्बन्ध रखने वाली महायज्ञों की क्रिया स्थूल कोटि की है । वाणी और प्राण से सम्बन्ध रखने वाले जप, शुभ दर्शनादि वा प्राणायाम सम्बन्धी क्रिया मध्यम पुण्य का हेतु महायज्ञों की द्वितीय कोटि है । और धारणाध्यान समाधि से सम्बन्ध रखने वाले महायज्ञों की क्रिया सूक्ष्म धर्मकोटि है इसी का नाम ज्ञानयज्ञ है, पञ्चमहायज्ञादि कर्म, धर्म तथा यमनियमादि योगाङ्ग ये सब एक ही हैं । इसी रीति से योग साधनादिरूप अहिंसादि कर्म ज्ञानोत्पत्ति के कारण तथा अभ्युदय निःश्रेयस दोनों प्रकार के सुख के हेतु होते जानो ॥२२-२४॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।

दर्शनं चार्द्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥२५॥

अ०—द्युनिशोराद्यन्ते सदा प्रतिदिवसमग्निहोत्रमपि जुहुयादार्द्धमासान्ते च दर्शष्टिविधिना मासान्ते च पौर्णमासेष्टिविधिना प्रतिमासं जुहुयात् ॥

भा०—ब्रह्मचर्याश्रमे ब्रह्मयज्ञस्य सर्वापरि प्राधान्यं गृहाश्रमे त्वग्निहोत्रस्यापि तद्देव प्राधान्यं विज्ञेयमिति ज्ञा-

पधितुमग्निहोत्रानुवादे नत्वपूर्वा विधिः ॥२५॥

भाषार्थः—गृहस्थ पुरुष (द्युनिशोराद्यन्ते सदाऽग्निहोत्रं च जुहुयात्) दिन के आरम्भ और दिन के अन्त में तथा रात्रि के आदि और रात्रि के अन्त में सध्यांश तथा सन्ध्या के समय में सदा प्रतिदिन अग्निहोत्र भी किया करे । (अर्द्धमासान्ते दर्शने च) अमावास्या और प्रतिपदा की सन्धि में दर्शष्टि पद्धति के अनुसार (पौर्णमासेन चैव हि) और महिने के अन्त पौर्णमासी प्रतिपदा की सन्धि में पौर्णमासेष्टि विधि से प्रतिमास यज्ञ करे ॥

भा०—ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मयज्ञ का सेवन विशेष कर करना सर्वोपरि उत्तम है परन्तु गृहाश्रम में ब्रह्मयज्ञ के समान वा उस से भी अधिक अग्निहोत्र नामक देवयज्ञ का करना आवश्यक और प्रधान है यही जताने के लिये अग्निहोत्र का अनुवाद यहां किया है किन्तु अपूर्व विधान नहीं है ॥ २५ ॥

सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः ।

पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥२६॥

अ०—द्विजो ब्राह्मणादिः स्नातकः सस्यस्यान्ते समीपे पक्के नवान्नेन नवस्येष्ट्या तथा—ऋत्त्वन्ते द्वयोर्ऋत्वोः सन्धावध्वरैस्तत्कालशाकफलमूलादिभिरयनस्य संवत्सरस्यादौ पशुना पशुविकारेण घृतादिना वर्षान्ते च कार्त्तिक्यां सौमिकैः सोमतत्त्वप्रधानद्रव्यसाधनैर्मखैर्यज्ञैर्जुहुयादिति पूर्वश्लोकादनुवर्त्तनीयम् ॥

भा०—अत्र साधनद्रव्यप्रधानानि नवसस्येष्ट्यादियज्ञनामानि । कदा केन यज्ञः कार्यइति कालेन साकं साधनद्रव्यप्रतिपादने ग्रन्थकर्त्तुस्तात्पर्यम् । तत्रापि पशुविकारघृतादेः सामान्येन सर्वत्र सत्त्वेऽपि तस्यतस्य तदातदा प्राधान्यं विवक्षितं बोध्यम् । पशुनेति पदेन ये तन्मांसहोममिच्छ-

न्ति तैरपि तद्विकारोऽवयवो वा कल्पनीयो भवति तस्माद्
हिंसादिदोषरहितस्य घृतादिविकारस्य कल्पनं सर्वथैव ध-
र्मशास्त्रानुकूलमस्ति मांसकल्पने च हिंसादोषः ॥२६॥

भाषार्थः—(द्विजः सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या) ब्राह्मणादि स्नातक गृहस्थ खेती
पकने के समीप [फसल में] नवीन पके अन्न से नवसस्येष्टि (तथर्त्वन्तेऽध्वरैः)
तथा ऋतु २ के आदि अन्त में उस २ ऋतु के फल मूल शाकादि से अध्वर नामक
यज्ञ (अयनस्यादौ पशुना तु) संवत्सर के आरम्भ में गौ आदि पशु से उत्पन्न हुए
घृतादि से आघ्रायणेष्टि यज्ञ और (समान्ते सौमिकैर्मखैः) और वर्षान्त कतिकी के
समीप सोमतत्त्व प्रधान कुमुदिनी कमलादि से होने वाले यज्ञ करे पूर्व श्लोक से
यहां (जुहुयात्) की अनुवृत्ति लानी है ॥

भा०—यहां होम के साधन द्रव्यों की प्रधानता दिखाने वाले नवसस्येष्टि
आदि यज्ञों के नाम हैं । जिस से यह विधि वा आज्ञा सिद्ध हो जाती है कि
अमुक २ समय अमुक २ द्रव्यों से यज्ञ करे । काल के साथ साधनरूप हविष्यद्रव्यों
का विधान दिखाने में ग्रन्थकार का तात्पर्य है । उस में पशु के विकाररूप घृ-
तादि के सर्वत्र होने पर भी उस २ वस्तु की उस २ समय प्रधानता विवक्षित क
ही जानो । जो लोग पशुना इस पद से पशु के मांस का होम करना चाहते हैं
उन को भी पशुपद का अर्थ उस का विकार नाम मांस करना ही होगा । इस
लिये पशु का विकार जो हिंसादि दोष से रहित हो उसीकी कल्पना करना धर्म
शास्त्र के सिद्धान्त के अनुकूल है और मांस का ग्रहण करने में हिंसादोष को कोई
बचा नहीं सकता इस से वह कल्पना शास्त्र विरुद्ध है ॥ २६ ॥

[नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विजः ।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ नवेनानर्चिता
ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः । प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवा-
न्नामिषगर्द्दिनः ॥ २७ । २८ ॥]

अ०—अग्निमानाहिताग्निर्दीर्घमायुर्जिजीविषुर्द्विजो न-
वसस्येष्ट्या पशुना चानिष्ट्वा नवान्नं मांसं वा नाद्यात् ॥

नवेनान्नेन पशुहव्येन चानर्चिता नवान्नामिषगर्धिनो ह्य-
ग्नयोऽस्य यज्ञमकुर्वतो गृहस्थस्य प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति ।
तस्मादुक्तविधिना यज्ञः कार्यः ॥

भा०-पूर्वाक्तश्लोकद्वयोक्तविधयोरर्थवादोऽयं निन्दारू-
पः । पशुहव्यपदेनात्र घृतादेर्ग्रहणं सम्भवति तच्च पशुनेति-
तृतीयानिर्दिष्टपदस्य व्याख्यानं बोध्यम् । यदि चैवं स्प-
ष्टमेव पशुपदेन पशुसम्भूतं घृतादिकमेव ग्रन्थकर्त्तुरिष्टं
तदा च मांसं वेत्यस्य नास्ति कोऽपि प्रसङ्गः । एवं च य-
दि-“नवान्नमद्याद्दुग्धं वा” इत्ययं ग्रन्थानुकूलः साधुः पाठः
स्यात् तदा नास्त्यसम्भवम् । पशुपदेन केनचिन्मांसस्य ग्र-
हणं कल्पयित्वा दुग्धस्थाने मांसपदस्य परिवर्तनं कृतं चे-
दिति सम्भवति । एवं चार्थवाद्द्वयस्य सम्यक्त्वं
सम्भवति । तथापि विचारकोटौ श्लोकाविमौ स्थाप्यौ सा-
ध्यत्वादेव । गृहादिषु व्याप्ता अग्नयो घृतनवान्नादिपुष्टसुग-
न्धिपदार्थहोमैः सम्यक् शुद्धा जीवनहेतवः सम्पद्यन्ते । तएव
तादृशपदार्थहोमेन विना दुर्गन्धादियुक्ताः प्राणिघातहेतुका
भवन्ति । यो हि यमवाप्य वर्द्धते प्रसीदति प्रज्वलति वा स
तमेव पदार्थमिच्छति । यथा पृथिव्युदकमिच्छति । एवं ता-
त्पर्यबोधेन जडवस्तुष्वपीच्छाप्रयोगो नायुक्तः ॥२८॥

भाषार्थः-(अग्निमान् दीर्घमायुर्जिजीविषुर्द्विजो नवसस्येष्ट्या पशुना चानि-
ष्ट्वा) विधि पूर्वक अग्निहोत्र का जिस ने आरम्भ वा स्वीकार किया हो ऐसा
दीर्घायुपर्यन्त जीवन की इच्छा रखने वाला गृहस्थ ब्राह्मणादि नवीन अन्न से तथा
पशु साधन से यज्ञ न करके (नवान्नं मांसं वा नाद्यात्) नये अन्न और मांसको
न खावे (नवेन पशुहव्येन चानर्चिता नवान्नामिषगर्धिनोऽग्नयः) नये अन्न और

पशु सम्बन्धी हविष्य से पूजित वा तृप्त न हुए नया अन्न और आमिष खाने की इच्छा वाले अग्नि (अस्य प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति) इस गृहस्थ के प्राणों को ही खा जाना चाहते हैं । इस कारण उक्त विधि से यज्ञ करना चाहिये ॥

भा०—पूर्वाक्त दो श्लोकों में कही विधियों का यह निन्दारूप अर्थवाद है । पशुहव्य कहने से यहां घृतादि का ग्रहण होना अच्छा सम्भव प्रतीत होता है । हव्यपद से मांस का ग्रहण कोशादि से भी सिद्ध नहीं है । सो यह पूर्व कहे पशुना इस तृतीयाऽन्तपद का व्याख्यान माना जायगा । ऐसे यदि स्पष्ट ही पशुपद से घृतादि का ग्रहण ग्रन्थकार को भी इष्ट है तो (मांसं वा) कहने की प्राप्ति ही नहीं । इस प्रकार यदि “ नया अन्न और दुग्ध न खावे ” ऐसा ग्रन्थ के सिद्धान्तानुकूल ठीक पाठ हो तो असम्भव वा आश्चर्य नहीं है । इस देश में अनुमान होता है कि किसी ने पशुपद से मांस की कल्पना करके दुग्ध के स्थान में मांसपद बदला होगा । इस प्रकार अर्थवाद रूप ये दोनों श्लोक ठीक निर्विवाद माननीय ठहर सकते हैं । तो भी साध्य होने से ये दोनों श्लोक विचारकोटि में रखने योग्य ही हैं । घर आदि में व्याप्त अग्नि घृत वा नवीन अन्नादि पुष्ट सुगन्ध पदार्थों के होमों से सम्बन्ध शूद्र जीवन के हेतु हो जाते हैं वेही वैसे पदार्थों का होम मिले विना दुर्गन्धादि युक्त हुए प्राणियों के घातक होते हैं जो जिस को पाकर बढ़ता प्रसन्न वा प्रज्वलित होता वह उसी पदार्थ को चाहता है जैसे पृथिवी जल चाहती इस प्रकार तात्पर्य बोध होने से जड़ वस्तुओं में इच्छा का प्रयोग अयुक्त नहीं है ॥२८॥

आसनाशनशय्याभिरङ्घ्रिर्मूलफलेन वा ।

नास्य कश्चिद्वसेद्देहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः

अ०—आसनं कुशादिमयमशनं भोजनं शय्या सुखेन शयनाय सविस्तरा खट्वादिका ताभिर्विशिष्टभोजनाभावे मूलफलादिना तदभावेऽपि केवलेनोदकेन वा शक्तितो यथा-शक्ति कोऽप्यनऽर्चितोऽतिथिरस्य स्नातकगृहिणो गेहे न वसेदपित्वर्चितएव वसेत् ॥

भा० विहितस्याप्यतिथियज्ञस्य गृहाश्रमनियमेषु त-

स्यावश्यकत्वं प्राधान्यं चानुवादेन ज्ञाप्यते । शक्तिपदेना-
र्चासाधनानि वस्तूनि सूच्यन्ते यादृशानि स्वस्य साधना-
नि तेषु न किमप्युत्कृष्टं साधनं स्वसुखाय रक्षयेत् । नापि
तत उत्कृष्टसाधनसाध्यापेक्षया सन्निहितसाधनजन्यां पूजां
हीनां मत्वा शोकातुरो भूत्वाऽकृतामिव मन्येत तेन धर्मो
हीयते तस्माद् यथोचितकरणमेव धर्मः ॥२६॥

भाषार्थः—(आसनाशनशय्याभिः) बैठने का कुशादि निर्मित आसन, भोजन और
सुख से सोने के लिये बिछोना सहित खटिया आदि से तथा विशेष उत्तम भोजन
प्राप्त न हो सकने पर (मूलफलेनाद्धिर्वा) फल मूलों से उन के भी न मिलने पर
केवल जल से (शक्तितः कश्चिदनर्चितोऽतिथिरस्य गेहे न वसेत्) अपनी शक्ति के
अनुसार आदर सत्कार न किया कोई अतिथि इस गृहस्थ के घर पर न वसे । इसका
अभिप्राय यह नहीं कि अतिथि की पूजा भी न करे और वसने भी न देवे किन्तु
यथाप्राप्त सामग्री से सत्कार किया हुआ ही अतिथि गृहस्थ के घर पर वसे विना
सत्कार पाये कदापि न पड़ा रहे यह गृहस्थ का एक मुख्यधर्म है कि अपने यहां
आये का सत्कार अवश्य करे ॥

भा०—अतिथियज्ञ का विधान हो चुका है उसकी गृहाश्रम में विशेष आव-
श्यकता और प्रधानता दिखाने के लिये यहां अनुवाद किया है । तथा शक्ति शब्द
से सत्कार के साधन भोजनादि वस्तुओं की सूचना है । जैसे अपने साधन हैं
उन में से किसी उत्तम वस्तु को अपने सुख के लिये न रख छोड़े कि जो अतिथि
को न देवे । और उस से उत्तम सामान से होने वाली पूजा की अपेक्षा अपने
समीपस्थ साधनों से होने वाली पूजा को तुच्छ मान शोकातुर हो सेवा को न की
के तुल्य भी न माने अर्थात् दुःखित न होवे क्योंकि इस से धर्म घटता है इस
लिये यथोचित करना ही धर्म है ॥ २६ ॥

**पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकाञ्छठान्
हेतुकान् वकवृतींश्चवाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्३**

अ०—अतिथिवदकस्मात्पूजां प्राप्नुमागतान् वेदबाह्य-

लिङ्गव्रतधारिणश्चक्राङ्कितादीन् प्रतिषिद्धवृत्तिजीविन आ-
श्रमधर्महीनान् विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् १९५ पद्ये वक्ष्य-
माणान् शठान् कुटिलहृदयानुपरिष्ठात्प्रियभाषिणोऽपि वेद-
मश्रद्धानान् हेतुकान् वेदविरुद्धतर्कप्रधानान् वेदसिद्धान्त-
मज्ञात्वा वेदाशयप्रकाशमिषेण जीवतो वकवृत्तीन् १९६ पद्ये
वक्ष्यमाणानतिथ्याभासान् वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् । न
सत्कुर्यान् नायमतिथियज्ञः ॥

भा०—अतिथिपूजनं धर्मान्नतये धर्मिष्ठार्चनेन धर्मान्नतिः
सम्भवति । धर्मविरुद्धाधर्मिणोऽर्चनेन भुजङ्गस्य पयःपान-
वदधर्मस्यैवोन्नतिसम्भवात् प्रतिषिद्धमीदृशानामर्चनम् । स-
र्वान्यसत्कारसाधनाभावे सर्वदोषरहितवाचाऽपि सुहृदां पू-
जनावश्यकत्वं शास्त्रेषूक्तं तदपि न तत्र कार्यम् ॥३०॥

भापार्थः—अतिथि के तुल्य अकस्मात् भोजनादि द्वारा सत्कार मिलने की इच्छा
से आये (पाषण्डिनो विकर्मस्थान्) वेद से विरुद्ध वेषधारी चक्राङ्कितादि पा-
षण्डी तथा धर्म विरोधी कर्मों द्वारा जीविका करने वा आश्रम धर्मों पर न चलने
वाले (वैडालव्रतिकान्) विलाई कासा नियम वा विचार रखने वाले जो बड़ी
सावधानी वा चतुराई से अन्यो का माल मारते हों जिन का विशेष वर्णन इसी
अध्याय के १९५ वें श्लोक में किया है (शठान्) ऊपर से प्रिय कोमल भाषण में
तत्पर भीतर हृदय से कुटिलता को धारण करने वाले वेद पर जिन की अट्टा
नहीं होती (हेतुकान्) वेद के सिद्धान्तसे विरुद्ध तर्क पर सवार, वेद के सिद्धान्त
को न जान कर भी जीविका के हेतु से वेद के आशय का प्रकाश करने को प्रवृत्त
होने वाले और (वकवृत्तीन्) इसी अध्याय के १९६ वें श्लोक में जिन का विशेष
वर्णन है ऐसे नाम मात्र ब्राह्मण वा पण्डित कहाने वाले धूर्तों का (वाङ्मात्रेणापि
नार्चयेत्) वाणीमात्र से भी आदर सत्कार गृहस्य पुरुष न करे क्योंकि ऐसों का
पूजन अतिथियज्ञ नहीं कहावेगा ॥

भा०—अतिथि पूजन धर्म की उन्नति के लिये है सो धर्मात्माओं के पूजन से
धर्म की उन्नति हो सकती है । तथा धर्म से विरुद्ध चलनेवाले अधर्मियों के पूजन

से सांप को दूध पिलाने के समान अधर्म वा दुःख की ही उन्नति का सम्भव होने से वैसे के पूजन का निषेध किया है। सत्कार के लिये भोजनादि सब सामग्री के प्राप्त न होने पर भी शुद्ध हृदय वालों का केवल वाणी से भी पूजन करना आवश्यक माना है। सो पाषण्डी आदि का वह भी न करना चाहिये ॥ ३० ॥

**वेदविद्याव्रतस्नाताञ्छ्रोत्रियान् गृहमेधिनः ।
पूजयेद्द्रव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥३१॥**

अ०-नियमधर्मेण वेदविद्यां प्राप्य ब्रह्मचर्यव्रतानि च समाप्य स्नातान् समावृत्तान् यद्वा ब्रह्मचर्याश्रमव्रतानुष्ठान-मन्तरेणापि येन केनापि संस्कारप्रावल्यादिना श्रोत्रियान् वेदमर्मज्ञान् वेदगूढाशयज्ञाने प्रसिद्धान् गृहमेधिनो गृहपा-वकान् हव्यकव्येन देवपितृयज्ञसाधनेन पूजयेद्विपरीतांश्चा-ङ्गहीनादीन् तृतीयाध्यायोक्तानपि वर्जयेत् ॥

भा०-वेदविद्ब्रह्मधर्मात्मपूजनेन विद्याधर्माविव पूजयेते । यतो गुणात्वात्सुपात्रद्रव्यएव तयोः स्थितिः । विपरीतपदेन सर्वेषामेव वर्ज्यानां सामान्येन ग्रहणमुचितं विशिष्टानां के-पांचिद्ग्रहणे हेत्वभावात् ॥ ३१ ॥

भाषार्थः-(वेदविद्याव्रतस्नातान् श्रोत्रियान् गृहमेधिनः) पूर्ण नियमों वा धर्मों के साथ वेद विद्या को पढ़ जान के तथा ब्रह्मचर्याश्रम के व्रतों को समाप्त करके समावर्त्तन स्नान किये अथवा ब्रह्मचर्याश्रम के व्रतों का सेवन किये विना भी जिस किसी पूर्व संस्कारों की विशेष प्रबलता वा शुद्धतादि के कारण वेद का मर्म जानने में तत्पर वेद का गूढाशय जानने वालों में प्रसिद्ध घर की पवित्र क-रने वाले शुद्ध हृदय के धर्मात्मा विद्वानों का (हव्यकव्येन) देवयज्ञ और पितृयज्ञ के साधनों द्वारा (पूजयेत्) पूजन करे (विपरीतांश्च वर्जयेत्) और विपरीतों नाम वेदविद्यादि शुभगुणों से रहितों वा तृतीयाध्याय में कहे अङ्गहीनादि को भी वर्जन कर देवे उन का कभी सत्कार न करे ॥

भा०-वैश्वेत्ता धर्मात्माओं के पूजन से विद्या और धर्म की ही पूजा होती है जिस कारण विद्या और धर्म गुण हैं इस कारण सुपात्र में ही विद्या धर्म दोनों एक साथ ठहरते हैं। और यहां विपरीत कहने से वर्जनीय सभी का ग्रहण जानो क्योंकि किन्हीं विशेषों के ग्रहण में कोई हेतु नहीं है ॥ ३१ ॥

**शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ।
संविभागश्च भूतेभ्यः कर्त्तव्योऽनुपरोधतः ॥३२॥**

अ०-गृहमेधिना गृहिणीसङ्गिना पुरुषेण ब्रह्मचार्या-
द्यपचमानेभ्योऽपचनशीलेभ्यो भिक्षान्नं दातव्यम् । पुत्र क-
लत्रादिनिर्वाह उपरोधमकृत्वा भूतेभ्योऽपि संविभागः क-
र्त्तव्यो वैश्वदेवाख्यो यज्ञोऽपि कर्त्तव्यः । न्यूनान्ने न्यूनोऽधि-
कान्नेऽधिको मध्यदशायां च मध्यम इति ॥

भा०-अयमपि गृहस्थाश्रमे प्राधान्येन कर्त्तव्यत्वप्रद-
र्शनार्थ एवोक्तस्य भूतयज्ञस्यानुवादः ॥ ३२ ॥

भाषार्थः-(गृहमेधिना) स्त्री के साथ रहने वाले गृहस्थ पुरुष को चाहिये कि (अपचमानेभ्यः शक्तितो दातव्यम्) स्वयं भोजन न पकाने वाले ब्रह्मचारी वा संन्यासियों को पकाये अन्न की भिक्षा दिया करे (अनुपरोधतो भूतेभ्यः संविभा-
गश्च कर्त्तव्यः) स्त्री पुत्रादि को भूखे न रखकर तृतीयाध्यायमें कहे अनुसार वैश्वदेव नामक भूतयज्ञ भी गृहस्थ कियाकरे। अर्थात् वैश्वदेव सम्बन्धी बलिकर्म अन्न जैसा न्यूनधिक हो वैसाही करे ॥

भा०-पूर्व तृतीयाऽध्याय में विधान किये भूतयज्ञ को गृहस्थ अवश्य करे ऐसी गृहस्थाश्रम में प्रधानता दिखाने के लिये अनुवादमात्र कथन है अपूर्व नहीं ॥३२॥

**राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा ।
याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः ३३**

अ०-स्नातकी विप्रः क्षुधा संसीदन् राजतो याज्यान्ते-

वासिनोर्वापि धनमन्विच्छेत् । अन्यतः शूद्रादेर्नच्छेदिति
प्रधाना धर्मस्थितिः ॥

भा०-सर्वतः प्रतिगृह्णीयादितित्वापत्कालिकं वचस्त-
त्राप्युत्कृष्टालाभेऽवकृष्टास्त्याज्या भविष्यन्त्येव । न राज्ञः
प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितं इति वक्ष्यति । तस्मात्प्रजा-
नामपीडको धार्मिकः क्षत्रधर्मं रतएवात्र जनो राजपदवा-
च्यो विज्ञेयः । यः क्षुधा सीदति नासौ धर्ममनुष्ठातुं शक्नो-
ति यश्चोत्तमभोगासक्तस्तस्माद् धर्ममिच्छतोभयं त्याज्यम् ३३

भाषार्थः-(स्नातकः क्षुधा संसीदन्) स्नातक गृहस्थब्राह्मण भूख. से दुःखी हो,
भूखों मरता हो तो (राजतो याज्यान्तेवासिनोर्वापि धनमन्विच्छेत्) राजा से,
जिन क्षत्रिय ब्राह्मणादि को यज्ञ कराता हो उन से तथा अपने शिष्यों से धन लेने
की चेष्टा करे (न त्वन्यतइति स्थितिः) किन्तु अन्य नीच शूद्रादि से धन न लेवे
इसी से मुख्य कर धर्म की स्थिति रहती है ॥

भा०-“ सब से दान ले लेवे ” यह आपत्काल के लिये कथन है उस में भी
अच्छे से मिलने पर नीचों से लेना त्याज्य ही होगा । और “क्षत्रिय भिन्न राजा
से दान न लेवे ” यह आगे इसी अध्याय में कहेंगे । इस कारण प्रजा को
पीड़ा न देने वाला क्षत्र धर्म में तत्पर धार्मिक मनुष्य ही यहां राजतः कहने से
मानना चाहिये । जो भूखों मरता वा उत्तम भोगों का लालची है वह धर्म का
अनुष्ठान नहीं कर सकता इस कारण धर्म चाहने वाले को दरिद्रता और लालच
दीनों छोड़ देने चाहिये ॥ ३३ ॥

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथंचन ॥

न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥

क्लृप्तकेशनखप्रमश्रुर्दान्तः शुक्ताम्बरः शुचिः ।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च

॥ ३४- ३५ ॥

अ०-धर्मेण धनोपार्जने भोक्तुं वा शक्तः समर्थः स्नातको विप्रः कथंचन लोभेनापि क्षुधा न सीदेद्विभवे धनाद्यैश्वर्ये सति विद्यमाने जीर्णानि छिन्नानि मलिनानि च वासांसि न धारयेत् । किन्तु लूनकेशनखश्मश्रुर्मनसो दमनकर्ता शुक्लाम्बरो निर्मलशुद्धवस्त्रधारी बाह्याभ्यन्तरशौचकारी लघ्वाहाराद्यात्महितेषु स्वाध्याये वेदाध्ययनाध्यापनयोश्च नित्ययुक्तो नित्यं तत्पर आसक्तो लग्नः स्यात् ॥

भा०-बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चिदिति कथनानुकूलं क्षुधा पीड्यमानश्छिन्नमलिनवासोभृच्च मनसो लाघवाद्ग्लानत्वाच्च न धर्माचरणं कर्तुं शक्नोति । मध्यकोटिस्थाएव जना गृहाश्रमे तिष्ठन्ति निकृष्टानां च पुत्रकलत्रादिभरणाक्षमत्वात्तैः कृतोऽपि गृहाश्रमोऽकृतइवैव जायते । जन्मान्तरीयप्रबलसंस्काराश्च नरा जन्मतएव विरक्ता वाल्याद्ब्रह्मचारिणो भवन्ति नच ते दोषदर्शिनो दारपरिग्रहमिच्छन्ति । नच ते शुक्लाम्बरधरत्वादिना शरीरपरिकर्मापेक्षन्ते । अत्र च सति शुक्लाम्बरधारणविधौ मलवद्वाससां प्रतिषेधे शुक्लान्यपि कानिचिन्मलिनवासांसि सम्भवन्ति कानिचिच्चाशुक्लान्यपि निर्मलानीति योज्यम् ॥ ३४-३५ ॥

भाषार्थः-धर्मानुकूल धन का संग्रह करने तथा खाने पचाने की (शक्तः) शक्ति होने पर (स्नातको विप्रः) गृहस्थ ब्राह्मण (कथंचन क्षुधा न सीदेत्) किसी प्रकार लोभ से वा आलस्य से भूख करके पीड़ित न रहे अर्थात् इस प्रकार करने में अपना कल्याण वा धर्म न माने (च) और (विभवे सति) धनादि ऐश्वर्य के विद्यमान होने पर (जीर्णमलवद्वासा न भवेत्) फटे टूटे वा मलिन वस्त्र धारण न करे किन्तु (लूनकेशनखश्मश्रुः) शिर के केश, नख और डाढ़ी आदि वालों को कट-

वा छट्वा के अच्छे बनाये रखे अर्थात् जटाधारी न होवे (दान्तः शुक्लान्त्रः शुचिः) मन को वश में रखने वाला, निर्मल शुद्ध श्वेत वस्त्रधारी तथा बाहर भीतर से शुद्धि रखने वाला ही (आ.महितेषु च स्वाध्याये चैत्र नित्यं युक्तः स्यात्) आयुर्वेदादि ग्रन्थों में लिखे अनुसार आचार विचार रख के हलका थोड़ा पथ्य भोजन करनारूप अनुनाहित करने तथा वेद के पढ़ने पढ़ाने रूप अपने परमधर्म-परमसुखदायी कर्म में नित्य ही लगा रहे ॥

भा०—“भूखे को कुछ भी नहीं सुहाता” इस जनश्रुति-कहावत,के अनुसार भूख से पीड़ित हुआ तथा फटे वा मलिन वस्त्रों का धारण करने वाला मनुष्य मनमें लघुता और ग्लानि होने से धर्म का सेवन नहीं कर सकता । मध्यम कोटि के मनुष्य ही अच्छे गृहाश्रमी होते हैं । और नीच कक्षा के लोग गृहस्थ होने परभी स्त्री पुत्रादि के पालन पोषण वा धर्मकार्यों में असमर्थ होने से उन का गृहाश्रम करना न करने के समान ही हो जाता है । और जन्मान्तर के प्रबल शुद्ध संस्कारों वाले उत्तम कक्षा के लोग वाह्यावस्था से ब्रह्मचारी रहते जन्म ही से विरक्त होते हैं वे गृहाश्रम में अधिकतर दोष वा दुःख देखते शोचते हुए विवाह नहीं करते कोई भूल से करभी लेते हैं तो जन्म भर वहां फसे नहीं रहते । इसी कारण वे श्वेत वस्त्र धारण करने आदि द्वारा शरीर को अच्छा बनाकर रखने की इच्छा नहीं रखते उन का मुख परमार्थ की ओर फिरा होता है । यहां श्वेत वस्त्रधारण करने का विधान होने पर भी मलिन वस्त्रों का निषेध इस लिये किया है कि कोई श्वेत वस्त्र भी वस्तुतः मलिन होते वा हो सकते और कोई खाखी वा देखने में मलिन वस्त्र भी वस्तुतः निर्मल होते हैं इस से निर्मल का धारण करना विशेष धर्मानुकूल है ॥३४-३५ ॥

वैशावीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।

यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥३६॥

अ०—स्नातको विप्रो ब्राह्मणत्वस्य गृहाश्रमस्य चेमानि चिह्नानि सर्वदा स्वीकुर्यात्—वैशावीं वंशमयीं, नासिकादिजन्यमलशोधनाय सोदकं च कमण्डलुं, यज्ञोपवीतं यथाविहितं त्रिसूत्रकं, वेदं वेदपुस्तकं च रौक्मे स्वर्णमये कुण्डले च भैषज्याय शोभायै च धारयेत् ॥

भा०-अत्रान्ये वेदपदेन कुशमुष्टिधारणं विदधति । तच्च वेदमेव सदाभ्यस्येत् । सर्वान् परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनइत्यादिना विरुध्यते । वेदाभ्यासेन यादृशं ब्राह्मणत्वं रक्ष्यते पुष्यति वर्धते च नच कुशानां धारणेन तादृशं ब्राह्मणत्वं रक्ष्यते । वेषवाग्बुद्धिसारूप्याचरणं पूर्वमुक्तं तदेवात्र वर्णाश्रमचिह्नधारणेन पोष्यते सुवर्णमाग्नेयत्वात्कर्णयोर्धृतं सात्त्विकं शिरोदेशस्थसप्तस्त्रीतसां विशोधनं बुद्धेर्वैशारद्यहेतुकं रोगनाशहेतुकं च संपद्यते ॥ ३६ ॥

भाषार्थः-गृहस्थ ब्राह्मण गृहस्थाश्रम और ब्राह्मणपन के इन निम्नलिखित चिह्नों का धारण सदा स्वीकार करे-(वैणवीं यष्टिं सोदकं च कण्डलुम्) वांस की एक सुन्दर छड़ी, नासिकादि के मल को समय २ पर शुद्ध करने के लिये जल से भरे हुए पात्र को (यज्ञोपवीतं वेदं च) ग्रन्थों में लिखे अनुसार तीन सूत्रों वाले यज्ञोपवीत, वेद के पुस्तक और (रौक्से शुभे च कुण्डले) सुवर्ण के अच्छे स्वच्छ दर्शनीय दोनों कानों में दो कुण्डलों को रोग निवृत्ति और शोभा के लिये (धारयेत्) धारण करे अनुकूल चिह्नों से धर्म में सहायता माने ॥

भा०-यहां अन्य टीकाकार वेदपद से ऋङ् के तुल्य बनाये कुशों का धारण बताते हैं सो यह कथन "तप करता हुआ ब्राह्मण वेद का ही सदा अभ्यास करे । तथा-अपने परम धर्म वेद के पढ़ने पढ़ाने में विघ्न करने वाले सब कामों को अवश्य छोड़ देवे" इत्यादि मनु जी के कथनाशय से विरुद्ध पड़ता है । वेद के पढ़ने से ब्राह्मणपन की जैसी रक्षा, पुष्टि तथा वृद्धि होती है वैसी ब्राह्मणपन की रक्षा कुशों के धारण से नहीं हो सकती इस कारण कुशों के धारण की अपेक्षा वेद पुस्तक का सदा समीप रखना धर्म के लिये अत्यन्त उपयोगी है । वेष, वाणी और बुद्धि अपनी दशा वा अवस्था के अनुकूल रखना यह पूर्व कह चुके हैं उसी को यहां वर्ण और आश्रम के चिह्नों का धारण कहके पुष्ट किया है । कानों आदि में धारण किया सुवर्ण अग्नितत्त्व प्रधान तथा सत्त्वगुणी होने से शिर के सातों छिद्रों तथा पांच प्रकार की ज्ञानेन्द्रिय शक्तिरूप बुद्धि को निर्मल करता और शीतप्रधान कफादि उपद्रवों को शान्त रखता है ॥३६॥

नेक्षेतीद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥३७॥

अ०-उद्यन्तमस्तं यान्तमुपसृष्टं छायाग्रस्तं घटादिस्थ-
वारिणि छायारूपेणावस्थितं मध्याह्नकालस्थं चादित्यं सूर्यं
कदाचन स्नातको विप्रो नेक्षेत ॥

भा०-अत्रोद्यन्तमित्याद्यादित्यविशेषणमुपलक्षणार्थं
तेन सर्वदैव सूर्याद्यतितेजस्विनामवलोकनं तत्परतया क्रि-
यमाणं प्रतिषिद्धं बोध्यम् । नभोमण्डलस्थजक्षत्रोल्कापा-
तादीनां प्रबलसजातीयाभिभूतानां दिवाऽदर्शनं सर्वशास्त्र-
कृदनुमतं प्रत्यक्षमेवोदाहरणम् । जातिश्रेदनलेन किमित्या-
दीनामयमेवाशयः । यथा समानेन सजातीयेन सर्वत्र सर्व-
स्योन्नतिस्तथैव प्रबलसजातीयेन सर्वस्य सर्वत्रावनतिर्लौ-
कसिद्धा शास्त्रसिद्धा चेति मत्वैव-“समानव्यसनेषु मैत्री” इ-
त्यादयो जनश्रुतयः प्रवृत्ताः । “सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतु । चक्षोः
सूर्या अजायत” इत्यादिषु वेदमन्त्रेषु तैजसकार्यकारणरूपेण
चक्षुःसूर्ययोः सजातीयत्वं स्फुटमेव प्रदर्शितम् । तथा च
वात्स्यायनेनापि “श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ न्यायद० ३ । १ ।
२९” इत्यादिस्थल एतत्स्पष्टमुक्तम् । सति च सूर्यादिभिश्च-
क्षुषोः सजातीयत्वे प्रबलसजातीयसूर्यादितेजसा चाक्षुषं तेजो
व्याहन्यतेऽभिभाव्यते च तस्माद्दर्शनं प्रतिषिद्धम् । यस्य फलं
दुःखावाप्तिः स एवाधर्मइत्यधर्मः सर्वत्रैव प्रतिषिध्यते । “वा-
लातपः प्रेतधूमः” इति नीत्यादिवाक्यानामप्ययमेवाशयः ।

बालातपपदेन केचित्कन्याराशिस्थसूर्यावलोकनं प्रतिषिद्धं हानिकरं मन्यन्ते तच्च गगनमण्डलस्य तदानीमतिनिर्मलत्वाद्द्विशेषेण चक्षुषोर्व्याघातकं सौरं तेजइति सम्भवति । सामान्येन तु सर्वत्रैव प्रबलजातीयेन स्वजातीयं निर्बलं बाध्यतइति योज्यम् । उपसृष्ट्वारिस्थादिदर्शनप्रतिषेधेन सर्वत्रैव सूर्यस्य दर्शनं तारतम्येन हानिकरमिति सूचितं प्रकृतिवदनुकरणास्य प्रतिविम्बस्यापि सत्त्वात् ॥ ३७ ॥

भाषार्थः— (नोद्यन्तं नास्तं यान्तम्) न उदय होते समय वा न क्षिपते समय (नोपसृष्टं न वारिस्थम्) न ग्रहण लगे न प्रतिविम्ब रूप से जल में दीखते (न नभसो मध्यं गतम्) और न आकाश मण्डल के बीच में आये मध्याह्नस्थ (आदित्यं कदाचनेक्षेत) सूर्य को कदापि गृहस्थ ब्राह्मणादि देखे ॥

भा०—उदयादि के समय का ग्रहण यहां उपलक्षणार्थ है । इस से सभी समय सूर्यादि अति तेजस्वी पदार्थों को विचारपूर्वक टकीलगा कर देखने का निषेध यहां किया गया जानो । किन्तु साधारण चलते फिरते दृष्टि पड़ने से कोई विशेष हानि वा दोष नहीं है । आकाश मण्डल में विद्यमान रहते हुए भी तारागण और उल्कापातादि जो दिन में नहीं दीखते किन्तु उन का तेज हत होजाता है इस का कारण सजातीयसूर्य के प्रबल तेजस प्रताप का उदय होना ही है । सो यह प्रबल से निर्बल सजातीय शक्ति के तिरोभूत हो जाने का सब शास्त्रों के अनुकूल प्रत्यक्ष दृष्टान्त वा उदाहरण है । “जाति हो तो अग्नि का क्या प्रयोजन ?” मर्तृहरि आदि के कहे इत्यादि वचनों का भी यही अमिप्राय है । जैसे तुल्य सजातीय से सर्वत्र सब की उन्नति होती है वैसे ही प्रबल सजातीय से सब की सर्वत्र अवनति वा हानि होती इस नियम को मान के ही “तुल्य व्यसन वालों में मेल मित्रता होती है, इत्यादि कहावतें चली हैं । “सूर्य को तेरा चक्षु प्राप्त हो ” तथा “चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ” इत्यादि वेद के मन्त्रों में कार्य कारण रूप से तेजस चक्षु और सूर्य का सजातीय सम्बन्ध स्पष्ट दिखाया है । और यही बात न्यायद० के भाष्य में वात्स्यायन जी ने भी (श्रुतिप्रा०) इत्यादि सूत्रों पर स्पष्ट कही है । जब सूर्यादि के साथ चक्षुओं का सजातीयपन सिद्ध होने पर

प्रबल सजातीय सूर्य के तेजसे चक्षु का तेज नष्ट होता वा दब जाता है। इसी कारण उदयादि के समय सूर्य के देखने का निषेध किया गया है। जिस का फल दुःख प्राप्ति है वही अधर्म है इस से जिस का निषेध किया वही सर्वत्र अधर्म जानो (वालातपः०) इत्यादि नीति के वाक्यों का भी यही अभिप्राय है। यहां वालातप कहने से कोई लोग कन्याराशिस्थ क्वार के सूर्यावलोकन को हानिकारक निषिद्ध मानते हैं सो यह उस समय आकाश मण्डल के अति निर्मल होने से सूर्य का तेज विशेष कर चक्षु के लिये हानिकारक होना सम्भव है पर सामान्य कर सर्वत्र ही प्रबल जातीय अपने निर्मल सजातीय को दबाता है ऐसा मानना चाहिये। ग्रहण पड़े हुए सूर्य और जलस्थ सूर्य के प्रतिबिम्बादि को देखने के निषेध से सर्वत्र ही सूर्य का देखना न्यूनाधिक हानिकारक जताया है। क्योंकि प्रतिबिम्ब में भी उस के गुण अवश्य कुछ आते हैं जिस का वह प्रतिबिम्ब होता है इसी कारण जैसे का तैसा ही प्रतिबिम्ब पड़ता है ॥ ३७ ॥

न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति ॥

न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥३८॥

अ०-वत्सतन्त्रीं वत्सबन्धनरज्जुं न लङ्घयेत् । मेघे वर्षति न धावेत्पतनसम्भवात् । न चोदके स्वं रूपं स्वदेहस्य प्रतिबिम्बं निरीक्षेतेति धारणा धर्मविन्महर्षिभिः कृताऽनुभवा मर्यादा बोध्या ॥

भा०-वृद्धवृषभाद्यपेक्षया वत्सा आधिक्येनोद्विजन्त उत्थाय धावन्ति च तेन पतनं सम्भवति । मलिनजले स्वस्य प्रतिबिम्बं मलिनं शुद्धे च जलगुणान्वितं कान्तितेजोहीनं मृतस्येव दृश्यते तद्दर्शनेन मनोलाघजन्यशोकसम्भवादुत्साहहानिः । यस्य यादृशोऽनिष्टः परिणामः स तादृशोऽधर्मइति मत्वा तस्य तादृशाएव प्रतिषेधः कृतो बोध्यः ॥३८॥

भाषार्थः-(वत्सतन्त्रीं न लङ्घयेत्) बछरा जिस में बन्धा हो उस रस्सी को नांच के न निकले (नच वर्षति प्रधावेत्) मेह वर्षते में दौड़ कर न चले

(उदके स्वं रूपं न च निरीक्षेतेति धारणा) और अपने शरीर की छाया को जल में विदार पूर्वक न देखे यह धर्मज्ञों की बांधी मर्यादा है ॥

भा०—बूढ़े बैल आदि की अपेक्षा बछरे अधिक चौकते तथा उठ कर भागते हैं इस कारण रस्सी नांच कर निकलने वाले का उलझ के गिर जाना सम्भव है। तथा मलिन जल में अपना मुख मलिन दीखेगा और शुद्ध जल में कान्ति और तेज रहित जल के गुण से युक्त मुर्दा कीसी छाया दीखती है उस को देखने से मन की लघुता द्वारा शोक हो कर उत्साह विगडेगा। तथा छाया नाम प्रतिविम्ब देखना निष्फल व्यर्थ भी है जिस का जैसा अनिष्ट परिणाम वा फल है उस को वैसा ही छोटा वा बड़ा अधर्म मानकर निषेध किया जानो ॥ ३८ ॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ।

प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ३८

अ०—मृदं—खेटादिरूपामुच्चाम् । गां—गवादिपशून्, दै-
वतम्—यज्ञशालाम्—विप्रं—ब्राह्मणं मेधाविनम् । घृतं—म-
धु—घृतक्षौद्रादिपदार्थान् विक्रयाय समुदितान् बुद्धिबर्द्धकान्,
चतुष्पथम्—चतुर्दिग्मार्गं प्रधानान् हाटकादीन्, प्रज्ञातान्
प्रसिद्धान् महत्परिमाणान् वटादिवनस्पतींश्च सर्वाण्येतानि
प्रदक्षिणानि कुर्वीत स्वस्माद्दक्षिणभागे त्यक्त्वा वामप्रदेशेन
निस्सरेत् । प्रदक्षिणानीति नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्या-
नप्रतरस्यामिति नपुंसकत्वम् ॥

भा० खेटादिदक्षिणभागे श्मशानमलपातादिकं कुर्व-
न्तिस्म दक्षिणवाग्वागमासम्भवात् तस्मात्खेटादिकं दक्षिणं
कृत्वा वामभागेन यायादिति । भवादीनां च प्राधान्यात्त-
त्साध्यस्वकार्यसाधनाय तथा निस्सरेद्येन दक्षिणः पाणि-
र्गवादिसन्निहितः स्यात्तैर्नैव यावन्ति यादृशानि च कार्या-

णि लोके निर्वर्त्तन्ते न तावन्ति तादृशानि च वामाङ्गेने-
ति । तस्मादेव विवाहकाले स्त्रियं वामाङ्गीं कुर्वन्त्यप्राधा-
न्यप्रज्ञापनायेति । वामापेक्षया दक्षिणहस्तस्य शुद्धत्वात्प्र-
धानत्वाच्च प्रधानकोटिस्थगवादिसम्बद्धो व्यवहारो दक्षि-
णहस्तेनैव कार्यइति सदाचारो लोकेऽपि शास्त्रानुकूलतथै-
वाभिमतइति । नहि लोकेऽपि गुर्वादिसन्निधौ वामहस्तेन
क्रियमाणो व्यवहारः केनापि क्वापि साधुर्मन्यते कथ्यते वा ।
सदाचारस्य धर्मकोटौ परिगणनात् । ब्राह्मणानां च सन्नि-
धौ० दक्षिणं पाणिमुदुरेदित्यन्यत्रास्मिन्नेव ग्रन्थ उक्तं त-
स्मान्निर्वकल्पोऽयमेवाशयः ॥३६॥

भावार्थः—(मृदं गां दैवतं विप्रम्) मट्टी का ऊंचा टीला वा खेरा, गौ आदि
पशु, यज्ञशाला, विद्वान् ब्राह्मण (घृतं मधु चतुष्पथम्) घी और मधु-शहद आदि
बुद्धिवर्द्धक विक्रयार्थ संचित पदार्थों की मण्डी, चारों दिशाओं की ओर जहां मार्ग
हो ऐसी मुख्य दुकानें चौक वा बाजार और (प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन्) बड़े २ स्थूल
प्रसिद्ध वट पीपल आदि वनस्पति इन सब को (प्रदक्षिणानि कुर्वीत) अपने
से दाहिनी ओर छोड़ के इन के बाईं ओर से निकले । यहां (नपुंसकमनपुंस०)
सूत्र से प्रदक्षिण शब्द में नपुंसकलिङ्ग हुआ है ॥

भा०—खेरे आदि के दाहिनी ओर श्मशान भूमि वा मल सूत्र का त्याग इस
कारण पूर्व समय में किया करते थे कि दक्षिण का वायु प्रायः नहीं चलता जिस
से ग्रासादि में दुर्गन्ध आसके । इस कारण खेरे आदि को दाहिना छोड़ कर निकलना
कहा है । और गौ आदि, पशु आदि में प्रधान हैं गौण की अपेक्षा प्रधान से अधिक
काम निकलते ही हैं इस कारण उन प्रधान गौ आदि से सिद्ध होने योग्य अपने
कार्यों की सिद्धि के लिये ऐसा निकले जिससे अपना दाहिना हाथ गौ आदि की
ओर रहे । उस दाहिने हाथ से जैसे और जितने काम लोक में सिद्ध होते हैं वैसे
और उतने काम बांये हाथ से नहीं होते । इसी से विवाह के समय अप्रधानता ज-
ताने के लिये अपनी अर्द्धाङ्गी स्त्री को बायीं ओर बैठाने की चाल चली है ।

और वार्ये हाथ की अपेक्षा दहिने हाथ के शुद्ध और प्रधान होने से प्रधान कक्षा के गौ आदि से सम्बन्ध रखने वाला व्यवहार दहिने हाथ से ही करना चाहिये यह सदाचार शास्त्र के अनुसार लोक में भी अभिमत है । इसी कारण अन्न खानादि उत्तम काम दहिने हाथ से और मल शोधनादि काम वार्ये हाथ से किये जाते हैं । और लोक में भी कोई पुरुष गुरु आदि मान्य पुरुषों के समीप वार्ये हाथ से व्यवहार करे तो उस को कोई कहीं भी अच्छा नहीं मानता वा कहता क्योंकि सदाचार धर्मकोटि में गिना गया है । और (ब्राह्मणानां०) इत्यादि श्लोक में मनु जी ने भी आगे कहा है कि ब्राह्मणादि के समीप दहिने हाथ से काम करे इस कारण यही सिद्धान्त निर्विकल्प ठीक है ॥ ३९ ॥

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने ॥ स-
मानशयने चापि न शयीत तथा सह ॥ रज-
साऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः । प्रज्ञा
तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ तां वि-
वर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् । प्रज्ञा तेजो
बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥४०-४२॥

अ०-कामप्रबोधेन प्रमत्तोऽपि स्नातक आर्त्तवदर्शन-
काले स्त्रियं नोपगच्छेत् संयोगं न कुर्यात् । तथा सह स-
मानशयन एकशय्यायामन्यदापि न शयीत । तथासति पृ-
थक्शयनापेक्षया समानशयनेऽधिकसंयोगाद्देहात्मबलनाशे-
नाधर्मः सम्भवति । अत्रान्ये तयऋतुमत्यैव सह समान-
शयने न शयीतेति वदन्ति न तद्रोचते धर्ममर्मविदाः । र-
जोदर्शनकाले सूक्ष्मशुद्धतत्त्वांशजन्यप्रज्ञातेजोबलचक्षुषां वि-
शोधिना निस्सरता मलिनरजसा स्पष्टतयैव शुक्लवाससः शौ

कल्पं पङ्कादिनेव स्फुटतयैव व्याहन्यते तेन च धर्महानि-
रधर्मवृद्धिश्चोभे सम्भवतएव ॥

भा०-अत्र पूर्वपद्ये विधिद्वयमुत्तरो विधिशेषो वा । उ-
त्तरपद्ये च निन्दार्थवादस्तृतीये प्रशंसार्थवादश्च स्फुटएव ।
तस्माद्भ्रजोदर्शनकाले स्नातकः सदैव स्त्रियं दिनत्रयावधि
वर्जयेदित्युक्तस्याप्यनुवादः स्नातकव्रतबोधार्थः ॥ ४०-४२ ॥

भाषार्थः-(प्रसन्नोऽप्यार्त्तवदर्शने स्त्रियं नोपगच्छेत्) काम भोग की इच्छा के उत्तेजित होने से प्रसन्न व्याकुल पीडित हुआ भी गृहस्थ रजोधर्म होने के समय स्त्री के समीप कदापि न जावे अर्थात् उस से संयोग न करे (अपि च समाशयने तथा सह न शयीत) और भी एकखटिया वा विछौनापर अति निकट उस स्त्री के साथ नित्य वा अधिक काल तक अन्य समय भी न सोंवे । क्योंकि स्त्री के साथ सोनेपर अलग सोने की अपेक्षा शरीर का अधिक संयोग रहने से काम भोग अधिक करेगा तो शारीरिक बल और बुद्धिबल का नाश होने से अधर्म होगा और धर्म की हानि होगी । यहां कोई लोग ऋतुमती स्त्री के ही पास सोने का निषेध मानते हैं तो अन्य समय स्त्री के साथ सोने का निषेध नहीं आता किन्तु अर्थापत्ति से विधान आ सकता है सो यह धर्मज्ञ लोगों को अच्छा नहीं लग सकता क्योंकि कामासक्त पुरुष धर्म से विमुख अवश्य रहेगा (हि रजसाऽभि-
मुतां नारीमुपगच्छती नरस्य) जिस कारण मलिनरक्त निकलने से भीगी दूषित हुई स्त्री के पास जाने वाले पुरुष के (प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते) बुद्धि, तेज, बल, चक्षु और आयु की हानि अवश्य होती बुद्धि आदि सब धीरे २ मलिन मन्द होते-घटते जाते हैं (तां रजसा समभिमुतां विवर्जयतस्तस्य) और उस रज-
स्वला को छोड़ने वाले गृहस्थ पुरुष के (प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते) बु-
द्धि, तेज, बल, चक्षु और आयु सदा बढ़ते हैं नष्ट नहीं होते । जैसे शुद्ध श्वेतवस्त्र कीचड़ वा कज्जल आदि लंगने से दूषित कलङ् युक्त हो जाता है वैसे रजस्वला होने के समय शुद्ध सूक्ष्म तत्त्वांश से बने बुद्धि आदि की निकलते हुए विरोधी मलिन रक्त से स्पष्ट ही अवश्य हानि होती है । इस से धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि दोनों होनी सम्भव ही हैं ॥

भा०—यहां पहिले श्लोक में दो विधिवाक्य हैं वा दूसरे विधान को पहिले विधिका शेष मानो । और द्वितीय श्लोक में निषिद्ध को करने में निन्दारूप अर्थवाद कहा तथा तीसरे में रजस्वला से सदा बचने वाले के लिये प्रशंसारूप अर्थवाद स्पष्ट ही कहा है । इस से रजस्वला होने के समय तीन दिन तक स्त्री का त्याग गृहस्य सदैव अवश्य करे । यह अंश तृतीयाध्याय में कहा भी गया है तथापि गृहस्य के लिये दृढ नियम जताने के अर्थ उसी का फिरसे अनुवाद किया गया जानो ॥ ४०—४२ ॥

नाशनीयाद् भार्यया सार्द्धं नैनामीक्षेत चा-
श्रुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां
यथासुखम् ॥ नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे नचाभ्य-
क्तामनावृताम् । न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेज-
स्कामो द्विजोत्तमः ॥४३ । ४४ ॥

[उपेत्य स्नातको विद्वान्नेक्षेन्नग्नां परस्त्रियम् । सर-
हस्यं च संवादं परस्त्रीषु विवर्जयेत् ॥]

अ०—स्नातको भार्यया सार्द्धमेकपात्रे न भुञ्जीतैना-
मश्रुतीं च नेक्षेत क्षुवतीं नासिकया शब्दं कुर्वाणां जृम्भ-
माणां यथासुखमासीनां च नेक्षेत । स्वके नेत्रेऽञ्जयन्तीं तै-
लादिनाऽभ्यक्तामनावृतां वस्त्रहीनां स्तनाद्यावरणरहितां
तथाऽपत्यं प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमो नेक्षेत सर्व-
त्रसविचारदर्शनाभ्यासेन प्रीतिर्हीयते परोक्षवस्तुनि च स्व-
भावेनैव प्रीतेराधिक्यं जायते प्रीतिहासाद्गृहाश्रमसुखस्य
सन्ततेश्च ध्रुवा क्षतिरतो दर्शनं प्रतिषिद्धम् । अत्रोपेत्येत्यादि
पद्यं क्वचित्पुस्तकेषूपलभ्यते तच्चापूर्वं नास्त्यतः केनापि प-
श्चादेव प्रवेशितमित्यनुमीयते ॥

भा०-भार्यया सहैकपात्रे भोजनेनातिसंनिकर्षः सम्भवति तेनाकाले दिवापि कामासक्तिसम्भवः । अतिसन्निकर्षेण पुरुषे स्त्रीत्वं निर्बलत्वादिकमायाति तस्मात्सार्द्धभोजनोपलक्षणेन सर्वदैवाधिकसान्निध्यं प्रतिषिद्धं बोध्यम् । भोजनादिकाले विकृतरूपदर्शनेन मनसि विकारो ग्लानिररुचिर्जायते तेन च धर्मकृत्येषु कश्चिद्विघ्नएव सम्भवति । रुचिविघातादेवापत्यानामपि हानिः सम्भवति । तस्माद्यदाऽसौ कृतपरिकर्मा प्रसन्नवदना च स्यात्तदैव विचारपुरस्सरं पश्येत् । अविचारेणाकस्माद्दृष्टिपाते निवर्तिते च नार्यदोषः । तेजस्कामइति कथनेनार्थवादउक्तो विकृतरूपदर्शनेन तेजो हीयते । द्विजोत्तमइति कथनात्क्षत्रियो वैश्यो वा स्नातकः पश्येदिति भ्रमो न कार्यः यतः क्षत्रियो वैश्योऽपि द्विजस्तयोरप्युत्तमो न पश्येद्यश्च न पश्यति स एवोत्तमो यश्च नैवं कर्तुं शक्नोति स मध्यमो निकृष्टो वा भवति नोत्तमइति ॥ ४३ । ४४ ॥

भाषार्थः—(भार्यया सार्द्धं नाशनीयात्) अपनी स्त्री के साथ एक पात्र में भोजन न करे (एनामश्नन्तीं च नेक्षेत) और अपनी पत्नी को खाते समय पर विचार पूर्वक न देखे (क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम्) खींक लेती, जम्भाई लेती और अपनी इच्छानुकूल बैठी हुई [जिस समय पति आदि की ओर ध्यान न हो कि मुझ को कोई देखता है] को भी न देखे (नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे) अपनी आंखों में अञ्जन सुरमा लगाती हुई को न देखे (नचाभ्यक्तामनावृताम्) तेल लगाती वा उबटन करती हुई जब छाती आदि शरीर खुला हो तब भी न देखे और (तेजस्कामो द्विजोत्तमः) ब्रह्मर्षि वा राजर्षिपन आदि के तेज, कान्ति, शोभा वा प्रतिष्ठा की चाहना रखता हुआ ब्राह्मणादि में उत्तम गृहस्थ पुरुष (प्रसवन्तीं च न पश्येत्) सन्तान उत्पन्न होते समय भी अपनी स्त्री को न

देखे । सर्वत्र समझ पूर्वक देखने का निषेध इस लिये भी किया है कि जिस को बार २ अधिक देखा करते हैं उस में प्रीति नहीं रहती वा कम हो जाती है और परोक्ष अदृष्ट में स्वाभाविक ही प्रीति अधिक होती है । प्रीति घटने से गृहाम्भ्रम का ठीक २ मुख नहीं मिलता और सन्तति भी अच्छी नहीं होती । इसी स्थान पर (उपेत्य०) इत्यादि एक श्लोक किहीं पुस्तकों में अधिक मिलता है वह अपूर्व न होने आदि के कारण पीछे मिलाया गया यही अनुमान होता है । उस का अर्थ यह है कि—“विद्वान् गृहस्थ समीप जाकर पराई स्त्री को नंगी न देखे और अन्य की स्त्री के साथ एकान्त में बात चीत भी न करे ॥”

भा०—पत्नी के साथ एक पात्र में भोजन करने पर अति समीप बैठना होने से कुसमय दिन में भी कामासक्ति होना सम्भव है और सर्वत्र सङ्ग के गुण दोष लगने के समान स्त्री के साथ अधिक समीपता रहने से निर्बलतादि रूप स्त्रीपन पुरुष में भी आजाता इसी से वैसे पुरुष लोक में मिहरा कहाते हैं इस से साथ भोजन करने के निषेध द्वारा सर्वदा ही स्त्री की अधिक संगति का निषेध किया जानो । और भोजनादि के समय स्त्री का विकृत रूप दीख पड़ने से मन में उस की ओर से ग्लानि अरुचि होती जिस से धर्म कार्यों में विघ्न हो सकता है और रुचि वा प्रीति कम होने से सन्तान भी अच्छे नहीं होते वा ही नेही बन्द हो जाते हैं इस कारण जब वह स्त्री शृङ्गार करके प्रसन्नमुखी हो और पति को अपना स्वरूप दिखाना चाहती हो तभी उस को विचार पूर्वक देखे । और भोजनादि करते समय विना विचारे अकस्मात् दीख पड़े तथा पुरुष जान कर दृष्टि को हटा लेवे तब यह दोष नहीं माना जायगा । यहां (तेजस्कामः) कहने से अर्थवाद कहा जानो कि भोजनादि के समय का विकारी अरौचक रूप देखने से पुरुष का तेज घटता है । यहां द्विजोत्तम कहने से ब्राह्मण ही लिया जाय, क्षत्रिय वैश्य गृहस्थों का ग्रहण न हो सो नहीं क्योंकि क्षत्रिय वैश्य भी द्विज कहाते हैं उन में भी उत्तम जन तेज चाहते हुए वैसी दशाओं में पत्नी को न देखें । जो नहीं देखता वा विषयासक्ति से अधिक बचता है वही उत्तम है और जो ऐसा नहीं कर सकता वही मध्यम वा निरुष्ट होता है किन्तु उत्तम नहीं कहा जाता ॥ ४३-४४ ॥

**नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोवृजे ॥**

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।
 न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥
 न समत्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ।
 न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥
 वाय्वग्निविप्रमादित्यसपः पश्यंस्तथैव गाः ।
 न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥
 तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना ।
 नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥
 मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
 दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश्च यथा दि-
 वा ॥ छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा
 द्विजः । यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु
 च ॥ प्रत्यग्निं प्रति सूर्यं च प्रति सोमोदक-
 द्विजान् । प्रति गां प्रति वातं च प्रजा नश्य-
 ति मेहतः ॥ ४५-५२ ॥

अ०-स्नातको गृहस्थ एकं वस्त्रं परिधाय नान्नमद्या-
 न्नग्नः सन्स्नानं नाचरेत् । पथि, भस्मनि, गोत्रजे, फाल-
 कृष्टेक्षेत्रे, जले जलाशये, चित्यां श्मशानप्रदेशे इष्टकाचये-
 न निर्मिते, पर्वतउच्चप्रदेशे खेटकाद्युपरि, जीर्णदेवायतने पु-

रातनयज्ञशालायाम्, वल्मीके कृमिनिवासे प्राणिसहितग-
र्त्तेषु, पर्वतमस्तके गिरिशिखरे, गच्छन्, स्थितो, नदीतीर-
मासाद्य गत्वा च मूत्रं न कुर्वीत । वायुमग्निं विप्रं सूर्यं
जलं तथैव गाश्च पश्यन्कदाचन विण्मूत्रस्य विसर्जनं न
कुर्वीत । वाचं नियम्य प्रयतोऽनुच्छिष्टः संवीताङ्गो धृतवासा
श्रवणुगुण्ठित आच्छादितशिराः पुरुषस्तिरस्कृत्य मलं मूत्रं च
देहादूरीभवेदखिलं निस्सरेदिति ग्लानिं कृत्वोपेक्षयोञ्चरेत्य-
जेत् । तदनन्तरं शुष्ककाष्ठलोष्टपत्रवृणादिना गुदोपरि लम्बनं
मलं शोधयित्वादकेन शोधयेदिति शेषः । अन्ये तु शुष्क-
काष्ठादिना भूमिं तिरस्कृत्याच्छाद्योञ्चरेदिति योजयन्ति ।
मूत्रोच्चारं समुत्सर्गं मलत्यागं च दिवोदङ्मुखो रात्रौ दक्षि-
णाभिमुखः सन्ध्योश्चोदङ्मुखएव कुर्यात् । मेघादिच्छा-
यायां महान्धकारे प्राणवाधाभयप्रदेशेषु च रात्रावहनि वा
द्विजो यथासुखमुखो मलमूत्रयोरुत्सर्गं कुर्यात् । अग्न्यादीन्
दर्शनेन प्रतिकूलान्स्वविरोधिनः कृत्वा मेहतः पुरुषस्य प्र-
ज्ञा प्रकृष्टज्ञानस्वरूपा बुद्धिर्नश्यति ॥

भा०—यथाऽतिशुभ्रे वासांसि सूक्ष्ममपि मालिन्यं हानि-
करं तद्रूपविघातकं च जायते । ये चातिशुभ्राणि वासांसि वि-
भ्रति ते किञ्चिदेव मलिनमपि वासो मलिनमिदमिति कृत्वा
त्यजन्ति । अन्ये चाधिकमलिनवासोधरा नरास्तदेव किञ्चि-
न्मलिनं वासोऽतिशुद्धमिति कृत्वा विभ्रति । तथैव ये ज-
ना ब्राह्मणादयो धर्मशास्त्रोक्तानि प्रधानानि शौचाहिंसादी-
न्यनुतिष्ठन्ति तत्र च ये लब्धास्पदा जायन्ते तएव सूक्ष्माधर्म-

णापि जायमानां सूक्ष्मामपि स्वस्य महतीं क्षतिमनुभवितुं शक्नुवन्ति । सर्वथा सुरभियुतप्रदेशे ये सर्वदा निवसन्ति तैरेव सूक्ष्मोऽप्यनिष्टो गन्धो विशिष्टः प्रतिकूलः प्रतीयते । पुरा-
काले ये शुद्धतरा ब्रह्मर्षयो राजर्षयश्च धर्ममेव सर्वोत्तमं मत्वा
सेवितवन्तस्ते यथा धर्मकृत्यानां मर्म ज्ञातवन्तो न तथा
तिष्ठन्तो ये मूत्रयन्ति तद्दानीन्तना जनाः स्वप्नेऽपि ज्ञातु-
मर्हन्ति । एकवाससा भोजनेन वासोद्वयापेक्षया स्वस्य हा-
निस्तेनैव प्रतीयते । सर्वत्रैव यत्कार्यं यथा कर्तव्यत्वेन वि-
धीयते ततो भिन्नप्रकारेण क्रियमाणं न तादृशं सफलं भ-
वति । यो नग्नो स्नातुमीहते सङ्गतस्ततो विकल्पेन पश्यन्सश-
ङ्कं स्नाति न कोऽपि मां पश्येदिति । अशङ्कितेन यादृशं का-
र्यं कर्तुं शक्यते न तादृशं शङ्कितेनेति । पथ्यादिषु मूत्रक-
रणेनान्यपान्थादीनामपि निकृष्टगन्धेन दुःखं जायते । एवं
स्वस्थान्यस्य वा मूत्रादिकरणेन यत्र यत्र कापि हनिरस्ति
तत्र तत्र न कार्यमिति पथ्यादीन्युपलक्षणार्थानि पदानि बो-
ध्यानि । एकदा सहैव क्रियमाणं कार्यद्वयं सम्यक्तया नैवै-
कमपि तयोर्निष्पद्यते यस्माद्वाय्वादिकान् पश्यन्त्यो मूत्रपु-
रीषोत्सर्गं करोति तस्य पादवस्त्रादिषु मूत्रपतनं सम्भवति
मलं च सर्वं न निस्सरति तस्मात्तदानीं न केनापीन्द्रियेण
किमपि दर्शनादि कार्यम् । प्रधानतेजस्विप्रशस्यपदार्था अ-
शुचिकालेऽपानप्रवृत्तौ दृश्यमाणाः स्वदेहस्थवाय्वादितत्त्वस्य
प्रकोपनेन प्रतिकूलाः सम्पद्यन्ते । यथाऽन्यविद्यावतां पू-
जनेन स्वदेहस्थापि विद्योन्नीयते । अन्यब्राह्मणत्वविशिष्टानां

पूजनेन स्वदेहान्तःकरणस्थमपि ब्राह्मणत्वमुन्नतं भवति। एवं च यादृश्यां दशायामवस्थितः पुरुषो यादृशेन भावेन यस्य सङ्गं करोति तादृशएव स्वदेहस्यो भाव उन्नीयते यथा चौरस्य सङ्गेन प्रशंसया च स्वान्तःकरणस्थं स्तेयमुन्नतं भवति । नि-
कृष्टदशायामवस्थितेन च केनापि कदापि ब्रह्मपूजनादि नैव तथा कर्तुं शक्यते यथा कृतशौचदशायामिति । तथैवात्र मू-
त्रपुरीषोत्सर्गकालेऽशुचिदशायामवस्थितेन पुरुषेण दर्शना-
दिनोपात्ता वाय्वादयः स्वदेहस्थवाय्वादिकार्यमनग्रादीनां प्र-
तिकूलाः सन्तो प्रज्ञां प्रकृष्टां विचारशक्तिं नाशयन्ति । मू-
त्राय पथ्यादिभ्योऽन्यप्रदेशे स्थानमनुपलभमानः कदाचिद्यः
पथ्यादिषु मूत्रादिकं करोति न तस्य तादृशः कोपि दोषो
यादृशः प्रायेण तत्र २ तत्कुर्वाणस्य सम्भवति । सर्वत्रैव वि-
धौ प्रतिषेधे च मात्राबोधस्तत्त्वबोधहेतुरस्ति । यथा भक्षि-
तेनान्नेन क्षुन्निवर्तते । अत्र कीदृशेन कियतान्नेन कीदृश-
बुभुक्षितस्य कियती क्षुन्निवर्ततइत्यादिरूपी विचारः कर्त्त-
व्यो भवत्येवमत्रापि पथ्यादिषु कीदृशमूत्रादिकरणेन कस्य
कदा कीदृशो दोषइति विचार्यम् ॥ ४५-५२ ॥

भाषार्थः—ब्रह्मचर्यं समाप्त कर गृहस्थ हुआ पुरुष (एकवासा अन्नं नाद्यात्) के-
वल एक धोती ही पहन के अन्न न खावे किन्तु द्वितीय वस्त्र अंगोछा साथ रखे
(नग्नः स्नानं नाचरेत्) नङ्गा ही कर स्नान न करे किन्तु धोती वा कोपीन प-
हिने ही स्नान करे (पथि मूत्रं न कुर्वीत) मार्ग में प्रस्राव-पेशाव न करे (न
भस्मनि न गोब्रजे) न राख में न गौओं के रहने की गोशाला में (न फालकण्ठे न
जले) न हल से जोते खेत में न जलाशय में (न चित्यां न च पर्वते) न मुर्दा
जलाने नाम अन्येष्टि करने के लिये ईंटों से चिन कर बनायी मरघट भूमि की वेदि

में न ऊंचे खेरे आदि की टुकी पर चढ़ के (न जीर्णदेवायतने) न पुरानी टूटी फूटी यज्ञशाला में (न वल्मीके कदाचन) न कदापि कीड़ों के निवास के स्थान विल में (न ससत्त्वेषु गर्त्तेषु) न प्राणी जिन में विद्यमान हों ऐसे गढ़ों में (न गच्छन्नापि च स्थितः) न चलता हुआ न खड़े हो कर (न नदीतीरमासाद्य) न नदी के किनारे पर जाकर (न च पर्वतमस्तके) और न पर्वत के ऊंचे शिखर पर चढ़ के कभी मूत्र करे (वाय्वग्निविप्रमादित्यमपस्तथैव गाः पश्यन्) वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल और गौश्रीं की देखता हुआ (कदाचन विण्मूत्रस्य विसर्जनं न कुर्वीत) कदापि बिष्ठा वा मूत्र का त्याग न करे किन्तु (वाचं नियम्य प्रयतः संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः) भोजनादि करने पश्चात् सुखादि धोया हो किन्तु उच्छिष्ट न हो, कोई वस्त्र पहने वा ओढ़े हो शिर भी किसी वस्त्र से ढंपा हो ऐसी दशा में वाणी से मौन होकर (तिरस्कृत्योच्चरेत्) मल मूत्र मेरे देह से दूर हो जाय सब निकल जाय कुछ न रहे इत्यादि प्रकार मलिनता से उपेक्षा वा श्लानि करता हुआ मल का त्याग करे तत्पश्चात् (काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना) सूखे काष्ठ मट्टी के ढेले, पत्ते और सूखे तृणादि से गुदा के ऊपर लगे मल को शुद्ध कर (दूर करके) पीछे जल और मट्टी से (अ० ५ श्लोक १३६) में कहे अनुसार शुद्धि करे [आवदस्तले] [अन्य टीकाकार इस का ऐसा अर्थ करते हैं कि सूखे काष्ठादि से भूमि को तिरस्कृत्य नाम ढांप के मलत्याग करे । और कुल्लूक भट्ट ने इसी अंश की पुष्टि के लिये वायुपुराण का (शुष्कैस्त्रुणैर्वा० अन्तर्धाय वसुन्धराम्) इत्यादि श्लोक भी लिखा है । सो किसी काष्ठादि के ऊपर का मल शीघ्र सूख जाता इस से दुर्गन्ध बहुत काल नहीं ठहरता और मल से दब जाने आदि द्वारा पृथिवी के प्राणियों को दुःख भी कम पहुंचना सम्भव है इत्यादि कारण यह भी अर्थ अनुचित नहीं जान पड़ता] (दिवोदङ्मुखो रात्रौ दक्षिणाभिमुखः) दिन में उत्तर को और रात्रि में दक्षिण को मुख करके तथा (सन्ध्ययोश्च यथादिवा) दोनों सन्ध्याओं के समय सायं प्रातः [उषःकाल के आरम्भ से सूर्योदय होने तक प्रातः सन्ध्या काल और सूर्यास्त से तारे सब दीख पड़ने तक सायं सन्ध्या का समय कहा जाता है] दिन के तुल्य उत्तर को मुख करके (सूत्रोच्चारसमुत्सर्गं कुर्यात्) मल मूत्र का त्याग किया करे (छायायामन्धकारे वा प्राणवाधाभयेषु च रात्रावहनि वा) भित्ति वा मेघादि की छाया में वा आंधी मेघादि द्वारा हुए रात्रि के वा दिन में होने वाले अधिक अन्धकार में तथा शरीर पर किसी प्रकार की आपत्ति के आजाने का भय हो ऐसे

प्रदेश में (द्विजो यथामुखमुखः कुर्यात्) ब्राह्मणादि गृहस्थ पुरुष चाहे जिस और मुख कर के मल सूत्र का त्याग करे (प्रत्यग्निं प्रति सूर्यं च) अग्नि, सूर्य (प्रति सोमोदकद्विजान्) चन्द्रमा जल और ब्राह्मण (प्रति गां प्रति वातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः) गौ और वायु इन सब को देखते हुए प्रस्राव करने वाले की उत्तम शुद्ध बुद्धि नष्ट मलिन वा मन्द हो जाती है ॥

भा०—जैसे अत्यन्त श्वेत वस्त्र में थोड़ी भी मलिनता उस के रूप की विगाड़ने वाली हानिकारक होती अर्थात् वैसे ही श्वेत अन्य वस्त्रों के सामने वह अधिक मलिन प्रतीत होने लगता है इसी कारण जो लोग अतिनिर्मल वस्त्रों को पहनते हैं वे किंचित् मलिन वस्त्र को भी अधिक मैला मान कर त्याग देते हैं । और अन्य लोग जो अधिक मलिन वस्त्रों को ही प्रायः धारण करने वाले उसी वा वैसे ही किंचित् मलिन वस्त्र को अपने अन्य अधिक मलिन वस्त्रों की अपेक्षा अति शुद्ध मानते हुए धारण करते हैं । वैसे ही जो ब्राह्मणादि मनुष्य धर्मशास्त्रों में कहे अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि धर्म के मुख्य २ अंशों का ठीक यथार्थ सेवन करते और धर्म के सेवन से ही जो प्रतिष्ठा को प्राप्त-नामी होजाते वेही अधर्म के सूक्ष्म अंशों के सेवने [एक वस्त्र से भोजन करना, मार्ग में वा खड़े हो कर प्रस्राव वा नंगे हो स्नान करना आदि] से होने वाली अपनी थोड़ी लेश-मात्र हानि को भी बड़ी जानते मानते हैं । तथा जो लोग सर्वथा सुगन्ध युक्त वगीचे आदि स्थान में रहते हैं उन्हीं को थोड़ा भी दुर्गन्ध अधिक प्रतिकूल जान पड़ता है । पूर्वकाल में जो राजर्षि वा ब्रह्मर्षि लोग धर्म को ही सब से उत्तम मान कर सेवन करते थे वे लोग धर्मसम्बन्धी कामों का जैसा मर्म जानते वा जान पाते थे वैसे जो खड़े हो कर प्रस्राव करते वा वैसे करना अच्छा मानते हैं ऐसे वर्त्तमान समय के लोग स्वप्न में भी नहीं जान सकते । एक वस्त्र से भोजन करने वाला शुद्धि ठीक नहीं कर सकता, हाथ मुख धोने पोंछने आदि के लिये भोजन के समय द्वितीय वस्त्र अंगोच्छा का अधिक प्रयोजन पड़ता है । अंगोच्छा सहित भोजन करने की अपेक्षा एक धोती ही धारण कर भोजन करने वाले की स्वयमेव कुछ अपनी हानि वा दिक्कत प्रतीत हो सकती है । सर्वत्र जो काम जिस प्रकार करने को कहा गया है उस से भिन्न प्रकार किया हुआ वैसे अच्छा सुफल नहीं होता । जो पुरुष नंगा ह्राता है वह इधर उधर शङ्का के साथ देखता हुआ स्नान करता है कि मुझ को कोई देख न लेवे । और निःशङ्क होकर किया काम

जैसा अच्छा होता वैसा शङ्का के साथ किया कदापि नहीं होता । तथा अपने उपस्थेन्द्रिय को देखने बूने आदि से कामासक्ति बढ़ती है और कामी पुरुष धर्मात्मा हो नहीं सकता इस कारण नग्न होकर स्नान करने का निषेध किया है । मार्गादि में पेशाब करने से मार्गादि में चलने वा रहने वाले अन्य प्राणियों को दुर्गन्धादि के द्वारा दुःख होता है । इत्यादि कारण से ही राजमार्ग [सड़क आदि] में प्रस्रावादि का सदा ही निषेध है । इसी प्रकार जहां २ प्रस्राव आदि करने से अपनी वा अन्य किसी की हानि होती वहां २ नहीं करना चाहिये । इस अभिप्राय की सिद्धि के लिये मार्गादि उपलक्षणार्थ कहे हैं किन्तु केवल गिनाये हुये स्थानों में ही मलमूत्र करने का निषेध अभीष्ट नहीं है इसी लिये कहीं कभी कोई ऐसा नाम मात्र का मार्गादि भी हो सकता है जहां करने से किसी की कुछ हानि न हो वा इतनी कम हो जिस को हानि ही न मान सकें तो वहां के लिये निषेध नहीं होगा । तथा एक समय में दो काम किये जाय तो दोनों में एक भी अच्छा नहीं होता । इसी लिये वायु आदि को देखता हुआ जो पुरुष मल मूत्र का त्याग करता है उसके पगों वा वस्त्रादि में मलमूत्र का लगना वा गिरना संभव है और अन्यत्र ध्यान होने से मल भी ठीक २ नहीं निकलता । इस कारण उस समय किसी इन्द्रिय से कोई भी काम अन्यत्र मन लगाके नहीं करना चाहिये । दर्शन कहना उदाहरण के लिये उपलक्षणार्थ है । और वायु आदि को देखने [वृक्षों के पत्ते आदि के हिलने को देखना वायु का देखना है जैसे वायु रूप रहित है] के निषेध का मुख्य सूक्ष्म आशय तो यह है कि अपान के कार्य मलमूत्रादि के त्याग समय प्रधान, तेजस्वी प्रशंसा के योग्य वायु अग्नि आदि पदार्थ, किसी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये हुए अपने शरीरस्थ वायु आदि के शोधक सहायक जीवनोपयोगी न हो कर शरीरस्थ वायु आदि को कुपित करके प्रतिकूल हो जाते हैं । जैसे अन्य विद्यमानों का विद्वत्ता के कारण पूजन सत्कार करने से अपना शरीरस्थ विद्यांश उन्नत होता, शुद्ध श्रेष्ठ ब्राह्मणपन से युक्त ब्राह्मणों की सेवा पूजा करने से पूजन करने वाले के शरीरस्थ ब्राह्मणपन की उन्नति होती है । इसी प्रकार जिस दशा में विद्यमान पुरुष जैसी भावना से जिस का सङ्ग करता है वैसा ही अपने शरीर का भाव भी उन्नत होता । जैसे चोर का सङ्ग और उस की प्रशंसा करने से अपने शरीर में चोरी करने का भाव जागता वा उभड़ता है । और निकृष्ट वा मलिन दशा में अवस्थित कोई पुरुष ब्रह्म पूजनादि श्रेष्ठ काम को वैसा अच्छा नहीं कर सकता जैसा अच्छी उत्तम शुद्ध दशा में विद्यमान पुरुष ईश्वरभक्ति आ-

दि कर सकता है। वैसे ही यहां मल मूत्र त्यागने के समय अशुद्ध दशा में अवस्थित पुरुष ने देखने आदि द्वारा ग्रहण किये वायु आदि, वायु आदि के कार्य अपने देहस्थ मन आदि के प्रति कूल हुए प्रकृत विचार शक्तिरूप प्रज्ञा को नष्ट करते हैं। प्रस्राव करने के लिये मार्गादि से अन्यत्र स्थान न मिलने पर यदि कभी अशक्त दशा में मार्गादि के ऊपर जो मूत्रादि कर देवे उस को वैसा अधिक दोष नहीं लगता जैसा कि वार २ प्रायः मार्गादि में मूत्रादि करने वाले को हो सकता है। और विधि वा निषेध में सर्वत्र ही मात्रा का बोध हीना तत्त्व समझने का हेतु होता है। जैसे अन्न खाने से भूख शान्त होती है इस से भूखा मनुष्य अन्न खावे इस विधि वाक्य में—कैसे और कितने अन्न से कैसे भूखे पुरुष की कैसी और कितनी क्षुधा निवृत्त हो सकती है? अन्न के एक दाने का भी खाना, खाने में लिया जायगा तब तीन दिन के भूखे ग्रामीण मनुष्य की क्षुधा क्या कुछ भी शान्त हो सकती है? कदापि नहीं। पर चींटी के लिये वह एक दाने का खाना भी सार्थक है। इत्यादि विचार जैसे कर्त्तव्य होता वैसे यहां भी मार्गादि में कब किस प्रकार कैसा मूत्रादि करने से किस को कब कैसा दोष लग सकता है यह सब विचारणीय अवश्य होता इसी रीति से विचार करने को सीमांसा कहते वा मानते हैं ॥ ४५-५२ ॥

**नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् ।
नामेध्यं प्रक्षिपेद्गर्गनौ नच पादौ प्रतापयेत् ५३**

अ०—मुखेन साक्षादग्निं नोपधमेदपि तु व्यजनन-
लिकादिसाधनेनोपधमानं वरम् । नग्नां स्वस्य परस्य वा
स्त्रियं नेक्षेत । मैथुनादन्यत्रेत्यन्य आहुर्नादौ रोचतेऽस्माकम् ।
नग्नेक्षणं सर्वदैव कामासक्तिवर्धकं कामासक्तिश्च धर्मविरो-
धिनी सिद्धैव तस्मात्प्रयोजनाभावाद्गतिकालेऽपि नग्नाया
ईक्षणं प्रतिषिद्धमेवेति धर्म्यः परामर्शः । अग्नावमेध्यं न
प्रक्षिपेद्गुण्धोत्थानभयात् । नच साक्षादव्यवहितौ पादौ
प्रतापयेत् ॥

भा०-शरीर के भीतर जीवनरूप अग्नि का बाहरी अग्नि सहायक जीवन का पोषक है । और उस जीवनाग्नि का प्रधान भाग शिर में रहता है इसी से मुख वा शिर के साथ अग्नि का कार्य कारण सम्बन्ध (अग्निं यश्चक्रआस्यं०) इत्यादि रूप से वेद में स्पष्ट दिखाया है । इस से शीत की अधिकता के समय शुद्ध अग्नि से शिर वा उरःस्थल को तपाना अच्छा है [इसी से (तनूपाअग्नेऽसि) इत्यादि मन्त्रों से शिर वा छाती वा कण्ठ को सेकने का लेख भी मिलता है किन्तु पग सेकने का कहीं नहीं] । नाभि से पगों तक का शरीर यदि साक्षात् अग्नि से तपाया जाय तब कटि आदि स्थानों में रहने वाला सोमादि तत्त्व कुपित होता जिस से बुद्धि की अनवस्थिति और मन की व्यग्रता होने से धर्मकार्यों में विघ्न होना सम्भव है इस कारण यह सब निषेध किया जानो ॥ ५४ ॥

**नाशनीयात्सन्धिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् ।
न चैव प्रलिखेद् भूमिं नात्मनोपहरेत्स्रजम् ५५**

अ०-सन्धिवेलायां नाशनीयादन्नं, न पन्थानं गच्छेत् न संविशेत्-शयीत मैथुनं वा न कुर्यात् । तथा भूमिं न प्रलिखेन्नाप्यात्मनः स्वस्य धृतां स्रजं पुष्पमालां तदानीं स्वयमेवापहरेत् ॥

भा०-सन्ध्याकाले सदैव नियमेन-ऋषियज्ञं देवयज्ञं च कुर्यादिति बहुत्र विधीयते । भोजनादिलग्नेन च कर्तुं शक्यं तदिति कृत्वा भोजनादिप्रतिषेधः । भूमिलेखनमन्य दापि त्याज्यं तदानीं तु विशेषेण । सन्ध्याकाले चेतःप्रसादाय धृतायाः स्रजउत्तारणं धारणापेक्षया न वरमिति ध्येयम् ॥

भाषार्थः-(सन्धिवेलायाम्) सायंप्रातः सन्ध्याकाल में भोजन न करे (न गच्छेन्नापि संविशेत्) तथा सन्ध्या समय न मार्ग में कहीं को चले न मैथुन करे न सोवे (न चैव प्रलिखेद् भूमिम्) न सन्ध्या समय वा अन्य काल में भी हाथ पग से भूमि को खोदे और (आत्मनः स्रजं नापहरेत्) पहनी हुई फूलों की माला को सन्ध्या समय स्वयं न उतारे ॥

भा०—सदैव नियम से सन्ध्या काल में ऋषियज्ञ-वेद मन्त्रों का जप पाठ और देवयज्ञ नाम होम करे ऐसा विधान अनेक स्थलों में किया गया है । और भोजनादि काम में लगा हुआ ऋषियज्ञादि कदापि नहीं कर सकता इस कारण सन्ध्यासमय में भोजनादि का निषेध है । भूमि खोदना सभी समय में त्याज्य है परन्तु सन्ध्यासमय में विशेष कर त्याज्य जानी । सन्ध्या के समय चित्त की प्रसन्नता के लिये धारण की हुई फूलों की माला को उतार डालने की अपेक्षा धारण किये रहना अच्छा है ॥ ५५ ॥

**नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् ।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणिवाप्सु**

अ०—मूत्रं पुरीषं ष्ठीवनं वेति समुच्चयार्थेन गण्डूषा-
दिकमन्यदमेध्यलिप्तं विष्ठादिलिप्तं काष्ठादिकं रुधिरं विषा-
णि विषवस्तूनि चाप्सु जले न कदापि समुत्सृजेत्प्रक्षिपेत् ॥

भा०—षट्चत्वारिंशत्तमपद्येन कृतोऽपि जले मूत्रप्रति-
षेधो विशेषार्थः पुनरत्रोक्तः । जलं द्वितीयकक्षायां सर्वप्रा-
णिवर्गस्य पानादिना जीवनहेतु तस्य विकारसम्पादनेन
स्वस्यान्यस्य चापकरणादधर्मः संचीयतइति कृत्वा प्रति-
षेधः कृतः ॥ ५६ ॥

भाषार्थः—(मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा) मूत्र, विष्ठा, थूक-खकार तथा कुत्ला
आदि (अमेध्यलिप्तमन्यद्वा) विष्ठादि लगा अन्य काष्ठादि तथा (लोहितं वा वि-
षाणि वा) लोहू रुधिर-और विषयुक्त वस्तुओं को (अप्सु न समुत्सृजेत्) जलों में
नाम जलाशयों में न डाले ॥

भा०—छयालीशवें श्लोक से जल में प्रस्राव करने का निषेध किया हुआ भी
विशेष आवश्यकता दिखाने के लिये यहाँ पुनर्वार कहा गया है । अर्थात् मार्गादि
में प्रस्रावादि करने की अपेक्षा जल में करना बहुत ही बुरा है क्योंकि वायु से
नीचे द्वितीय कक्षा में पीने आदि द्वारा जल सब प्राणिमात्र के जीवन का हेतु है
उस को बिगाड़ने द्वारा अपने तथा अन्यो के जीवन में बाधा पहुंचने से अधिक

अधर्म का संचय होता है इस कारण जलाशयों में निकृष्ट सूत्रादि डालने का विशेष कर निषेध है ॥ ५६ ॥

**नैकः सुप्याच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत् ।
नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्नचावृतः ॥५७**

[एकः स्वादु न भुञ्जीत स्वार्थमेको न चिन्तयेत् ।

एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥]

अ०-शून्ये गृहे एक एकाकी न सुप्यात् । श्रेयांसं स्व-
तः श्रेष्ठं शयानं कमपि न प्रबोधयेत् । उदक्यया रजस्व-
लया नाभिभाषेत । अवृतो यजमानेनानाहृतोऽस्वीकृतो
यज्ञं न गच्छेत् ॥

भा०-यत्र गृहे प्रतिदिनं बहुकालान्त्र कोऽपि वसति त-
त्रान्यसत्त्वैर्विघ्नानि भयं च सम्भवति । सति च सहाये
विघ्नवारणमाधिक्येन सम्भवम् । यत्र च प्रायेण वसन्ति
तत्र कदाचिदेकोऽपि सुप्यात्तदा नास्ति भयम् । शयानं न
प्रबोधयेदिति पाठान्तरम् । श्रेष्ठांश्च स्वप्नादन्यत्रापि न प्र-
बोधयेदुपदेशेन नैव चेतयेत् । ते च विशिष्टनिद्रालस्यादितः
स्वयमेव प्रबुद्धाः सन्तएव श्रेष्ठत्वमाप्नुवन्ति तस्मात्तत्प्रबो-
धनं कोपाय सम्भवति । रजस्वलया सार्द्धं भाषणापि का-
मोद्दीपनं सद्गजन्यमालिन्यागमश्च शङ्क्यते तदभावे प्रयो-
जनाधिक्ये च भाषणमप्रतिषिद्धम् । यज्ञेऽवृतस्य गमनमप-
मानकरं स्फुटमेव । एकः स्वाद्विति पद्यं क्वचिदेव पुस्तक
उपलभ्यते विदुरनीतौ चास्त्येव ॥ ५७ ॥

भाषार्थः-(शून्यगेह एको न सुप्यात्) सूने घर में अकेला न सोवे (श्रेयांसं न प्रबोधयेत्) अपने से बड़े श्रेष्ठ किसी पुरुष को न जगावे चिंतावे वा बड़े

(उद्वयया नाभिभाषेत) और रजस्वला स्त्री के साथ भाषण न करे (अवृत्तो न च यज्ञं गच्छेत्) यजमान के विना बुलाये वा स्वीकार किये यज्ञ वा ब्रह्मभोजादि में न जावे ॥

भा०—जिस घर में बहुत काल से प्रति दिन कोई न वसता ही किन्तु प्रायः सूना पड़ा रहता हो वहां मनुष्य के विरोधी अन्य प्राणी वा अप्राणी तत्त्व, प्रधान हो जाते अपना अधिकार जमा लेते हैं उन के द्वारा अकेले सोने वाले को विघ्न वा जीवन का भय प्राप्त होना सम्भव है । पर द्वितीय मनुष्य कोई सहायक साथी हो तो विघ्नों से बचजाना अधिक सम्भव है । और जिस घर में प्रायः मनुष्य वसते हैं वहां कभी अकेला भी सोवे तो भय नहीं है । श्रेयांसम्-के स्थान में कहीं-शयानम्-ऐसा पाठान्तर मिलता है । श्रेष्ठ पुरुषों को निद्रा से अन्य समय में भी उपदेशादि द्वारा न चितावे क्योंकि वे विशेष निद्रा आलस्य कर्तव्याकर्तव्य की भूल आदि से बच कर सचेत रहते हुए ही श्रेष्ठता को प्राप्त होते हैं इस दशा में उन का चिताना कोप का हेतु हो सकता है जब कि चिताने वाले से वे सर्वथा ही जगे हुए सचेत हैं । रजस्वला स्त्री के साथ भाषण करने से कामोद्दीपन और समीप होने से सङ्ग दीष रूप मलिनता आने की शङ्का है सो कामोद्दीपनादि का सम्भव न हो और विशेष प्रयोजनार्थ बोलना आवश्यक हो तो निषेध नहीं है । यज्ञ में न बुलाने पर वा निमन्त्रण देने पर जाना अपमान का हेतु स्पष्ट ही है । इस से मन को क्षीभ हो कर धर्म में बाधा होगी ॥ ५७ ॥

इसी के आगे (एकः स्वादुः) यह विदुरनीति का श्लोक किसी २ पुस्तक में यहां भी लिखा मिलता है । अर्थ उस का यह है कि "स्वादिष्ठ वस्तु अकेला ही न खा लेवे-अन्य को भी देवे । विचारणीय विषय को अकेला न शोचे अन्य की भी सलाह लेवे । मार्ग में अकेला न चले किसी को साथ ले लेवे और सोते हुआ में अकेला न जागे स्वयं भी सो जावे वा अन्य को जगा देवे ॥ "

अग्न्यागारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च स-
न्निधौ । स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पा-
णिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥

अ०-यज्ञशालाद्यग्निस्थानेषु गोशालायां वेदविद्ब्राह्मणानां सत्कारादौ ब्रह्मयज्ञे वेदाध्ययने गुरुतो वाऽध्ययने भोजनकरणावसरे च हस्तसाध्यकार्यनिर्वृत्तये सर्वाश्रमस्थः पुरुषो दक्षिणं पाणिमुद्वरेन्नतु वाममिति ॥

भा०-कारणस्य प्राधान्यादेव दक्षिणाङ्गं वामापेक्षया सर्वत्रैव प्रधानं प्रशस्तं च पादाद्यपेक्षया शिरोवत् । तस्मादेव यादृशं यावच्च कार्यं दक्षिणाङ्गेन कर्तुं शक्नोति न तादृशं तावच्च वामाङ्गेनेति । अतएव कार्यसौलभ्यार्थं यज्ञादिपावनकार्येषु दक्षिणहस्तोत्थापनमेवोचितमिति ॥५८॥

भाषार्थः-(अग्न्यागारे गवां गोष्ठे) यज्ञ शालादि अग्नि रहने के स्थानों में, गोशाला में (ब्राह्मणानां च संनिधौ) वेद वेत्ता ब्राह्मणों के सत्कारादि में (स्वाध्याये भोजने चैव) सन्ध्योपासन, वेद पाठ तथा गुरुमुख से वेदादि के पढ़ने में और भोजन बनाने वा खाने में हाथ से सिद्ध होने योग्य कार्य करने के लिये सब आश्रमों में रहने वाला ब्राह्मणादि पुरुष (दक्षिणं पाणिमुद्वरेत्) दहिना हाथ उठावे बायां नहीं ॥

भा०-दहिना भाग प्रत्येक शरीर में उत्तम कारण से उत्पन्न हुआ है इसी कारण वार्ये अङ्ग की अपेक्षा दहिना अङ्ग सर्वत्र प्रधान और प्रशस्त माना जाता है जैसे कारण की उत्तमता से ही पग आदि की अपेक्षा शिर वा मुख उत्तम माना है । इसी कारण दहिने हाथ से जैसा और जितना काम मनुष्य कर सकता है उतना और वैसा बायें हाथ से नहीं । इसी से कार्य की सुगमता के लिये यज्ञादि पवित्रता के हेतु कर्मों में दहिने हाथ का उठाना ही उचित है ॥ ५८ ॥

न वारयेद्वां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् ।
न दिवीन्द्रायुधं दूष्ट्वा कस्यचिद्दृशयेद् बु-
धः ॥ ५९ ॥

अ०—जलं पिबन्तीं स्वकीयां परकीयां वा गां न वारयेत् ।
नच कस्यचिदन्यस्मै गां वारयितुं कथयेत् । दिव्याकाश इ-
न्द्रायुधमिन्द्रधनुर्दृष्ट्वा बुधा दर्शनदोषज्ञो न कस्यचित्कस्मै-
चिद्दर्शयेत् ॥

भा०—वारिता गौः कुपिता दुःखिता च सती शत्रुभूता
हानिकरी सम्भवति । परापकारश्चाधर्मः । इन्द्रो विद्युत्त-
स्यायुधं धनुराकारेण दृश्यमानं चिह्नं तैजसप्राधान्याच्चाक्षु-
षतेजोऽभिभावुकं सम्भवति तस्मात्स्वयमपि न पश्येन्ना-
न्यस्मै दर्शयेत् ॥ ५९ ॥

भाषार्थः—(धयन्तीं गां न वारयेत्) अपनी वा अन्य की गौ को जल पीने
से न हटावे (न चाक्षीत कस्यचित्) और जल पीने से हटाने के लिये किसी अन्य
से भी न कहे (बुधो दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा) देखने वा दिखाने के दोष को जानने
वाला पुरुष आकाश में इन्द्रधनुष को देखकर (न कस्यचिद्दर्शयेत्) किसी को न
दिखावे ॥

भा०—जल पीने से हटायी गौ कुपित और दुःखित होती हुई हानि करने
वाली शत्रुरूप होनी सम्भव है । अन्य प्राणियों का अपकार करना अधर्म स्पष्ट
ही है । आकाश में धनुष के आकार से दीखने वाला इन्द्र— विजुली का चिह्न है
वह तैजसतत्त्व प्रधान होने से चक्षु के तेज को दवाने वाला हानिकारक होता
है इस कारण न स्वयं देखे न अन्य को दिखावे ॥ ५९ ॥

नाधार्मिके वसेद् ग्रामे न व्याधिबहुलै भृशम् ।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥
न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ।
न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः
॥ ६० । ६१ ॥

अ०-यत्राधिक्येनाधार्मिका वसन्ति तादृशग्रामे न वसेत् । यत्र वायुजलान्नादिदोषाधिक्यात्प्रायेण व्याधयो व्यज्यन्ते तत्र प्रदेशेऽपि वासं न रोचयेत् । एकोऽसहायोऽध्वानं न प्रपद्येत न गच्छेत् । पर्वते च दीर्घकालं न वसेत् । शूद्रस्य राज्ये धर्मविरोधिभिः परित आवृते पाषण्डिगणैराक्रान्ते स्वायत्तीकृते च ग्रामादौ न कदापि निवसेत् । चर्मकार चाण्डालाद्यन्त्यजमनुष्यसमुदायेऽपि न निवसेत् ॥

भा०-अधर्मिसमुदाये धर्मानुष्ठाने विघ्नोत्थानं सम्भवत्येव सङ्गदोषेणाधर्मोऽपि भवत्येव । एवं व्याधिबहुले व्याधिभिराक्रान्तो धर्ममनुष्ठातुं न शक्नोति । पर्वते मृदाद्यभावाच्छौचादिकं सम्यक् कर्तुमशक्यम् । ये शूद्रा धर्मानुष्ठानाद्वारयन्त्यधर्मं वा कारयितुं प्रेरयन्ति तद्राज्ये वासनिषेधो धर्मबाधाधर्मागमभयात्कृतो बोध्यः ॥ ६० । ६१ ॥

भाषार्थः-(अधार्मिके ग्रामे न वसेत्) जहां अधिकांश अधर्मी रहते हों ऐसे ग्राम में न वसे (न भृशं व्याधिबहुले) तथा जहां वायु जल और अन्नादि के दोष से शीघ्र २ प्रायः बड़े २ भयङ्कर रोग उठते हों ऐसे प्रदेश में भी वसना स्वीकार न करे (अध्वानमेको न प्रपद्येत) विना दूसरे सहायक के साथ लिये मार्ग में अकेला न चले [चार छः मास का बालक मार्ग में सहायक नहीं हो सकता इसी से वह द्वितीय नहीं] (चिरं पर्वते न वसेत्) अधिक काल तक पहाड़ पर न वसे किन्तु प्रयोजन मात्र के लिये जाकर लौट आवे (शूद्रराज्ये न निवसेत्) शूद्र राजा के राज्य में न वसे किन्तु धर्म रक्षक क्षत्रिय के राज्य में निवास करे (अधार्मिकजनावृते) धर्म के विरोधी असुर राक्षसादि जिसके चारो ओर रहते हों ऐसे तथा (न पाषण्डिगणाक्रान्ते) वेद विरुद्ध पन्थ चलाने वाले पाषण्डियों ने अपने अधिकार में किये ग्रामादि में कदापि न वसे । और (नान्त्यजैर्नृभिरुपसृष्टे) चमार भंगी-महतर आदि अतिनीच मनुष्यों के समुदाय में वा पड़ोस में न वसे ॥

भा०—अधर्मी आदि नीचों के समुदाय में धर्म करने में विघ्नों का उठना अधिक सम्भव है तथा सङ्गदोष से अधर्म भी होता वा लगता ही है । इसी प्रकार रोग हेतु प्रदेश में रोगों से दबाया हुआ धर्म का सेवन नहीं कर सकता । पर्वत में मट्टी आदि के ठीक २ न मिलने से वा शीतादि की अधिकता से औ-चादि ठीक नहीं कर सकता । जो शूद्र राजा लोग धर्म करने से हटाते वा अधर्म करने की प्रेरणा करते दबाते हैं उन के राज्य में धर्म की हानि और अधर्म प्राप्ति के भय से वसने का निषेध किया जानो ॥ ६० । ६१ ॥

**न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् ।
नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः॥६२॥**

अ०—उद्धृतस्नेहं पिण्याकादि न भक्षयेत् [तक्रन्तु स-स्नेहदुग्धाद्यपेक्षयाऽभक्ष्यमपि सर्वं च दधिसम्भवमिति प-ञ्चमे प्रतिप्रसवेन विहितम्] अतिसौहित्यमतिवृप्तिं नाचरे-द्रुचिं न समापयेत् । अतिप्रगे उपःकालावसरे, अतिसाय-मर्द्धरात्रावसरे न भुञ्जीत । प्रातराशितः प्रातः पूर्वाह्णे सम-न्तादधिकं भुक्तवांश्चेत्सायं पुनर्न भुञ्जीत ॥

भा०—निःसृतस्नेहं सर्वं राजसं तामसं वा जायते । अति भोजनेऽजीर्णालस्यादिना धर्महानिः । उपःकालावसरे ऋ-षियज्ञबाधः । अर्द्धरात्रभोजनेऽजीर्णभयमित्यादि ॥ ६२ ॥

भाषार्थः—(उद्धृतस्नेहं न भुञ्जीत) चिकनाई जिस में से निकालली हो ऐसी पीना [खली] आदि को न खावे [दूध आदि चिकने पदार्थों की अपेक्षा म-ठा यद्यपि अभक्ष्य है तथापि — „दही से हुए सब वस्तु भक्ष्य हैं” इस पञ्चमा-ध्यायस्थ कथन के अनुसार वह भक्ष्य ही है] (अतिसौहित्यं नाचरेत्) इतना अधिक मन भर के न खावे जो अन्न से रुचि हटजाय (नातिप्रगे नातिसायम्) न अति प्रातःकाल न अत्यन्त रातगये आधीरात के समीप (प्रातराशितो न सायम्) तथा प्रातः पूर्वाह्ण में अधिक खाया होतो सन्ध्या को फिर न खावे ॥

भा०—जिस की चिकनाई निकल जाती है वह तमोगुणी वा रजोगुणी भोजन

होता है। अतिभोजन में अजीर्ण तथा आलस्यादि से धर्म की हानि होती है। उषःकाल के समय भोजन करना ऋषियज्ञ में विघ्न तथा आधीरात्रि पर अजीर्णता का भय है इत्यादि प्रयोजन से सब निषेध किया है ॥ ६२ ॥

**न कुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत्।
नोत्सङ्गे भक्षयेद् भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहलीर्दृश**

अ०—वृथा प्रयोजनरहितां चेष्टां न कुर्वीत निश्चेष्टोऽपि न तिष्ठेदपितु दृष्टादृष्टफलकान्येव कर्माणि कुर्यात्। अञ्जलिना वारि न पिबेदपितु पात्रेण। भक्ष्यान्मोदकादीन् पदार्थानुत्सङ्गैर्ज्वारुपरि निधाय न भक्षयेत्। प्रयोजनाभावे किमेतदिति ज्ञातुं कुतूहल्याश्चर्यग्रस्तो विस्मितो न भवेत् ॥

भा०—अञ्जलिना पीतमुदकं बिन्दुरूपमुच्छिष्टं पादादिषु पतति। शरीरस्योर्ध्वभागापेक्षयाऽधस्तादशुद्धं तस्मात्तत्राधानप्रतिषेधः ॥ ६३ ॥

भाषार्थः—(वृथा चेष्टां न कुर्वीत) निष्प्रयोजन व्यर्थ हाथ पांव से चेष्टा न करे और सुस्त आलसी होके भी न बैठरहे किन्तु संसार वा परमार्थ में सुख देने वाले कामों को सदा कियाकरे (अञ्जलिना वारि न पिबेत्) अञ्जली से जल न पीवे किन्तु छोटे पात्र से पिये (भक्ष्यानुत्सङ्गे न भक्षयेत्) भक्षण करने योग्य पदार्थों को जांघों वा गोड़ों पर धरके न खावे किन्तु पात्र वा पत्तों में धर के खावे (जातु कुतूहली न स्यात्) निष्प्रयोजन किसी विषय को जानने के लिये आश्चर्य के साथ विस्मित-व्याकुल वा भयभीत न होवे कि यह जाने क्या है ! ॥

भा०—अञ्जली से जल पीनेपर जूटे जल के छौंटा पग आदि पर गिरते हैं। नाभि से ऊपर के भाग की अपेक्षा शरीर के नीचे का भाग अशुद्ध है इस कारण भोज्य वस्तु को गोड़ों पर धरकर खाने का निषेध जानो ॥ ६३ ॥

**न नृत्येद्यथा गायेन्न वादित्राणि वादयेत्।
नास्फोटयेन्न च द्ध्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ६४ ॥**

अ०-रक्तो रागाधिक्येन पूर्णो हस्तं भूमिं बाह्यादिकं वा हस्तेन नास्फोटयेन्न वादयेन्न च क्ष्वेडेन्मुखेन दन्तैर्वाऽव्यक्तशब्दं कुर्यात् । न च विरावयेन्मपूरादिवच्छब्दानुकरणं कुर्यात् । सुगममन्यत्पूर्वार्द्धम् ॥

भा०-स्नातकस्तौर्यत्रिकव्यसनासक्तो धर्मकर्मणी विस्मरति रागी कामी च जायते । आस्फोटनादयश्च गीतवादित्राणामेवावान्तरभेदाः सन्तीति ॥ ६४ ॥

भाषार्थः-(न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत्) न नाचे न गावे और न मृदंगादि वाजे बजावे (रक्तो नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च विरावयेत्) राग वा प्रेम में भरकर हाथ से हाथ आदि को वा पृथिवी को न बजावे, मुख वा दातों से आँ३ वा हूँ ३ आदि अव्यक्त शब्दों के तार और मोर आदि के तुल्य बोलने वा रोनेकी नकल न करे ॥

भा०-स्नातक गृहस्थ नाचना गाना बजाना आदि बुरे व्यसनों में फस जाने पर कर्तव्य धर्म कर्म को भूल जाता और रागी-कामी [ऐयाश] होके मृष्ट होजाता है । आस्फोटन आदि गाने बजाने के ही अवान्तर भेद हैं ॥ ६४ ॥

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने ।
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥६५॥

अ०-कदापि कांस्यपात्रे पादौ न प्रक्षालयेत् । स्फुटितपात्रे मनोग्लान्युत्पादके च पात्रेऽन्नं न भुञ्जीत ॥

भा०-स्थूलांशत्वात्कांस्ये पादमालिन्यं सद्यः प्रविशति तेन पात्रं दूष्यते पादयोर्वा हानिकरः कांस्यगुणः प्रविशति । भिन्नपात्रे भोज्यं निस्सरति दूषिताशङ्कायां च मनोग्लान्या धर्म्यकर्मणि विघ्नः सम्भवति ॥ ६५ ॥

भाषार्थः-(पादौ कांस्ये-भाजने कदाचिदपि न धावयेत्) कांसि-फूल के पात्र में धर के पगों को कदापि न धोवे (न भिन्नभाण्डे न भावप्रतिदूषिते भुञ्जीत) न

फूटे पात्र में न जिस के अशुद्ध होने की मन में शङ्का हो गयी हो ऐसे पात्र में कभी भोजन करे ॥

भा०—स्थूल अंशों से बना होने के कारण कांसे के पात्र में पगों की मलिनता शीघ्र प्रविष्ट होती उस से पात्र दूषित माना जाता और कांसे का हानिकारक गुण भी पगों में प्रविष्ट हो जाता है । फूटे पात्र के छिद्रों द्वारा भोजन दाल आदि गिर सकता वा उस में मट्टी आदि लगते हैं । और दूषित होने की शङ्का में मन की ग्लानि से कर्त्तव्य धर्म में विघ्न होता है ॥ ६५ ॥

**उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।
उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥**

अ०—उपानहौ वस्त्राणि, उपवीतमलङ्कारं स्वर्णादिमयं पुष्पमालां करकं मृत्कमण्डलुमेतान्यन्येन धृतानि स्नातको न धारयेत् ॥

भा०—अन्यजनधृतवस्त्रादिभिः साकं तच्छरीरस्थमालिन्यं केचिद्रोगाश्रायान्ति तेन मनोलाघवं मनोग्लानिव्याधिसमुत्थानं च धर्मकर्मबाधकं सम्भवतीति निषेधः ॥६६॥

भाषार्थः—(अन्यैर्धृतमुपानहौ च वासश्च) अन्य मनुष्यों ने धारण किये जूता, वस्त्रों (उपवीतमलङ्कारम्) यज्ञोपवीत, कण्डलादि आभूषण (स्रजं करकमेव च) फूलों की माला और मट्टी के कण्डलु नाम करवा के (न धारयेत्) धारण न करे [लोक में इसी के अनुसार उत्तरन का धारण नीच काम मानते हैं] ॥

भा०—अन्य मनुष्यों के धारण किये वस्त्रादि के साथ उन के शरीर की मलिनता तथा कोई २ रोग भी आजाते हैं तिस से मन को ग्लानि तुच्छता और रोगों का उभड़ना होता जो कि धर्म का बाधक हो सकता है इस से निषेध किया गया जानो ॥६६॥

**नाविनीतैर्व्रजेद्ध्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः ।
न भिन्नशृङ्गाक्षिखरैर्न वालधिविरूपितैः ॥**

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः ।
वर्णरूपोपसम्पन्नैः प्रतोदेनातुदन्मृशम् ॥६७॥६८॥

अ०—अविनीतैरशिक्षितैः, बालधिविरूपितैः पुच्छर-
गहतत्वेन वैरूप्यमापन्नैर्वृषाश्वादियुक्तयानैर्न व्रजेदपितु वि-
नीतैः शिक्षितैराशुगामिभिः शुभसूचकचिह्नोपेतैर्दर्शनीयव-
र्णाकृतियुक्तैर्धुर्यैः सहितेन यानेन भृशं मुहुर्मुहुः प्रतोदेनातु-
दन्नपीडयन् व्रजेत् । नोचेदीदृशं वाहनं तदाऽधर्मभिया पद्-
भ्यामेव यायात् ॥

भा०—अविनीतेन पातनभयमन्यैर्यानि तेभ्यो दुःखप्रा-
पणेनाधर्मागमो मनोलाघवं च स्यात्तस्मात्प्रतिषिद्धं विहाय
विहितानुकूलमाचरेत् ॥ ६७ । ६८ ॥

भाषार्थः—(नाविनीतैः) न विनकड़े (न च क्षुद्रव्याधिपीडितैः) न भूख तथा
रोग से पीड़ित दुःखियों (न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैः) न जिन के सींग टूटे आंख-
फूटी और खुर बिगड़े वा टूटे हों ऐसे (न बालधिविरूपितैः) और बड़े २ बाल
जमने का स्थान पूँछ जिन के न ही बड़े-बुरे लगते हों ऐसे (धुर्यैर्व्रजेत्) बैल वा
घोड़ों से युक्त सवारी पर चले वा चढ़े किन्तु (लक्षणान्वितैः) शुभ सूचक चिह्न युक्त
(वर्णरूपोपसम्पन्नैः) अच्छे दर्शनीय रंग और अच्छी बनावट गठाव वाले (आशु-
गैर्विनीतैः) शीघ्रगामी तेज, कड़े हुए बैलों वा घोड़ों से युक्त रथ (बन्धी) पर
(प्रतोदेन भृशमतुदन् नित्यं व्रजेत्) पैना वा कोड़ा से बार २ न मारता वा पीटता
हुआ नित्य चले [यदि ऐसी धर्मानुकूल सवारी प्राप्त न होती अधर्म से डर के
पगों से चलाकरे] ॥

भा०—विन कड़े बैलादि की सवारी में गिरा देने वा रथ तोड़डालने का भय
है और अन्य भूखे आदि से युक्त रथपर चलने पर उनकी दुःख पहुंचाने द्वारा
अधर्म प्राप्त होगा तथा मन में लघुता होगी इस से निषिद्ध को त्याग के कहे
अनुसार बैल वा घोड़ों को रथ में जोड़े ॥ ६७ । ६८ ॥

वालातपः प्रेतधूमो वज्र्यं भिन्नं तथाऽऽसनम्
 न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नात्पाटयेन्नखान्
 न मृल्लोष्टं च मृदूनीयान्न छिन्द्यात्करजैस्तृणम्
 न कर्मनिष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥
 लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।
 स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च
 ॥ ६८ । ७१ ॥

अ०-वालातप उन्नतिदशामाप्तो घर्मः कन्यालग्नस्थसूर्यघर्मो वा प्रेतधूमः शवदाहधूमश्च गृहस्थेन वज्र्यं। तथा भिन्नं भग्नमासनं वज्र्यम्। स्वस्य नखलोमानि स्वयं न छिन्द्याद् व्यसनेन नापिताभावेऽतिप्रवृद्धेदने तु नायं निषेधः। तथा दन्तैर्नखान्नोत्पाटयेत्। व्यसनेन प्रयोजनमन्तरेण मृल्लोष्टं च न मृदूनीयात्करजैर्नखैस्तृणं न छिन्द्यात्। आयत्यां भाविकालेऽसुखोदयं निष्फलं कर्म न कुर्यात्। लोष्टमर्दनादिकर्मशीलो यः प्रायेणान्यस्वहितसाधनकर्माणि विहाय लोष्टमर्दनादिकमेव करोति तस्य स्वभावादिविप्रतिपत्तिर्मरणसमयागमसूचिका जायते। अन्येष्टसाधनानां विनाशोऽपि तस्य विनाशइति वक्तुं शक्यते। सूचकः खलः परापकाररतवाक्, अशुचिर्बाह्याभ्यन्तरतस्तावपीष्टसुखस्य विनाशमेवाप्नुतः ॥

भा०-सर्वमेतद्वालातपादिसेवनं चक्षुरादीनां हानिकरमिति कृत्वा त्याज्यम्। निष्फललोष्टमर्दनादिकर्मणि रतस्य

व्यर्थः कालो गच्छति तावता कालेन शुभं कर्मानुष्ठाय
स्वोपकारः परोपकारो वा कर्तुं शक्यते तेन वञ्चितो भवति ।
तृतीयपद्ये निन्दार्थवादः । विनाशो नानाविधः कथ्यते
तत्र यादृशाधिक्येन लोष्टमर्दनादौ पैशुन्यमालिन्यादौ च
रमते तादृशाण्वत्स्य विनाशोऽपि न्याय्यो विज्ञेयः ॥६९-७१॥

भाषार्थः—(वालातपः प्रेतधूमस्तथा भिन्नमासनं वर्ज्यम्) उन्नतिदशा को प्राप्त
चढ़ता हुआ घाम वा कन्या के सूर्य (कार मास) का घाम, जलते हुए मुर्दा का धुं-
आं और बैठने लेटने का फटा टूटा आसन त्याज्य है (नखलोमानि न खिन्द्यात्)
अपने नखों और लोमों-वालों को स्वभाव से निष्प्रयोजन स्वयं छेदन न करे यदि
आई के न मिलनेपर अधिक बढ़े हुए नख लोम कभी स्वयं काटने पड़ें तो उस के
लिए यह निषेध नहीं है (दन्तैर्नखान्नीत्पाटयेत्) दांतों से नखों को न उखाड़े
(मृत्तलोष्टं च न मृदनीयात्) प्रयोजन के विना व्यसन के साथ मट्टी के ढेलों
को न फोड़ा करे (करजैर्नखं न खिन्द्यात्) हाथ के नखों से हाथ पांव के नखों को
न तोड़े वा काटे (आयत्यामसुखोदयं न) आगामी काल में जिसका फल प्र-
सिद्ध सुख का उदय न हो ऐसा कर्म न करे तथा (निष्फलं कर्म न कुर्यात्) नि-
ष्फल मानस कर्म न करे [मन के मोदक-सेखचित्ली कासा विचार न करे] श-
रीर से वृथा कर्म का निषेध [न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्] से आचुका है (लोष्टमर्दो तृ-
णच्छेदी नखखादी च यो नरः) जो पुरुष ढेला फोड़ने, तिनका तोड़ने और दां-
तों से नखों को खाने का स्वभाव डालता है (स आशु विनाशं व्रजति) वह शीघ्र
ही विनाश को प्राप्त होता (च) और (सूचकोऽशुचिरेव च) सूचक इधर की
उधर झूठी बातें जोड़ कर लड़ाई कराने तथा अशुद्ध मलिन रहने के स्वभाव वाला
भी विनाश को प्राप्त होता है अर्थात् बुद्धि के भ्रष्ट हो जाने से सुख से च्युत होता
वा मर भी जाता है ॥

भा०—चढ़ते घाम आदि का सेवन चक्षु आदि के लिये हानिकारक होने से
त्याज्य है । ढेला फोड़ने आदि निष्फल कर्म में लगे रहने वाले का समय व्यर्थ
जाता है उसी काल में शुभ कर्म का सेवन करके अपना वा अन्य का उपकार कर
सकता उस से वञ्चित होजाता है । तृतीय श्लोक में निन्दारूप अर्थवाद है । वि-
नाश अनेक प्रकार का कहा वा माना जाता है । उस लोष्टमर्दन-ढेला फोड़ने

आदि काम में वा पिशुमता मलिनतादि कर्म में जैसा २ अधिक २ लगता है वैसे ही उस का बिनाश भी न्यायानुकूल जानो । अन्य कक्षा के निष्फल कामों में अधिक रमण करना शरीर के भी नाश होने का कारण होगा ॥ ६९-७१॥

**न विगृह्य कथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत् ।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥७१॥**

अ०—विगृह्य विग्रहपूर्वकं कथां कथनं क्वापि न कुर्यात् । बहिर्वाससामुपरि माल्यं पुष्पादिमालां न धारयेत् । गवां वृषभाणां पृष्ठेन पृष्ठमारुह्य कुत्रापि यानं गमनं सर्वथैव विगर्हितं निन्दितं त्याज्यम् ॥

भा०—विग्रहहेतुकवार्त्तालापेनान्यापकारात्क्रोधोत्पत्तिसम्भवाच्चाधर्मः । बहिर्मालाधारणेन शृङ्गारासक्तितो धर्महानिर्मालायाः शरीरआसङ्गनेन जायमानगुणहानिश्च । पृष्ठेन गमने पशोः कष्टाधिक्येनाधर्मः पशुत्वस्य स्वदेहेऽतिसङ्गेनागमनमत्तो वर्जितानि । सर्वथैव पृष्ठेन यानं विगर्हितमिति कथनादर्थादापन्नं गोजुक्तयानेन गमनेऽप्यल्पो दोषोऽस्त्येवेति ॥ ७२ ॥

भाषार्थः—(न विगृह्य कथां कुर्यात्) किसी प्रकार का व्याख्यान चर्चा वार्त्ता ऐसी न करे जिस से किसी की हानि वा लड़ाई होना सम्भव हो (बहिर्माल्यं न धारयेत्) अंगरखा आदि वस्त्रों के ऊपर फूल आदि की माला न पहिने (गवां च पृष्ठेन यानं सर्वथैव विगर्हितम्) और बैलों की पीठ पर चढ़के कहीं कोजाना सर्वथा ही बुरा है ॥

भा०—लड़ाई कराने वाले वार्त्तालाप से अन्य का अपकार और क्रोध आने से धर्म की हानि और अधर्म का होना सम्भव है । माला की वस्त्रों के बाहर पहरने से—शृङ्गार की ओर झुकावट होने से अधर्म होगा और माला के शरीर से लगे रहने पर प्रबिष्ट होने वाले शुभगुण की भी हानि होगी । पीठ पर चढ़कर

चलने में पशु को अधिक कष्ट पहुंचने से अधर्म होगा और पशु के साथ अधिक लगने से पशुपन का नीचगुण अपने में आवेगा इस से ये सब काम त्याज्य हैं । पीठ पर चढ़ के जाना सर्वथा निन्दित है ऐसा कहने पर अर्थापत्ति से सिद्ध होता है कि बैल गाड़ीपर चलने में भी पीठ पर चढ़ने की अपेक्षा थोड़ा दोष अवश्य किन्तु पगों से चलना सब से अच्छा उस में कोई दोष नहीं है ॥ ७२ ॥

**अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वा ऽऽवृतम् ॥
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥**

अ०-ग्रामं वेश्म प्राकारादिना ऽऽवृतं नगरदुर्गादिकं वा-
ऽद्वारेण नातीयादतिक्रम्य न कदापि गच्छेत् । रात्रौ च वृक्ष-
मूलानि दूरतस्त्यजेन्न कदापि वृक्षमूल्यान्यतिक्रम्य क्वापि
गन्तुमीहेत ॥

भा०-अद्वारतो गमनैर्न कष्टाधिक्यं चौरादिवन्निग्रहश्च
स्यात् । रात्रौ वृक्षमूलानि तमःप्राधान्यात्सर्वाण्येव न दृ-
ष्टिगोचराणि भवन्ति तस्मात्पतनसम्भवः ॥ ७३ ॥

भाषार्थः—(ग्रामं वा वेश्म वा ऽऽवृतमद्वारेण च नातीयात्) ग्राम में घर में
वा परकोटा से घिरे हुए नगर वा किला में द्वार से भिन्न कुमार्ग वा भित्ति आ-
दि फांदकर न घुसे (वृक्षमूलानि च रात्रौ दूरतः परिवर्जयेत्) और रात्रि में
चलते समय वृक्षों की जड़ों को दूर से बचाकर निकले ॥

भा०—विना द्वार कुमार्गादि से घुसने पर अधिक कष्ट होना और चौरादि के तुल्य
पकड़ा जाना सम्भव है । अन्यकार की अधिकता से रात्रि में वृक्षों की जड़ें ठीक २
नहीं दीखसकतीं इस से टेवा लगकर गिरजाना सम्भव है । ॥ ७३ ॥

**नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् ।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥**

अ०—कदाचिदप्यक्षैर्न क्रीडेत् । स्वस्योपानहौ स्वयं
हस्ताभ्यां न कदापि हरेत् । शयनस्थो न भुञ्जीत, आसने

भोज्यं धृत्वा न भुञ्जीत । पाणिस्थं भोज्यं कृत्वा न भुञ्जी-
तापितु पात्रे पत्रेषु वा धृत्वा दक्षिण हस्तेनाद्यात् ॥

भा०—द्यूतक्रीडा सर्वाधर्मकरीति नवमे वक्ष्यति । उ-
पानहावशुद्धौ शय्यासने च । दक्षिणापेक्षया वामाङ्गस्य स्-
भावेनैव निकृष्टत्वम् । तस्मान्न तत्र धृत्वा खादेत् ॥ ७४ ॥

भाषार्थः—(अक्षैः कदाचित्तु न क्रीडेत्) जुआ कदापि न खेले (स्वयं नोपा-
नहौ हरेत्) अपने जूतों को अपने हाथ में लेकर कदापि न चले (शयनस्थो न
भुञ्जीत्) खटिया आदि सोने के स्थान पर बैठ कर भोजन न करे (न पा-
णिस्थं न चासने) तथा हाथ में पकड़ के और आसन पीढा आदि पर भोज्य
वस्तु को धरके न खावे किन्तु पात्र में वा पतली आदि में धर के हाथ से खावे ॥

भा०—जुआ खेलना सब अधर्मा का मूल है यह नवमें अध्याय में ग्रन्थकार
स्वयं कहेंगे । जूता, शय्या और आसन स्वयमेव अशुद्ध हैं । दहिने हाथ की अ-
पेक्षा वांया हाथ स्वभाव से ही निकृष्ट है और हाथपर धर के खाने वाला वायें
हाथ पर धरके ही खावेगा इस से निषेध किया गया ॥ ७४ ॥

सर्वचतिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ ।

नचनग्नःशयीतेह नचोच्छिष्टःक्वचिद्ब्रजेत् ॥

अ०—तिलमिश्रं सर्वमेव वस्तु सूर्यास्तानन्तरं रात्रौ ना-
द्यात् । इह संसारे गृहे वा नग्नो न शयीतापितु वासोऽपि-
धायैव स्वप्यात् । नच क्वाप्युच्छिष्टो ब्रजेत् ॥

भा०—तिलग्रहणमुपलक्षणार्थम् । तेन घृताद्यपेक्षया
तिलास्तज्जन्यवस्तूनि च सर्वाण्येव तामसानि । रात्रौ च
स्वभावेनैव तमो वर्धते स्वयं कारणतस्तदानीं तमोवर्द्धनेन
प्रातरुत्थानादिहानिः स्फुटा तस्माद्रात्रौ तामसं वस्तु न कि-
मपि खादेत् । नग्नशयने कामाप्यायनादयो दोषाः । उच्छिष्ट-

गमनेन मुखाशुद्धेर्बुद्धिहानिः । विचारशक्तिरूपा सर्वा बुद्धिः
शिरःप्रधानस्थितिका ॥ ७५ ॥

भाषार्थः—(अस्तमिते रवौ तिलसंबद्धं सर्वं च नाद्यात्) सूर्यास्त होने पश्चात्
त्रे में तिल वा तिल मिलाकर बनाये किसी भी वस्तु को न खावे (इह नग्ने
नच शयीत) यहां गृहाश्रम वा जगत् में नङ्गा ही कर न सीवे किन्तु वस्त्र पहन
ओढ़ के ही सीवे (उच्छिष्टः क्वचिन्न च ब्रजेत्) और जूटे कहीं न जावे ॥

भा०—यहां तिलग्रहण उपलक्षणार्थ है । दुग्ध घृतादि की अपेक्षा तिल और
तिल से बने सब पदार्थ तमोगुणी होंगे । और रात्रि में स्वभाव से ही तमोगुण
बढ़ता है उस समय यदि विचारपूर्वक कारण से तमोगुण बढ़ाया जाय तो प्रातः
काल के उठने आदि में हानि स्पष्ट ही होगी इस से रात्रि में तमोगुणी वस्तु
कुछ न खावे । नंगे सोने में कामासक्ति बढ़ने आदि दोष हैं । कहीं उच्छिष्ट जाने
से मुख के अशुद्ध होने के कारण बुद्धि की हानि होती है क्योंकि विचार शक्ति-
रूप बुद्धि की प्रधानता शिर में रहती है ॥ ७५ ॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तुसंविशेत् ।

आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

अ०—आर्द्रपादस्तु पादौ प्रक्षाल्याशुष्काभ्यामेव भुञ्जीत ।
पादौ प्रक्षाल्य शोषयित्वा च शयीत । आर्द्रपादो भुञ्जानो
दीर्घमायुरवाप्नुयादवाप्नोति ॥

भा०—क्षुधितस्याग्निर्वृद्धिगती भवति सचोदरेऽन्नजल
प्रवेशेनाधोगन्तुं प्रवर्त्तते । तस्याधोगमनं चापानाश्रितमृत्यु-
साहाय्येन मृत्योः कारणं सम्पद्यते । पादयोश्च क्लिन्नयोर्न
जाठराग्निरधो याति । तत्र स्थित्या च सम्यगन्नपाचनेन
जायमानमारोग्यमायुषो वर्धकम् । एवंप्रकारेणास्य पद्य-
स्योत्तरार्द्धे प्रशंसार्थवादः ॥ ७६ ॥

भाषार्थः—(आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत) तरंकाल धीये हुए गीलेपगों से भोजन किया करे (नार्द्रपादस्तु संविशेत्) परन्तु गीले पगों से सोने का आरम्भ न करे किन्तु धीये पगों की सुखाकर सोवे (आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्) गीले पगों भोजन करने वाला दीर्घ आयु को प्राप्त होता है ॥

भा०—भूखे मनुष्य का भीतरी अग्नि तेज होता है इसी कारण भूख लगती अं भूख लगने पर ही प्रायः खाता है । सो उदर में अन्न जल पहुंचने से वह अग्नि नीचे की खिसकता और उस का नीचे को जाना अपान का सहायक हीके मृत्यु का कारण बनता है क्योंकि अपान के साथ ही मृत्यु का निवास है । और पग गीले होने पर जाठराग्नि नीचे को नहीं जाता किन्तु वहीं उदर में ठहर के स-स्यक् अन्न पचाने द्वारा आरोग्यता करके आयु को बढ़ाता है । इस प्रकार यहां उत्तरार्द्ध में प्रशंसारूप अर्थवाद है । सोते समय मानसाग्निस्वयं स्वस्थमन्द शिथिल तमोग्रस्त मृत तुल्य होता है इस से शीत पहुंचाने से तमोगुण और बढ़ेगा इस कारण पग धोके सोना निषिद्ध है ॥ ७६ ॥

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् ।

न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥७७॥

अ०—अचक्षुर्विषयं यत्स्वयं न दृष्टं तादृशं दुःखेन गन्तुं योग्यं गर्त्तगुल्मलतादिना गहनमार्गं स्थानं कदापि गन्तुं नेहेत । स्वस्यायस्य वा विण्मूत्रं नोदीक्षेत बाहुभ्यां नदीं न तरेत् । सर्वाण्येतानि व्यसनेन नैव कुर्यात् ॥

भा०—दुर्गस्थानाय गमने विपदागमसम्भवः । विष्ठा-द्यतिमलिनवस्तुदर्शनेन बुद्धिमालिन्यं तेन धर्महानिः । प्र-योजनमन्तरेण नदीतरणं प्रतिषिद्धं निमज्जनग्राहादिभयात् ॥

भाषार्थः—(अचक्षुर्विषयं दुर्गं कर्हिचिन्न प्रपद्येत) गड्ढे वा मयंकर बन झारी आदि की रुकावट से जहां पहुंचना अति कठिन हो ऐसे स्वयं न देखे किन्तु सु-ने हुए स्थान को देखने के लिये कदापि न जावे (विण्मूत्रं नोदीक्षेत) अपने वा अन्य के विष्ठा मूत्र को समझ पूर्वक कदापि न देखे (बाहुभ्यां नदीं न तरेत्) बाहु द्वारा नदी को व्यसन से न तरे ॥

भा०—जिस में पहुंचना कठिन है ऐसे स्थान को जानने में कोई विपत्ति आ-जाना सम्भव है। विषादि अति मलिन वस्तु के देखने से बुद्धि की मलिनता होती और उस से धर्म की हानि होती है। और डूबने वा ग्राहादि का भय होने से प्रयोजन के बिना नदी तरना निषिद्ध है ॥ ७७ ॥

**अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः।
न कार्पास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥७८॥**

अ०—दीर्घमायुर्जिजीविषुर्जनः केशान्, भस्म, अस्थि, कपालिकाः, कार्पास्थि, तुषानेतान्यसारवस्तूनि निःसत्त्वानि नाधितिष्ठेत् ॥

भा०—निःसारमृतप्रायवस्तूनामुपरिस्थित्या सङ्गदोषेण स्वदेहेऽसारत्वं मरणहेतुकमाविशति तस्मात्सारस्यैव स्व-देहेन संयोगोऽधिकजीवनस्य हेतुर्विज्ञेयः ॥ ७८ ॥

भाषार्थः—(दीर्घमायुर्जिजीविषुः केशांस्तु नाधितिष्ठेत्) दीर्घकाल तक जीवन की इच्छा रखने वाला पुरुष वालों पर न बैठे (न भस्मास्थिकपालिकाः) राख, हड्डी और खप्परों पर [बिछी हुई गुट्टियों पर] भी न बैठे (न कार्पास्थि न तुषान्) न कपास के बिनोलों पर और न भूसी पर बैठे ॥

भा०—मृतसमान निस्सार वस्तुओं पर बैठने से सङ्ग दोष के द्वारा मरण वा निस्सार बनाने का हेतु असारपन बैठने वाले के देह में प्रविष्ट होता है। इस कारण अपने शरीर के साथ सार वस्तुओं का संयोग ही अधिक जीवन का हेतु है यह सर्वथा ही सत्य जानो ॥ ७८ ॥

**न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुलकशैः।
न मुखैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः॥**

[न कृतघ्नैर्नुद्युक्तैर्न महापातकान्वितैः ।

न दस्युभिर्नाशुचिभिर्नामित्रैश्च कदाचन ॥]

अ०-ग्रामेऽरण्ये तरुच्छायादौ च पतितैश्चाण्डालैः पु-
ल्कशैर्मूर्खैर्वितैरन्त्यैश्चर्मकारादिभिरन्त्यावसायिभिर्निषाद-
स्त्रीषु चाण्डालाज्जातैश्च सह स्नातको न संवसेत् ॥

भा०-सङ्गदोषेण धर्महानिरधर्मागमश्च जायते तस्मात्-
दृशवासनिषेधः । न कृतघ्नैरिति पद्यं कुत्रचिदुपलभ्यते ॥७६॥

भाषार्थः—ग्राम में वन में वा वृक्षादि की छाया में भी (न पतितैर्न चा-
ण्डालैर्न पुल्कशैश्च संवसेत्) अधिक पापों के कारण जात्यादि से पतितों, चाण्डा-
लों [भंगियों] और निषाद से शूद्र कन्या में उत्पन्न हुए पुल्कस वा पुवकसों
[जिन को पाशी वा धानुक कहते हैं] के साथ न बसे न बैठे (न मूर्खैर्नाव-
लिप्तैश्च) अच्छे वर्णों में कहाते हुए भी मूर्खों तथा बड़े अहंकारियों के साथ
निवास न करे और (नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः) धोवी चमार आदि नीचों तथा
निषाद की स्त्री में चाण्डाल पुरुष से उत्पन्न हुए अन्त्यावसायी अथवा नीचों से
मेल रखने वालों के साथ भी स्नातक द्विज निवास न करे ॥

भा०-नीचों के संग का दोष अवश्य लगने से धर्म की हानि और अधर्मकी
प्राप्ति दोनों होती हैं । इस से वैसें के साथ बसने का निषेध किया है । इससे
आगे एक (न कृतघ्नैः) इत्यादि श्लोक किसी पुस्तक में लिखा मिलता है
जिस का अर्थः—कृतघ्नों, धर्म में उद्योग न करने वालों, ब्रह्महत्यादि महापातक
वालों, डाकुओं, चोरों, अशुद्ध रहने वालों और शत्रुओं का भी संग कभी न करे ॥७६॥

नशूद्रायमतिदद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।

न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्यव्रतमादिशेत् ॥८०॥

अ०-शूद्राय प्रसङ्गादेवातिशूद्राय [यः शुभमप्यशुभं
कृत्वा विपरीतमाचरति] मतिं न दद्यात्त्वथैवं कार्यमेवं न
कार्यमिति नोपदिशेत् । उच्छिष्टं न दद्यात्, हविष्कृतं न
दद्यात्, अस्य धर्मं वैदिकं कर्त्तव्यं नोपदिशेत्, न चास्य
व्रतं कर्त्तुमादिशेत् ॥

भा० - चातुर्वर्ण्यतिरिक्तरथकारादीनां वेदोक्तयज्ञानु-
ष्ठानस्याधिकारो मीमांसाशास्त्रकारैः प्रदर्शितः । मनुनापि
दशमोक्तम्—“धर्मैप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः । म-
नुनापि प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च” इत्यादिप्रमाणदर्श-
नादिदमेवानुमीयते ये धर्मं ज्ञातुं कर्तुं वाऽभीप्सन्ति न तदर्थं
निषेधोऽपितु येषां धर्मविरुद्धकृत्ये दृढोऽचलो व्यवसायस्ते
लोकगतानुगतिकतया ब्राह्मणाद्युच्चनामभिर्व्यवह्रियमाणा-
अपि विपरीतपरिणामभिया न कदाप्युपदेश्या इत्येवाऽयं
दृढाशयः साधु । एवं मत्वैव नीतिज्ञैरुक्तमेतत्—“उपदेशो
हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये । पयःपानं भुजङ्गानां के-
वलं विषवर्द्धनम्” तादृशानां च येनोपायेन स्वकृत्ये ग्लानिः
शुभज्ञानेच्छा चाङ्कुरिता स्यात्तादृशोपायस्तु न कदापि प्र-
तिषिद्धः । अशक्तएव सदा तत्रतत्रानधिकृतइति ॥ ८० ॥

भाषार्थः—(शूद्राय मतिं न दद्यात्) अतिशूद्र अतिनीच को अच्छी सलाह न देवे
कि तुम ऐसा ही करो वा बोलो ऐसा नहीं बर्योकि वह अच्छे को भी बुरा बना
कर उलटा ही आचरण करता है (उच्छिष्टं न दद्यात्) शूद्र को जूठा अन्न न देवे
(न हविष्कृतम्) यज्ञ का शेष हविष्यान्न भी शूद्र को न देवे [जूठा अन्न
देने पर स्वभाव से दुष्ट पुरुष का कोप करना सम्भव है । यदि वह उच्छिष्टान्न
को गुरुभक्ति के तुल्य प्रसन्नता से नहीं चाहता तो भी निष्फल है । और शूद्र
हविष्यान्न शूद्र को देना व्यर्थ वा निष्फल इस कारण है कि उस के अधिक म-
लिनांशों में मिल के हविष्यान्न भी मलिन हो जायगा । यदि उत्तम द्विज को
मिले तो उस के थोड़े मलिनांश का शोधक होगा । अर्थात् गधे को लवण देने
के समान होगा चाहे यों कहो कि मलिन पृणित कीचड़ के समुदाय में उत्तम
वस्तु को डाल के बिगाड़ देना है] (अस्य धर्मं च नोपदिशेत्) इस शूद्र के लिये
वेदोक्त यज्ञादि धर्म का भी उपदेश न करे (नचास्य व्रतमादिशेत्) और इस
को चान्द्रायणादि व्रतों के करने की भी आज्ञा न देवे ॥

भा०-चारों वर्णों से भिन्न संकर जातियों में वर्तमान रथकारादि [बढ़ई आदि] को भी वेदीय यज्ञ करने का अधिकार मीमांसाशास्त्रकारों ने दिखाया है। और दशवें अध्याय में मनुजी ने भी लिखा है कि “श्रेष्ठ पुरुषों कासा वर्त्ताव करने वाले धर्म के जिज्ञासु धर्म में ही सर्वोपरि रुचि रखने वाले धर्म के किन्हीं समी से जानकार शूद्रों को वेद से भिन्न धर्म का उपदेश करने का अधिकार देने का करने में कोई दोष नहीं किन्तु अच्छी उत्तम बातों का अच्चे शूद्र को भी धर्ममार्ग जताया जाय और वह धर्म करे, इत्यादि प्रमाण दीख पड़ने से यही सिद्धान्त ठीक ठहरता है कि जो शूद्र लोग धर्म को जानना और करना चाहते हैं जिन की धर्म में रुचि है उन के लिये यह निषेध नहीं है किन्तु जिन को धर्म से विरुद्ध विपरीत उलटा चलने में ही दृढ़ अचल निश्चय हो रहा है जो वन्दरी के वच्चे के तुल्य भरणपर्यन्त कितना ही समझाने पर भी अपने उलटे विचार को नहीं छोड़ना चाहते ऐसे लोग चाहे शूद्र हों वा लोकचाल से ब्राह्मणादि कहाते हों उन सभी ब्राह्मणादि उच्चनाम से प्रसिद्धों को भी उलटा परिणाम होने के भय से धर्मादि का उपदेश कदापि नहीं करना चाहिये क्योंकि वे सभी अनधिकारी हैं यही आशय सत्य है। ऐसा मान कर ही नीतिज्ञानियों ने स्पष्ट कहा है कि “अच्छा उपदेश भी मूर्खों को कोप कराने वाला ही होता है। जैसे कि सांप को दूध पिलाने से उस का विष ही बढ़ेगा अच्छा फल कुछ नहीं हो सकता, वैसे मूर्ख वा अतिनीच शूद्रों को जिस उपाय से अपने उलटे कामों में ग्लानि और शुभ धर्मादि के जानने की इच्छा अङ्कुरित हो वैसे उपाय उन के साथ करना कभी निषिद्ध नहीं है। असमर्थ को ही सदा उस २ विषय में वैसे अनधिकार और जो जितना वा जैसा जिस अंश में समर्थ वा योग्य है उस को वैसे अधिकार भी शास्त्रों के सिद्धान्त से अवश्य ही निकलता है ॥ ८० ॥

**यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशतिव्रतम् ।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥८१॥**

अ०-यः पुरुषोऽस्य शूद्रस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवाद्य ब्र-
तमादिशति सोऽसंवृतं विस्तृतं तमस्तमोगुणरूपमज्ञानं नरकं
दुःखमयं प्राप्य तेनैव सह मज्जति ॥

भा०— सामान्याचारविषयकशुभमत्युच्छिष्टदानाद्यपेक्षया नियमधर्मोपदेशोऽधिको दोषइति ज्ञापयितुं द्वयोरत्रानुवादः । तयोरेव प्राधान्यात्तयोर्व्याघातोऽधिकहानिकरः । प्रबलप्र-
~~सम्मिलितं शुभमप्यशुभत्वमापद्यतएवं शुभ-~~
~~प्राबल्येऽशुभमल्पमपि शुभं जायते । यत्र चाशुभमचलत्व-~~
~~मापन्नं सएवात्र शूद्रपदवाच्यं तस्मिन्नासज्यमानोऽपि धर्मो~~
व्याहन्यतेऽधर्मः सम्भवति प्रकीर्णरूपेण तस्मान्नियमध-
र्मापदेशोऽधिको दोषइति सूक्ष्ममीक्षणीयम् । यत्र चोपदेशे
धर्मव्याघातो नैव सम्भाव्येत तत्र «न धर्मात्प्रतिषेधनम्»
इत्यादिवचांति चरितार्थानि बोधयानीति सर्वं सङ्गतम्॥८१॥

भाषार्थः—(यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे) जो पुरुष इस शूद्र को धर्म का उपदेश देता (यश्चैवादिशति व्रतम्) और जो इस को व्रत करने की आज्ञा देता है (सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति) वह तमोगुणरूप विस्तृत अज्ञानान्धकार को प्राप्त होके उसी शूद्र के साथ डूबता अर्थात् उस का अधिक साथ होने से वैसा ही अज्ञानी हो कर संसारसागर में गोते खाता है ॥

भा०—शूद्र को सामान्य आचरण रुक्न्धी शुभमति वा उच्छिष्ट देने आदि की अपेक्षा नियम धर्म का उपदेश देने में अधिक दोष है यह जलाने के लिये यहां नियम वा धर्म दीनों का ही फिर से अनुवाद करके निन्दार्थवाद कहा है । उर्हीं दो के मुख्य होने से उन का बिगड़ना अधिक हानिकारक है । प्रबल तथा प्रधान अशुभ बुराई के साथ मिल कर शुभ भी अशुभ हो जाता है । इसी प्रकार अच्छे शुभ की प्रबलता में अशुभ भी शुभ हो जाता है । और जहां अशुभ अचल दृढ़ है वही यहां शूत्रपदवाच्य है । उपदेशादि द्वारा उस को सौंपा हुआ धर्म भी नष्ट होता—अधर्म हो जाता है इस से नियम धर्म का उपदेश करने में अधिक दोष है [इस अंश को सूक्ष्मदृष्टि से विचारी शोचो] और जिस को धर्मोपदेश करने में धर्म का नाश होना सम्भव न हो वहां [धर्म के सेवने से शूद्र को रुकावट-निषेध नहीं] दशवें अध्याय आदि में कहे इत्यादि वचनों की अवकाश मिले गा । वहां के लिये निषेध नहीं इस से सब कथन ठीक निर्विकल्प है ॥ ८१ ॥

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
 न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो नच स्नायाद्विना ततः ॥
 केशग्राहान् प्रहारांश्च शिरस्येतान् विवर्जयेत् ॥
 शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गकिञ्चिदप्यस्पृशेत् ॥

अ०—संहताभ्यां पाणिभ्यामात्मनः स्वस्य शिरो न कण्डूयेत् । उच्छिष्टः संप्रैतच्छिरो न स्पृशेत् नच शिरो वर्जयित्वा स्नायात् । स्वस्थान्यस्य वा शिरसि केशग्राहान् प्रहारांश्चैतान् विवर्जयेत् । तैलेन शिरसा स्नातश्च जनस्तेनैव किञ्चिदप्यन्यदङ्गं न स्पृशेत् ॥

भा०—तस्मान्मेध्यतमस्त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा । इत्यस्मिन्नेव ग्रन्थउक्तम् । सर्वाङ्गापेक्षयात्यन्तमुत्तमं शिरस्तद्विशेषरोगादिकारणमन्तरेण स्वस्थदंशायां स्नानादिना शोधनकाले न त्यजेदपित्वन्याङ्गापेक्षया स्वयं शुद्धस्यापि शिरसो नैमित्तिकभालिन्यवारणायाधिका शुद्धिः कार्या । उच्छिष्टहस्तादिस्पर्शाऽपि यत्नेन त्याज्यः । तस्याघाताऽप्यन्याङ्गापेक्षया विशिष्टहानिकरस्तस्मान्न कस्यापि शिरस्याहन्यात् । हस्तद्वयसंयोगेन कण्डूयनासंभवे सहैव हस्तद्वयेन कण्डूयनप्रतिषेध आघातवर्जनार्थ एव । अन्याङ्गलग्नं तैलं शिरसि न योजयेदन्याङ्गं स्पृष्ट्वा शिरो न स्पृशेत् । सर्वत उत्तमस्य तादृशमुत्तमत्वं सर्वथैव रक्षणीयमिति ॥ ९३ ॥

भाषार्थः—(संहताभ्यां पाणिभ्यामात्मनः शिरो न कण्डूयेत्) दोनों हाथों से एक साथ अपना शिर न खुजलावे (उच्छिष्टएतन्न स्पृशेत्) जूठे हाथों से

शिर को न कुवे (ततो विना न च स्नायात्) शिर को छोड़ कर स्नानादि शुद्धि न करे किन्तु सब से पहिले उत्तमाङ्ग शिर की शुद्धि करे (केशग्राहान् प्रहारान्द्वैतान् शिरसि विवर्जयेत्) अपने वा अन्य के शिर के केश पकड़ के खेंवना वा शिर में हाथ आदि से मारना विशेषकर छोड़देवे (तैलेन शिरःस्नातश्च किंविदप्यङ्गं न स्पृशेत्)
 हो तो वही तैल अन्य किसी पगादि अङ्ग में न लगावे अर्थात् अन्यत्र लगा तैल शिर में न पहुंचे ॥

भा०—मदरा से भी अत्यन्त पतल शिर माना गया है यह इसी ग्रन्थ में कहा है । सब अङ्गों की अपेक्षा से अत्यन्त उक्त शिर है उसकी विशेष रोगादि का भय न होनेपर स्वस्थदशा में स्नानादिद्वारा शुद्धि करने के समय प्रथम शुद्ध किये विना न छोड़े किन्तु अन्य शरीरावयवों की अपेक्षा स्वभाव से ही शुद्ध भी शिरकी नैमित्तिक भीतर बाहर से निकलने लगनेवाली मलिनता के निवारणार्थ अधिक शुद्धि करनी चाहिये अर्थात् उत्तमाङ्ग को उत्तम शुद्ध रखना ही अत्युत्तम है । इसी कारण जूटेहाथ से स्पर्श करना भी सदा विचारपूर्वक त्याज्य है । उस शिर में मारना भी अन्य अङ्गों की अपेक्षा अधिक हानिकारक है शिर जीवन वा चेतनता शक्ति की स्थिति का मूल होने से ही मूँड़ कहाता है इस से किसी के शिर में कुछ न मारे । दोनों हाथ मिलाकर खुजलाना असंभव होने से एकसाथ दोनों हाथों से खुजलाने का निषेध भी पीड़ा न पहुंचने के लिये है । अन्य शरीर में लगा तैल शिर में न लगे अन्य शरीर छूकर शिर को न कुवे यह सब शिर की उत्तम शुद्धि रखने के लिये है । जिससे अच्छी शुद्ध धर्माधर्म का विवेचन करने वाली बुद्धि में कोई बाधा न पहुंचे ॥ ८२ । ७३ ॥

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ।

सूनाचक्रध्वजवतां वेषेनैव च जीवताम् ॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।

दशध्वजसमो वेषो दशवेषसमो नृपः ॥

दश सूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।

तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः।
 स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥
 तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ-
 नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥
 संजीवनं महावीचिं संप्रतापनं संप्रतापनम् ।
 संहारं च सक्तकालं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम् ॥
 लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम्।
 असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥
 एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।
 न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्यश्रेयोऽभिकाङ्क्षिणाः
 ॥ ८४-८९ ॥

अ०-अराजन्यप्रसूतितो-राजन्यः क्षत्रधर्मकर्मयुक्तस्त-
 द्भिमिन्नात्प्रसूतिरस्य तादृशाद्राज्ञो दानं स्नातको नाददीत ।
 सूनाचक्रध्वजवतां-सूनापशुवधस्थानं तद्येषामस्ति तेषां
 सूनावतां-प्राणिनो हत्वा मांसविक्रयेण जीवताम् । लोके
 खटिकइति प्रसिद्धाइति मेधातिथिः, यवनादयोपीत्यन्ये ।
 चक्रवतां तैलिनां शकटवाहनजीविनां चेत्यन्ये । ध्वजवतां म-
 धनिर्माणविक्रयणशीलिनां वेषेणैव च जीवतां बहुहृपिणां
 पण्ययोषितां [अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति]
 इत्येतदनुसृत्य ये ब्राह्मणब्रह्मचारिसंन्यास्यादीनां वेषं धृत्वा

जीवन्ति वस्तुतस्तु न ये ब्राह्मणादयस्तेषामपि स्नातकः
 प्रतिग्रहं नाददीत । चक्रं चक्रजन्यमाजन्मिकं पापं दशसूनास
 ममेवमुत्तरेष्व पापाधिक्यं बोध्यम् । यः सौनिकः सूनया
~~सूनासहस्राणि वाहयति घातयति तत्तुल्यो~~
 निकृष्टप्रकृतित्वात्स्वधर्मनिष्ठो जरासन्धवकादितुल्योऽपि
 दैवात्प्राप्ताधिकारो राजाऽभिमतस्तस्मात्तस्य घोरः प्रतिग्र
 हो न कदाप्यादेयः । नरकादीनां प्राप्तेऽदर्शने दातुरादातुर्दान-
 स्य च निकृष्टतायास्तारतम्यानुकूलो निन्दाधवादो बोध्यः ॥

भा०—नायमर्थवादोऽसंगतोऽपित्वर्थवानेवास्ति । स-
 र्वत्रैव निकृष्टानामधर्मिणां च तारतम्येन नानाप्रकाराः स-
 म्भवन्ति । राजपदेनापि नानाभेदभिन्नाः कस्यापि क्रिय-
 तोऽपि समुदायस्योपरिकृताधिकारणो ग्राह्याः । यदर्थमे-
 तदुक्तम्—“उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य, प्राग्जात-
 विस्तृतनिजाधमकर्मवृत्तेः । दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषो-
 ऽस्य, नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः ? ” एवंविधा बहवो
 मध्येमध्ये दैवप्राबल्यात्प्राप्ताऽधिकाराः खलोद्बोधका लोके-
 ऽसङ्करा मता अपि सङ्करा उत्पद्यन्ते ते च यशोलाभाय
 दानमपि कुर्वन्ति तादृशानां दानं धर्मनिष्ठेन स्नातकेन न
 कदाप्यादातव्यम् । दानेन तन्मैत्री तत्सङ्गस्तत्कथनानुमो-
 दनं च सर्वं प्रतिग्रहशीलैः क्रियतएव । तथा च सति म-
 हतो धर्मस्य व्याघातोऽधर्मिणाच्छादनं च सम्भवमेव । या-
 दृशः सोऽधिकृतः सापेक्षतयाऽधर्मनिष्ठो यादृशं च ततो दाना-
 दानं यादृशः सङ्गोऽनुमोदनं च तस्य तादृशान्येव नरकान्यपि

के कारण उपस्थित होते जाय जिस से अब सरार ऐसा भय बराबर बना रहे (महानरकमेव च) ६-महाभयङ्कर दुःख जिस में ही ऐसी विपत्ति (संजीवनम्) ७-अत्यन्त शिथिल हो जाने पर जब उठना बैठना भी न हो सके कोई रक्षक भी न हो उस दशा का जीवन (महावीचिम्) ८-बढ़ी प्रबल तरङ्गों में डूबने का समय वा इसी के तुल्य अन्य दुःख (तपनम्) ९-तपना (संजीवनम्) १०-सम्यक् तपना दाल आदि के समान रंधने की दशा में डूब जाना (संहारं च) ११-मारे जाने का भय (सकाकोलम्) १२-किसी की बलात्कारता से विष खा कर मरने का भय (कुहूमलम्) १३-बड़े दिनों से परिश्रम किये कर्म का फल प्राप्त होने का समय आते ही विघ्न होने द्वारा इष्ट वियोग का दुःख (प्रतिमूर्त्तिकम्) १४-अनिष्ट दुःखदायी पदार्थों की प्रतिकृति का धार २ दीखना वा ध्यान में आना (लोहशङ्कुम्) १५-लोहे की बर्छी आदि से छेदे जाने का भय जब उपस्थित हो (ऋजीषम्) १६-तपाये हुए लोहे पर डाल कर मारे जाने के समय जो भय वा दुःख (पन्थानं शास्मलीं नदीम्) १७-निरन्तर मार्ग चलने का दुःख बलात्कार चलने पड़े जहां किसी प्रकार ठहरने का अवसर न मिले, १८-फसावट का दुःख जिस से निकलने का कोई उपाय न हो, १९-नदी के बीच जहां अगाध भयङ्कर जंल सब ओर भरा हो वहां बीच में पड़जाना जहां से डूबे बिना निकलने का कोई उपाय न दीखे (असिपत्रवनं चैव) २०-तलवार की धार के तुल्य चारों ओर से लगाये हुए लोहमय घन के बीच राजप्रबन्धादि से दौड़ा कर मारे जाने के समय का भय (लोहदारकमेव च) २१-अत्यन्त तपाये लोहमदे मार्ग पर राजाच्चा से चल कर मारे जाने का समय, ये इक्कीश प्रकार के नरक दुःख हैं (एतद्विदन्तो ब्रह्मवादिनो विद्वांसो ब्राह्मणाः) असत्प्रतिग्रह में वा कुसङ्ग से ऐसे २ नरक दुःख प्राणियों को भोगने पड़ते हैं ऐसा जानते हुए वेदपाठी वेदतत्त्वज्ञ ब्राह्मण लोग (प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः) जोकि भविष्यत् में विपत्तियों से बच के अपना कल्याण चाहते हैं वे (राज्ञो न प्रतिग्रहन्ति) वैसे नीच राजा से दान लेने का अभ्यास नहीं करते वा वार २ दान लेके उस के अनुमोदनादि संग से सदा ही बच करते हैं ॥

भा०-यह विधि वा अर्थवाद असंगत नहीं किन्तु सार्थक ही है। सर्वत्र ही निकृष्ट और अधर्मियों के चढ़ते उरते अनेक प्रकार ही सकते हैं। और राजा कहने से भी कितने ही बड़े किसी समुदाय पर अपना अधिकार वा दबाव रखने वाले

सभी का ग्रहण करना चाहिये । जिस के लिये भर्तृनीति में यह कहा है कि "सब नीच दुष्टों को उभाड़ने सहायता देने, किसी धर्मादि वा लोक लज्जादि की रुकावट को न मानने, पूर्वजन्मादि के से संचित अतिनीच कर्मों की प्रबलता से धर्म विरुद्ध चलने की दृढ़ बुद्धि रखने वाले किसी अच्छे प्रारब्धोदय से सम्पत्ति वा धन प्राप्त हुए और शुभगुणों से द्वेष रखने वाले ऐसे नीच महानीच पुरुष के निकट कौन-कौन-सा रह सकता है ? अर्थात् कोई नहीं" संसार में बीच २ ऐसे बहुत से दैवयोग से अधिक धन प्राप्त हुए, खलों को चिताने वाले लोक में असंकर वा अच्छे माने जाते हुए भी वस्तुतः असंकर-नीच छोटे वा बड़े राजा कहाने वाले उत्पन्न होते रहते हैं [जैसे पूर्वकाल में कंस, जरासन्ध, शिशुपाल, एक आदि हो गये हैं] वे अपनी कीर्त्ति के लिये दान भी करते वा धर्मात्मा विद्वानों को भी दानादि दे के अपना साथी प्रशंसक खुशामदी बनाना चाहते और उद्योग करते हैं । वैसे का दान धर्मनिष्ठ सदसद्विवेकी विद्वान् गृहस्थ को कदापि न लेना चाहिये । दान लेने से उन से मित्रता उन का संग और उन के विचारों का अनुमोदन दान लेने के स्वभाव वाले प्रायः करते ही हैं । ऐसा होने से धर्म का धक्का लगना, महान् धर्म का नाश और अधर्म से धर्म का दब जाना सम्भव ही है । वह अधिकारी-राजा—चौधरी [अफसर] जैसा बड़ा अधर्मी होगा, जैसे न्यूनाधिक समय तक जैसे अच्छे बुरे वस्तुओं का दान उस से लिया जायगा और जैसा उस का न्यूनाधिक सङ्ग तथा अनुमोदन दान लेने वाला करेगा उस को वैसे ही न्यूनाधिक दोष लग कर वैसे ही कक्षा के नरक नामक दुःख भी भोगने पड़ेंगे [कीचड़ आदि का संग करने वाले को कीचड़ लगता, जलाशय में घुसने पर जल लगता, समीप बैठने से शीत लगता, अग्नि के निकट आंशु लगती, यों सर्वत्र ही संग का गुण अवश्य लगता है वैसे ही जो पापी दुष्ट का जैसा संग करेगा वैसे पाप दोष उस को अवश्य लगेगा । और उस पाप दोष का फल भी वैसे अवश्य होगा यही नरक दुःखों का अभिप्राय है । सब पापों और दुःखों के भोग का मूल कारण प्रथम कुसङ्ग ही है और किसी प्रकार का लेन देन संग हुए बिना ही नहीं सकता । चोरो दुष्टों जुआरियों के संग से कैसे २ बड़े अमर्थ होते हैं सो छिपा नहीं] इक्कीश प्रकार के विशेष दुःख के हेतु साधन वा स्थान प्रायः हो सकते हैं जिन के अन्तर्गत सब बड़े २ दुःख आजायेंगे उन एक २ में न्यूनाधिक अनेक भेद होंगे । जैसे देश काल वस्तु भेद से अन्धकार अनेक प्रकार का होता

उस के अनुसार तामिस्र नामी दुःख भी अनेक प्रकार का होगा । इसी प्रकार सब नरकों की शब्दार्थों के भिन्न २ होने से भिन्न २ प्रकार के जानो । किसी देश काल वा जाति में तामिस्रादिपन के अधिकतर होने से वहां अधिकांश तामिस्रादि का व्यवहार होने पर भी उन का सर्वत्र होना खण्डित नहीं हो सकता । जैसे जलाशय में जल की अधिकता रहने पर भी सूखी मिट्टी के तबले में उन २ के परमाणु जुड़े रहने के कारण जलतत्त्व की सर्वत्र उपस्थिति विचारशील अवश्य मानते हैं । वही जल भाप वा धुं आदि बन कर जब अग्नि के संयोग से उड़ जाता तब उस वस्तु को जल गया मानते हैं । वैसे ही नरक भी सब देश कालों में व्याप्त हैं । जैसे बालक थोड़ा दुःख सह सकता है । उतना दुःख अन्य समर्थ जन को दुःख ही नहीं जान पड़ता । इस प्रकार जो किसी के लिये नरक है वही अन्य के लिये स्वर्ग हो सकता है । इसी कारण ज्ञानी योगियों के लिये अस्मिन्नादि अष्ट सिद्धियों में फस जाना-योगशास्त्र तथा उपनिषदों में ८ प्रकार का नरक माना है । इसी के अनुसार स्नातक गृहस्थ का अपनी दशा से नीचे सङ्गानुसार गिर जाना ही नरक कहने का प्रयोजन है ॥ ८४-९१ ॥

ब्राह्मे मुहूर्त्तं बुध्येत धर्मार्थी चानुचिन्तयेत् ।
 कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥
 उत्थायावप्रयकं कृत्वा कृतशीचः समाहितः ।
 पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकालेचापरां चिरम्
 ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
 प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ८२-८४

अ०-ब्राह्मे मुहूर्त्तं रात्रेः पश्चिमे भागे बुध्येत जाग्रियात् । धर्मार्थी परस्परविरोधेन कथं सेवेयैकेनेतरस्य हानिः कथं न स्यादिति चिन्तयेत् । तयोर्विप्रतिषेधे तु धर्मं कथं प्रधानीकुर्यामिति च ध्यायेत् । धर्मार्थोपार्जनहेतून् काय-

क्लेशानप्यनुसन्दध्यात् । कथं नु? स्वल्पीयसा शारीरप्रया-
सेन महान्तौ धर्मार्थौ निर्वर्त्तयाताम् । कथं वा गरीयान्
प्रयासोऽल्पीयसोर्धर्मार्थयोः साधकोऽनर्थको न गणयेत् ।

तत्त्वार्थमीश्वराराधनं ब्रह्मयज्ञादिना कया री-
त्या क्रियमाणं सफलं च स्यादिति सर्वं बुद्ध्वा श-
य्यायां प्रसृत आसीनो वा तत्तयेत् । शय्यातः सर्वथैवा-
लस्यं प्रक्षिप्योत्थायावश्यकं मूत्रपुंसोत्सर्गादिकं कृत्वा प-
ञ्चमाध्यायोक्तरीत्या [अ० ५ । १३६] कृतशाचः स्नात्वा च
समाहित आकुलतां विहाय यतचित्तेन्द्रियक्रियः पूर्वां प्रा-
तःकालीनां सन्ध्यां जपन् संस्तिष्ठेत् । स्वकालेऽस्तकाला-
त्पूर्वमेवारब्धामपरां सायंतनीं सन्ध्यां चिरं सम्यगृक्षवि-
भावनावधि जपन्नासीत् । अल्पकालिकां सन्ध्यां न कु-
र्यादित्याशयः । दीर्घा सन्ध्या येषां तेषां भावो दीर्घसन्ध्य-
त्वं तादृशकारणादृषयो दीर्घमायुः प्रकृष्टां बुद्धिं भूयिष्ठं यशो
लोके महत्त्वपूज्यत्वयोः परेषां ज्ञानं, बृहतीं कीर्त्तिं स्वस्य
शुभगुणानां परैः कीर्त्तनं भूयिष्ठं ब्रह्मवर्चसं ब्राह्मं तेजएव का-
लत्रये चावाप्नुयुरवाप्तमर्हन्ति ॥

भा० — ब्रह्मचारिप्रकरणे ब्रह्मयज्ञार्थो विधिरर्थवादश्च
भूयानुक्तोऽप्यत्र स्नातकव्रतदाह्यार्थोऽनुवादः । द्वयोराद्य-
योर्विध्यनुवादोऽन्तिमपद्ये चार्थवादः । एवं कुर्वाणएव गृ-
हस्थ आधिक्येनानिष्ठं हित्वेष्टमवाप्नोति । यद्यपि धर्मार्थयो-
रखिलो विरोधस्तु केनाप्यपरिहार्यएव तथापि धर्मस्य यथा
प्राधान्यं स्यात्तथा सुज्ञेन कार्यमिति सर्वान् परित्यजेदार्था-

न्स्वाध्यायस्य विरोधिनः । अ० ४ । १७" इत्यादिग्रन्थस्याधिकभागेन मध्येमध्ये मुहुर्मुहुः सूचयति ग्रन्थकारः । अभ्यर्हितं च पूर्वं निपततीति धर्मपदस्य पूर्वनिपातचेष्टितेनात्रापि तेन विज्ञापितमेतत् । नहि धर्मप्राधान्यमन्वयदर्शनज्ञानवैशारद्यं सदसद्विवेकित्वं न च विद्वान् विना दीर्घासन्ध्या केनापि समाहितचेष्टया जपादिकुर्वता व्यतीयते । नच तादृशसन्ध्योपासनब्रह्मयज्ञानुष्ठानमन्तरेण कस्यापि दीर्घायुष्वादिकं तभवति । तस्माच्छ्रयोऽभीप्सता गृहिणाऽवश्यमेतत्परतया सर्वं ब्राह्मणमौहूर्तिकं कार्यं साध्यम् ॥

भाषार्थः—(ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत) रात्रि के चौथे पहर चार छः घड़ी अंधेरे गृहस्थ पुरुष चिन्ता रख कर सदा जागे (धर्मार्थो चानुचिन्तयेत्) और जाग कर सब से पहिले धर्म और निर्वाहार्थ अन्न धनादि के उपार्जन की चिन्ता करे कि धनादि के उपार्जन करने में ऐसी कौन २ रीति है जिस से धर्म भी प्रधान बना रहे धर्म का नाश न होने पावे और धनादि भी संचित होता रहे और जहां दो में एक ही काम हो सकता हो वहां धनादि प्राप्ति में बाधा होते भी धर्म की मुख्य कर रक्षा किस प्रकार करूं (तन्मूलान् कायक्लेशांश्च) उन धर्म और धनादि अर्थ का संचय करने के मूल कारण शरीर के परिश्रमरूप क्लेशों का भी चिन्तन करे कि थोड़े परिश्रम वा कष्ट से अधिक २ धर्म अर्थ की प्राप्ति कैसे हो सके ? और बड़े २ प्रबल परिश्रम वा कष्ट से थोड़े २ धर्म अर्थ की सिद्धि होने पर परिश्रम की निष्फलता कैसे न गिनी जाय ? तथा (वेदतत्त्वार्थमेव च) और ब्रह्मयज्ञ-सन्ध्योपासन द्वारा वेद के तत्त्वसिद्धान्तरूप ईश्वर की आराधना किस रीति से किया करूं ? जिस की उत्तम सफलता इसी वर्तमान शरीर में प्रत्यक्ष दीख पड़े । यह सब शक्या पर बैठा वा लेटा हुआ ही प्रथम शोचे (उरथायावश्यकं कृत्वा) तदनन्तर सर्वथा ही आलस छोड़ शक्या से उठ और मलमूत्र के त्यागरूप आवश्यक कर्म को करके (कृतशौचः समाहितः) अ० ५ श्लोक १३६ में कहे अनुसार नट्टी जल से हाथ आदि की शुद्धि करके सन्ध्योपासन के लिये प्रथम से चित्त को सावधान एकाग्र करे सब इन्द्रियों को भी अपने २ विषयों की

और भागने से विचार पूर्वक वश में करे चित्त की चञ्चलता-ध्याकुलता को छोड़ जितेन्द्रिय हुआ (पूर्वा सन्ध्यां जपन् तिष्ठेत्) प्रातःकाल की संध्या में जप करता हुआ खड़ा रहे-खड़ेहोकर सावित्री का जप करे [प्रातःकाल बैठ कर सन्ध्या करने में शीघ्र छोड़ा निद्रारूप तमोगुण प्रबल पड़ना सम्भव है] (स्वकाले सन्ध्यां जपन् अस्त समय से कुछ पूर्व ही से आरम्भ की सायंकाल की सन्ध्या में सब तारागण पढ़ने समय तक बैठ के सावित्री का जप करे । अर्थात् लेभगई की सन्ध्या शीघ्र करके समाप्त न कर देवे । (दीर्घसन्ध्यस्वातृषयो दीर्घमायुः) सावधानता जितेन्द्रियता के साथ दीर्घक २ यथोचित दीर्घकाल तक सन्ध्या करने से ही ऋषिनोग दीर्घ आयु को (प्रकृत्यं शक्तिं च ब्रह्मवर्चस मेव च) शुद्धबुद्धि, यश अपने महत्त्व पूज्य बड़प्पन का लोगों को ज्ञान और कीर्ति नाम अपने शुभ गुणों कहा जाना और ब्राह्मणपन वा ऋषिपन के तेज को प्राप्त हुए तथा होते हैं ॥

भा०-द्वितीयाध्याय ब्रह्मचर्य प्रकरण में ब्रह्मयज्ञ का विधान और आवश्यकता वा फल दिखा चुके हैं तथापि स्नातक गृहस्थ को इस नियम के साथ सन्ध्योपासन करने की आवश्यकता दिखाने के लिये उसी का विशेषता के साथ अनुवाद किया है । पहिले दो श्लोकों में विधि का अनुवाद और तृतीय में विशेष अर्थवाद कहा है । ऐसा करता हुआ ही गृहस्थ अधिकता से अनिष्ट को छोड़ इष्ट सुख को प्राप्त हो सकता है । यद्यपि धर्म और अर्थ का सम्पूर्ण विरोध दूर नहीं हो सकता अर्थात् धनादि के लिये कोई भी उपाय ऐसे नहीं हो सकते जिन के साथ अधर्मांश न रहे तो भी जिस प्रकार धर्म की प्रधानता बनी रहे वैसे उपाय करना चाहिये "वेदाध्ययनादि मुख्य धर्म के विरोधी धनादि प्राप्ति के अन्य सभी कामों को छोड़ देवे" मनु जी ने श्लोक २ में सूचित किये इत्यादि कथन से वार २ धर्म को प्रधान-बड़ा रखने के लिये सूचित किया है । और अतिप्रशस्त धर्मपद का पूर्व प्रयोग करके यहां भी धर्म की प्रधानता मनु जी ने दिखायी है। धर्म की प्रधानता-अधिकता हुए विना ऋषिपन जो ज्ञान की शक्ति स्वच्छता सत्यासत्य का विवेकरूप है वह प्रकट उज्ज्वल नहीं होता और ऋषिपन के उभड़े विना समाहित चित्त से जपादि करता हुआ दीर्घ काल सन्ध्या में कोई व्यतीत नहीं कर सकता । और ऐसे उत्तम प्रकार के ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान किये विना दीर्घायु होने आदि की इष्टसिद्धि भी किसी की नहीं हो सकती । इस कारण

अपना कल्याण चाहने वाले गृहस्थ को सावधान ही तरपता अद्वा भक्ति से प्रातः समयकाल का सब कृत्य अवश्य ही करना चाहिये ॥९२-९४॥

**आवण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि।
युक्तं छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रो**

अ०—विप्रः स्नातको गृही आवण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि। युक्तं छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रो। अत्र कर्म कृत्वाऽर्द्धः पञ्चमेऽप्यु तान् सार्द्धचतुरो मासान् युक्तस्तत्परो नियतेन छन्दांसि वेदानधीयीत ॥

भा०—अत्र कालात्यन्तसंयोगे द्वितीया । तेन स्नातकोऽविच्छिन्नवेदाभ्यासारम्भसूचकं गृह्यमुपाकर्म यथोक्तविधिना कृत्वा दृढतमं श्रेष्ठतमं च निश्रेयस्करतरं वेदाभ्यासं परमं धर्मं मत्वा तत्परतया नित्यं सेवेत ॥ ९५ ॥

भाषार्थः—(विप्रः आवण्यां प्रौष्ठपद्यां वायथाविध्युपाकृत्य) गृहस्थ ब्राह्मण आवण की वा भाद्रमास की पौर्णमासी के दिन गृह्यसूत्रों में लिखे अनुसार उपाकर्म नामक स्मार्त कर्म करके (युक्तोऽर्द्धपञ्चमान् मासान् छन्दांस्यधीयीत) तत्पर हुआ नियम के साथ साढ़े चार महिने बराबर वेदों के पढ़ने विचारने में अधिक समय लगावे ॥

भा०—साढ़े चार महिने में एक दिन को भी वेदाभ्यास का नियम न तोड़ा जाय । वेदाभ्यास के वार्षिक नियम की प्रतिज्ञा के सूचक गृह्य उपाकर्म को विधि पूर्वक करके अतिदृढ अतिश्रेष्ठ निःश्रेयस्के मुख्य हेतु वेदाध्ययन को परम धर्म मान कर पूरा २ ठीक २ नित्य सेवन करे ॥ ९५ ॥

**पुष्ये तु छन्दसां कृत्वा बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥
यथाशास्त्रन्तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ॥
विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदैवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥**

अ०-पुष्ये पौषशुक्लपक्षस्य माघशुक्लपक्षस्य वा प्रति-
पदि पूर्वाह्ने यथाशास्त्रं गृह्यसूत्रोक्तप्रकारेण बहिर्ग्रामन-
गराणि च समुदायाद् बाह्यप्रदेशे निःसृत्य छन्दसां वेदाध्य-
यनस्योत्सर्गकर्म कुर्यात् तदनन्तरं पक्षिणीं रात्रिं दि-
नद्वयमेकां रात्रिं च यद्वा तद्वैकमहर्निशं वेदाध्ययनतो वि-
रमेत्स्नातकः ॥

भा०—यदि श्रावणयामुपाकर्म कृतं तदा पौषशुक्लप्र-
तिपदि यद्वा भाद्रपद्यामुपाकृतं चेन्माघशुक्लप्रतिपद्युत्सर्गः
कार्यः । दक्षिणायने सौरतेजोहासादिन्द्राणी शची प्रज्ञाऽपि
बाह्यतमःप्राबल्यान्मन्दा जायते । मन्दायामेव च प्रज्ञायां
पूर्वसंचिततमःप्रधानदुर्वासनारूपपापस्योद्धोधनेऽधिकाऽध-
र्मप्रवृत्तिर्जायते तस्य तिरोभावाय दक्षिणायनकाले निय-
मेनाधिकतया वेदाभ्यासः कार्यः । अर्थादन्याङ्गादीनामध्य-
ध्ययनाध्यापने विहाय वेदस्यैवाध्ययनं कार्यमित्युपाकर्मा-
त्सर्गयोर्विशिष्टं प्रयोजनमीक्षणीयं विपश्चिद्धिः ॥ ९७ ॥

भाषार्थः—(पुष्ये तु माघशुक्लस्य वा प्राप्ते प्रथमेऽहनि पूर्वाह्णे) पौष स-
हीने वा माघ सहीने के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन दोपहर से पूर्व समय
में (बहिःछन्दसामुत्सर्जनं कृत्वा) ग्राम वा नगर से बाहर जाकर वेदाध्ययन का
उत्सर्ग नामक कर्म करके (एवं यथाशास्त्रं छन्दसां बहिरुत्सर्गं तु कृत्वा) ऐसे गृह्य
सूत्रों में लिखे अनुसार वेदाध्ययन का उत्सर्गरूप विधान ग्राम से बाहर करने प-
श्चात् (पक्षिणीं रात्रिं तद्वैकमहर्निशं वा विरमेत्) दो दिन और एक रात्रि
अथवा उसी एकदिन और एक रात विधिपूर्वक वेदाध्ययन का अनध्याय रखे ॥

भा०—यदि श्रावण की पौर्णमासी को उपाकर्म [वार्षिक विधिविहित स्वा-
ध्यायारम्भ सूचक माङ्गल्य] किया ही तो पौष की अमावास्या को साढ़े चार
मांस पूर्ण होंगे इस लिये पौष की शुक्ल प्रतिपदा को प्रातःकाल उत्सर्ग करे और

भाद्रपद की पौर्णमासी को उपाकर्म किया हो तो माघ की शुक्ल प्रतिपदा को साढ़े चार मास पूर्ण होने पर उत्सर्ग कर्म करे । दक्षिणायन में सूर्य के तेज की मन्दता होने से सूर्यतत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली सूक्ष्म सत्त्वगुण रूप बुद्धिशक्ति जो सूर्यनामक इन्द्र की शक्ति होने से इन्द्राणी और शची भी वेद के कोष निघण्टु में शची नाम प्रज्ञा-बुद्धि का है तमोगुण का बाहरी तमोगुण क बढ़ने से मन्द हो जाती है । और बुद्धि जो तमोगुण प्रकाशरूप है उस के मन्द होने पर ही पूर्वकाल से अन्तःकरण में संचित, तमोगुण मय दुर्वासना [बुरे ख-यालात) रूप पापों के जागने से व्यभिचार चोरी आदि की अधिक प्रवृत्ति होती और दक्षिणायन में अज्ञान के साथी तमोगुण की वृद्धि होने से ही उत्तरायण की अपेक्षा प्राणियों की रोग और मरण भी अधिक होते हैं यह बात लोक में स्वयं सिद्ध है । उन सब विघ्नों की शान्ति के लिये वा उपद्रवों को दवाने के लिये दक्षिणायन के साढ़े चार महीनों में नियम के साथ अधिक वेदाभ्यास करना चाहिये अर्थात् अन्य वेदाङ्गादि का पठनपाठन छोड़ के विशेष कर वेद का ही पठनपाठन समस्त पूर्वक लगातार साढ़े चार महीने करे यही उपाकर्म और उत्सर्ग विधि का विशेष प्रयोजन ज्ञानचक्षु से विचारशीलों को ही दीखने योग्य है । क्योंकि अन्धकार बढ़ने पर ही दीपकादि जलाने की अधिक आवश्यकता सर्वत्र हुआ करती है ॥ ९७ ॥

अतऊर्ध्वन्तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥
नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसंनिधौ ।
न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥
यथोक्तेनैव विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ।
ब्रह्मछन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि १००

अ० — अतोऽर्द्धपौषादर्द्धमाघादूर्ध्वमनन्तरमुत्तरायण-
कालेऽनागतोपाकर्मावधि शुक्लपक्षेषु नियमेन वेदान् पठेत्पा-

ठयेच्च सर्वाणि वेदाङ्गानि च कृष्णपक्षेषु सम्यक् पठेदध्याप-
येच्च । न स्फुटस्वरवर्णाभिव्यक्तिरहितं वेदं, न च शूद्रज-
नसन्निधौ वेदमधीयीत । नापि रात्रेश्चतुर्थं याम उत्थाय
ब्रह्माधीत्येव विधान्तः सन् पुनः स्वप्यादपित्वन्यशुभकृत्ये
लग्नः कालं यापयेत् । युष्मन् वेदाध्ययने तत्परो द्विजः स्ना-
तको यथोक्तेन विधिना गायत्र्यादिछन्दोभिर्निर्मितवेदभागं
छन्दस्कृतं, ब्रह्म-गायत्र्यादिछन्दोरहितं छन्दस्कृतं चेति प्र-
कारद्वययुक्तं यजुश्च नित्यं पठेत् ॥

भा०-शुक्लपक्षेषु सर्वदैव प्रकाशोन्नतिकारणाच्चन्द्रक-
लावर्धनेन मनसश्चन्द्रकार्यस्य हृष्टत्वाच्च सत्त्वगुणाधिक्ये
वेदानधीयीत । येनाध्ययनं विशिष्टफलद्योतकं यथास्यात् ।
कृष्णपक्षे तमोगुणाधिक्ये वेदाङ्गानि वेदार्थावगमसहाय-
कानि भवेयुरिति मत्वा पठेत् । शूद्रजनसन्निधौ दुर्गन्धादि-
ना कोलाहलेन वा मनसो विक्षेपाद्वेदाध्ययनं निष्फलमिव
स्यात् । शूद्रा दूरस्थाऽपि निस्सरणादिना वा वेदाध्ययनं शू-
ण्युश्चेन्न तत्र कोऽपि दोषः । छन्दस्कृतपदेन गयब्राह्मणा-
द्यपेक्षया पद्यरूपमूलवेदस्य प्राशस्त्यमत्र बोधितम् । अति-
जगत्यादिछन्दोपेक्षयापि गायत्र्यादिछन्दसां मूलत्वेन सार-
त्वेन च प्राधान्यमेवावगन्तव्यम् [व्याकरणादिभाष्याणांमिव
प्राचीनतरवेदभाष्याणां ब्राह्मणादिग्रन्थानामपि पूर्वकाला-
देव गौणत्वेन वेदपदव्यपदेश्यत्वमासीदिति जानतैव ग्रन्थ-
कृता स्वाध्यायत्वेन ब्राह्मणादिगद्यनिर्मितानामाम्नानवा-
रणाद्यैवात्र छन्दस्कृतमन्त्रात्मकमूलवेदस्यैवाध्ययने वेदा-
ध्ययनमिति सूचितम्] ॥ १०० ॥

भाषार्थः—(अत ऊर्ध्वन्तु) आधे पौष वा आधे माघ महिने से आगे २ उत्तरायण काल में आगामी उपाकर्म के समय पर्यन्त (शुक्लेषु) प्रतिभास के शुक्ल पक्षों में (नियतस्कन्दांसि पठेत्) नियम के साथ वेदों का पठन पाठन (सर्वाणि वेदाङ्गानि च कृष्णपक्षेषु संपठेत्) और व्याकरणादि वेद के सब पठन उत्तरायण के शुक्ल पक्षों में सम्यक् किया करे (ननु विषमधीयीत न शूद्रजनसंनिधौ) और वेद को ऐसा कभी न पढ़े पढ़ावे जिस में स्वर और वर्ण ठीक २ स्पष्ट न सुने जाते हों, न रात्रि के सहवास में समीप रहता हुआ पढ़े (न ब्रह्माधीत्य परिश्रान्ती जिह्वाते पुनः स्वपेत्) यदि रात्रि के चौथे प्रहर में उठ कर वेद का पाठन करके थक जावे तो समीप वा शीघ्र प्रातःकाल होने की दशा में फिर न सीवे किन्तु उस समय अन्य शुभ कार्य सन्ध्योपासनादि में लगे उस समय का सोना अतिबुरा है । (अनापदि युक्तो द्विजः) जिस समय कोई आपत्काल वा किसी प्रकार आवश्यकता परवशता न हो तो वेदाध्ययन में तत्पर रहता हुआ स्नातक ब्राह्मण (यथोक्तं नैव विधिना) पूर्व कहे विधान के अनुसार ही (नित्यं छन्दस्कृतं ब्रह्मछन्दस्कृतं चैव पठेत्) नित्य २ गायत्री आदि सात छन्दों वाले वेद मन्त्रों को और जिस में छन्दस्कृतनाम पद्य भाग भी मिला है और कुछ गद्यसा भी है ऐसे ब्रह्म नाम यजुर्वेद को भी पढ़े । अर्थात् ऋक्, साम और अथर्व नामक गायत्री आदि सात छन्दों में बना मन्त्रभाग केवल छन्दस्कृत कहाता और यजुर्वेद में दोनों प्रकार होने से वह ब्रह्म छन्दस्कृत कहाता है । इस लिये स्वाध्याय बुद्धि से मन्त्रभागरूप मूल वेद का ही पुण्य संचयार्थ अभ्यास करे किन्तु वेद के व्याख्यानरूप ब्राह्मण भाग वेद के तुल्य प्रशस्त हैं भी पर तो भी उन के पढ़ने में वैसा पुण्य नहीं इस कारण वेद के स्थान में ब्राह्मणों का अध्ययनाध्यापन कभी न करे किन्तु वेदाङ्गों में उन ब्राह्मणादि ग्रन्थों को सब से उत्तम मान कर पढ़े पढ़ावे [यहां ग्रन्थकार ने छन्दस्कृत मन्त्रात्मक मूल वेद की अध्ययन विधि में आवश्यकता दिखाने से ब्राह्मणादि के वेदत्व की गौरवता को जता कर अध्ययनविधि से अलग होना जताया है]॥

भा०—शुक्ल पक्षों में सभी समय प्रकाश की उन्नति होती और चन्द्रमा की कला बढ़ने से चन्द्रमा के कार्य मन के हर्षित होने से सत्त्वगुण रूप प्रसन्नता की अधिकता में वेदों को पढ़े जिस से वेदाध्ययन विशेष फल दिखाने वाला हो । तमोगुण की अधिकता के समय कृष्णपक्ष में वेदार्थ के बोध होने में सहायता देने वाले मान के व्याकरणादि वेदाङ्गों को पढ़ा करे । शूद्र-नीच जनों के समीप दु-

गन्ध वा कोलाहल-हल्ला गुल्ला अधिक होने पर मन के विक्षेप होने वा चञ्चल रहने से वेदाध्ययन निष्फलसा होगा । शुद्ध एकान्त देश में मन को एकाग्र करके वेदाध्ययन करते समय दूर से वा निकलने आदि द्वारा शूद्र लोग वेद को सुन लें तो कोई भी नहीं । छन्दस्कृतपद से गद्य ब्राह्मणादि की अपेक्षा पद्यरूप मूल वेद की उत्तमता जतायी है । और अतिजगती आदि छन्दों की अपेक्षा भी गायत्र्यादि छन्दों की मूल वा सार होने की उत्तमता ही जानो । ओ३म् पद सब वेदों का मूल वा सार बीजरूप होने से दैवी गायत्री कहाता और सब गायत्रियों से भी अत्यन्त सर्वोपरि उत्तम मानागया है ॥ १०० ॥

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् ।

अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥

अ०-गुरुशिष्यौ वेदाध्ययनाध्यापने कुर्वाणौ वक्ष्यमाणाननध्यायान् विवर्जयेताम् ॥

भा०-इत आरभ्य सप्तविंशतिपद्यैर्वेदाध्ययनानध्यायाः प्रदृश्यन्ते । सर्वाण्येव कर्माणि यथा निर्विघ्नानि क्रियमाणानि सुफलीभवन्ति न तथा सविघ्नानीति । वेदाध्ययनं च सर्वापेक्षया परमो धर्मस्तस्य तादृशेनैव फलेन भाव्यम् ॥

भाषार्थः-(अधीयानो विधिपूर्वकं शिष्याणामध्यापनं च कुर्वाणः) वेदोंको पढ़ने वाला और विधिपूर्वक शिष्यों को वेद पढ़ाने वाला अध्यापक गुरु (इमाननध्यायान् नित्यं विवर्जयेत्) इन आगे लिखे जाने वाले अनध्यायों को सदा ही छोड़ते रहें ॥

भा०-यहां से आगे १२७ वें श्लोक तक सत्ताईश श्लोकों से वेद पढ़ने के अनध्यायों का विचार दिखाया गया है । सभी काम निर्विघ्न किये जाने वाले जैसे सुफल होते वैसे विघ्नों सहित किये हुये कदापि अच्छे नहीं होते और वेद का विधिपूर्वक नियम के साथ अभ्यास करना सब धर्मों से बड़ा परमधर्म है उस का फल भी वैसा ही उत्तम होना चाहिये तभी वह परमधर्म जान पड़े ॥ १०१ ॥

कर्णाश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने ।

एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च सम्पूर्वे ।
 आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥
 एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदाप्रादुष्कृताग्नि-
 तदाविद्यादनध्यायमनस्यै वाभूदर्शने ॥
 निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।
 एतानाकालिकान् विद्यादनध्यायानृतावपि ॥
 प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने ।
 सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥

अ०-रात्रौ श्रोत्रप्रवणयोग्ये दिवा च धूल्युड्डायके-
 ऽनिले वायौ वाति, विद्युतो विद्योतने गर्जने मेघे च वर्ष-
 ति सह त्रिषु सत्सु महोल्कानामाधिक्येन पाते च, आका-
 लिकोऽष्टयामावधिकः । यदाहोमार्थं प्रज्वलिताग्निकाले
 विद्युदादीनामुपद्रवान्विद्याज्जानीयात्तदा वर्षास्वेवानध्यायं
 जानीयान्नान्यदा । अनृतौ शरदादौ तु मेघाच्छन्नभोदर्श-
 नेऽपि आकालिकमनध्यायं विद्यात् । निर्घातेऽन्तरिक्षध्वनौ,
 भूकम्पे ज्योतिषां चोपसर्जने चन्द्रादीनामन्यैः संनिकर्षे, ऋ-
 तावपि वर्षास्वपि । होमार्थं प्रज्वलिताग्निकाले वृष्टिमन्त-
 रेण विद्युतो दीपनशब्दावेव यदा भवतस्तदा तत्कालाच्छेषे
 रात्रौ दिवा वाऽनध्यायः कार्यो नाकालिकः ॥

भा० — इन्द्रियवैकल्यजनकप्रचण्डवाय्वादिकाले समा-
 हितो वशीकृतेन्द्रियग्रामो वा वेदाध्ययनं नैव कर्तुं शक्नोति

तेन नैष्फल्यसम्भवात्तादृशकाले वेदाध्ययनप्रतिषेधः । सन्ध्याकालेऽग्निहोत्रे क्रियमाणे सत्युपद्रवे सन्ध्यामग्निहोत्रं च संक्षेपेण कुर्याद्विशिष्टस्वाध्यायस्य च निषेधो नतु क्रियमाणामग्निहोत्रादिकं मध्ये त्याज्यम् । ग्रहोपसर्गेऽपि चन्द्रादित्यगुणाः पार्थिववस्तुसंबद्धा विपरियन्ति तेनेन्द्रियमनोनिग्रहो दुष्करः । इन्द्रियमनोनिग्रहश्च स्वाध्याये साफल्यायावश्यं प्रधानीकार्यएवेत्यन्तराशयः ॥ १०६ ॥

भाषार्थः—(रात्रौ कर्णाश्रवेऽग्निने) जिस का प्रबल शब्द कानों में सुन पड़ता हो ऐसा वायु [आंधी] चलते समय रात्रि में (दिवा पांसुसमूहने) दिन में अधिक धूलि उड़ाने वाला वायु चलते समय (अध्यायज्ञा एतौ वर्षास्वनध्यायौ प्रचक्षते) वेदाध्ययन रूप स्वाध्याय के मर्म को जानने वाले विद्वान् महर्षिलोग इन दो अनध्यायों को वर्षा ऋतु में कहते हैं (विद्युत्स्तनितवर्षेषु) जब विद्युत् चमकना, बादल गर्जना और वर्षना ये तीनों एक साथ हों और (महीलकानां च संश्लवे) जब बड़े २ अनेक उल्कापात तारागण के समान आकाश से टूट २ गिरें (एतेष्वाकालिकमनध्यायं मनुरब्रवीत्) इन सब अवसरों में उपद्रव के समय से फिर अगले दिन वही समय आने पर्यन्त आठ प्रहर वेदाध्ययन का अनध्याय मानना मनु जी ने कहा है (यदा प्रादुष्कृताग्निष्वेतानभ्युदितास्तु विद्यात्) जब होम करने के लिये अग्नि को प्रज्वलित कर लेने पर वर्षा ऋतु में इन विद्युत् चमकने आदि उपद्रवों को होते जाने (तदा विद्यादनध्यायम्) तब भी अनध्याय करना ठीक जाने (अनृतौ चाभ्रदर्शने) वर्षा ऋतु से भिन्न समय में केवल वट्टलों के दब आने पर ही अनध्याय मान लेवे (निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने) अन्तरिक्ष में तीव्र ध्वनि होने, भूकम्प होने और तारों वा ग्रहोंका परस्पर संसर्ग मेल होने समय पर (ऋतावपि) वर्षा ऋतु में भी (एतानाकालिकाननध्यायान् विद्यात्) इन को दिन रात अष्टप्रहर के लिये अनध्याय जाने (प्रादुष्कृतेष्वग्निषुत्) होमार्थ अग्नियों के प्रज्वलित कर लेने पर यदि (विद्युत्स्तनितनिःस्वने) विद्युत् का चमकना और गर्जना ही हो किन्तु वर्षा न हो तो (अनध्यायः सज्योतिः स्यात्) एक दिन भर वा रात्रि भर अनध्याय माना जाय

(यथा शेषे दिवा रात्रौ) जैसे उपद्रव के समय जितना दिन शेष हो वा जितनी रात्रि शेष रही हो उतने काल का अनध्याय मानना चाहिये ॥

भा०-इन्द्रियों वा मन को विकल करने वाले प्रचण्ड वायु चलने आदि के समय मन तथा इन्द्रियों को बशीभूत वा स्वस्थ रख के कोई ठीक २ वेदाभ्यास नहीं कर सकता इस कारण वेदाध्ययन की निष्फलता के सम्भव होने से वसु-समय में वेदाध्ययन का निषेध किया है । सन्ध्या के समय अग्निहोत्र करते हुए उपद्रव होने पर सन्ध्या वा अग्निहोत्र को संक्षेप से समाप्त कर देवे, विशेष स्वाध्याय न करे किन्तु प्रारम्भ किये अग्निहोत्रादि को बीच में ही छोड़ देने का निषेध नहीं है सो (नैत्यके नास्त्यनध्यायो०) इत्यादि द्वितीयाध्याय में कह चुके हैं । ग्रहों के परस्पर मिलने निकट आने वा क्रम के बदलने से पार्थिव वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्यादि के ग्रहों सम्बन्धी चक्षु मन आदि इन्द्रियों में गुणों का परिवर्तन-लौट पौट होता है इस कारण इन्द्रियों वा मन का ठीक स्वस्थ रहना कठिन है और स्वाध्याय की सफलता के लिये जितेन्द्रिय होना अत्यावश्यक है यही आशय जानो । अर्थात् जो २ तत्त्व सूर्यादि लोकों ग्रहों वा नक्षत्रों में हैं वा अन्तरिक्ष में सूक्ष्मस्थूल किन्हीं रूपों में हैं उन सभी के अंश प्रत्येक शरीरों में इन्द्रियादि नाना प्रकार के भेदों वाले विद्यमान हैं । आकाशादि में सभी उपद्रव तत्त्वों की विषमता से होते हैं उस काल में शरीरों के उन २ मन आदि में भी विषमता आती है जिस को साधारण लोग नहीं जान पाते पर अधिक शुद्ध बुद्धि वाले विशेष अनुभवी विद्वान् जान सकते हैं ॥१०६॥

नित्यानध्यायस्व स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च ।

धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥

अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्थ च सन्निधौ ।

अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने ।

उच्छिष्टः श्राद्धभुक् चैव मनसापि न चिन्तयेत् ।

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्विष्टस्य दक्षिणाम्

इयहं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥
यावदेकानुद्दिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति ।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्म न कीर्तयेत् १११

अ०-विद्यामसमाप्यापि ये व्रतं धर्मानुष्ठानरूपं ब्रह्म-
चर्यं समाप्य स्नान्ति ते धर्मनैपुण्यकामास्तैः प्राधान्येन
ग्रामादिषु वेदाध्ययनं न कार्यं विद्यास्नातानां च तदपेक्षया
दोषाल्पत्वम् । कस्मिन्नपि विशेषेण रुद्यमाने, जनसमवाये
मेलादौ, उदकेऽनूपादौ, एकमेव पितृब्राह्मणमुद्दिश्य यच्छ्रा-
द्धं तदेकोद्दिष्टं तस्य केतनं निमन्त्रणं प्रतिगृह्य स्वीकृत्य, राज्ञः
पुत्रजन्मनि राहोश्च सूतके सूर्यचन्द्रग्रहणे इयहं वेदाध्ययनं
त्यजेत् । दिनत्रयेण श्राद्धान्नस्यान्यस्य वा भुक्तस्य रसादिप-
रिणामः शरीरेण सह परिणतं जायते मलं चाधिक्येन
निस्सरति । अल्पस्य सत्त्वं च क्वापि नैव गणयते ॥

भा०-श्राद्धं पित्र्यं कर्म वेदाध्ययनं च दैवं ते च द्वे कर्मणी
अहोरात्रवद्विरुद्धे इति «द्वेसृती अशृण्वं०» वेदे मार्गद्वयप्र-
दर्शनेन सूचिते स्तः । एतावेव श्रौतस्मार्त्ता मार्गा तत्र स्मा-
त्तं गेहलौकिकः श्रौतश्च पारलौकिकः पारमार्थिकश्च । नच
यदैकस्य विरोधिनी यावद् गन्धोऽपि तिष्ठति तावत्तद्विरुद्धं
क्रियमाणं सफलं भवति । धर्मस्य प्राधान्ये वेदाध्ययनवि-
धिस्तेनैव निःश्रेयसावाप्तिः । अभ्युदयसुखहेतौ पितृयज्ञादौ
कर्मणि च चौर्याद्यधर्मापेक्षया धर्मत्वप्राधान्येपि न दैवक-
र्मापेक्षं प्राधान्यम् । देवपितृदेवासुरादिशब्दद्वयेनैव यत्रयत्र

मार्गादिविभागस्तत्रार्थो मार्गाऽपि दैवेऽन्तर्भवति । एवमत्र पितृसंबद्धं सर्वमेव कृत्यं दैवापेक्षयाऽवकृष्टमिति मत्वा शुद्धेनैव शुद्धं कर्म वेदाध्ययनमारब्धव्यम् । राज्ञः सूतके पुत्रपौत्रादिजन्मोत्सवेऽपि प्रायेण संनिहितसंबद्धानां व्यग्रतयाऽस्वास्थ्येन वेदाध्येतुरपि व्यग्रं चेतः सम्भवति । सर्वे च भावाः प्रायशो दिनत्रयेण शाम्यन्ति । राहोः सूतके सूर्यचन्द्रग्रहणादावपि ग्रहगुणपरिणामजन्यं वैकल्यं वेदाध्ययनस्यासम्यक्त्वे हेतुः । रहति त्यजति निवर्त्तयत्याच्छाद्यति प्रकाशमिति निवर्त्तनेन दैवनियमेन सर्वत्र यः सूर्यचन्द्रप्रकाशं बाधते स राहुः प्रकाशबाधायां च तत्सहचारिणी प्रज्ञापि बाध्यते तेनेति ध्येयम् ॥ १११ ॥

भाषार्थः—(धर्मनैपुण्यकामानाम्) तीन प्रकार के स्नातक गृहस्थ हीते हैं । एक विद्याध्ययन को समाप्त करके समावर्त्तन स्नान करने वाले, द्वितीय ब्रह्मचर्याश्रम के व्रतरूप नियम धर्मों का ठीक २ पूर्ण सेवन करके स्नान करने वाले और तृतीय विद्या और व्रत दोनों का पूरा २ सेवन करके समावर्त्तन करने वाले उन में द्वितीय कक्षा के स्नातक धर्म की प्रवीणता प्रबलता को चाहने वाले माने जाते हैं [इन तीनों में पर २ श्रेष्ठ हैं] उन को (ग्रामेषु नगरेषु च) ग्रामों और नगरों में (च) तथा (सर्वदा पूतिगम्ये च) सब ही समय दुर्गन्ध युक्त स्थानों में (नित्यानध्यायएव स्यात्) वेदाध्ययन का नित्य ही अनध्याय मानना चाहिये । किन्तु विद्यास्नातक को ग्रामादि में सर्वथा सर्वदा अनध्याय रखना इतना आवश्यक नहीं है (अन्तर्गतशवे ग्रामे) जिस ग्राम में मरे हुए किसी मनुष्य का मुर्दा शरीर धरा हो (वृषलस्य च सन्निधौ) नीच धर्मकण्टक धर्मविरोधी शूद्रों के समीप (रुद्रमाने) जहां कोई विशेष कर रीता हो (जनस्य च समवाये) और मनुष्यों के संघट्ट मेला आदि में (अनध्यायः) वेद पढ़ने का अनध्याय रखे (उदके मध्यरात्रे च) जल में जहां चारों ओर जल हो बीच में कहीं रीती आदि में वातुल आदि पर, आधी रात के समय (विण्मूत्रस्य विसर्जने) विष्ठा मूत्र का त्याग

करके श्रुति किये विना (उच्छिष्टः श्राद्धमुक् चैव) भोजन करके कुल्ला और हाथ पांव धोये विना तथा श्राद्ध भोजन करने वाला पुरुष (मनसापि न चिन्तयेत्) मन से भी वेद का चिन्तन न करे (विद्वान् द्विजः) विद्वान् विचारशील गृहस्थ ब्राह्मणादि स्नातक (एकोद्विष्टस्य केतनं प्रतिगृह्य) एक ही पितृ ब्राह्मण का पूजन करना जिसका उद्देश है ऐसे श्राद्ध का निमन्त्रण स्वीकार करके (ग्रहं ब्रह्म न कीर्त्तयेत्) निमन्त्रण समय से तीन दिन तक वेद न पढ़े (राज्ञो राहोश्च सूतके) तथा राजा के सूतक नाम पुत्रादि के जन्मोत्सव में और सूर्य चन्द्रादि ग्रहण पड़ने पर तीन दिन वेद का उच्चारण न करे (यावदेकानुद्विष्टस्य) जब तक एकानुद्विष्टश्राद्धान् का (गन्धो लेपश्च) गन्ध वा लेप (विदुषो विप्रस्य देहेतिष्ठति) विद्वान् ब्राह्मण के शरीर में रहे (तावद् ब्रह्म न कीर्त्तयेत्) तब तक वेद को न पढ़े । श्राद्ध का वा अन्य भोजन का रसादिरूप परिणाम तीन दिन में शरीर के साथ पूर्ण मेल करलेता है किन्तु शरीर के साथ उस का भेद नहीं रहता । और जो मल बनता सो भी अधिकांश निकल जाता है और यदि किंचित् मलांश रह भी जावे तो वह गणना में नहीं आता ॥

भा०—श्राद्ध—पितृकर्म और वेदाध्ययन दैव कर्म है वे दोनों ही कर्म दिन रात के समान परस्पर विरुद्ध हैं । सो (द्वे सृती अशृणवाम्) दो मार्ग अपने लिये हम मनुष्यों को सुनने जानने मानने चाहिये एक देवों का मार्ग और द्वितीय पितृ मार्ग इन्हीं दो मार्गों में से किसी न किसी मार्ग पर हम को चलने पड़ता है तीसरा कोई मार्ग नहीं है । इन्हीं दोनों को गीतादि में दैव आसुर शब्दों से कहा और योगशास्त्र में इन्हीं को शुक्ल कृष्ण मार्ग माना है और इन्हीं के संसार पर-सार्थ तथा शुभ अशुभ, धर्म अधर्मादि भी नाम हैं । इस प्रकार वेद के उक्त मन्त्र में दोनों मार्ग सर्वभेद मसकाने के लिये स्पष्ट ही दिखा दिये गये हैं । और वेद ने हम को जता दिया है कि “ येनेष्टं तेन गम्यताम् ” अब हमे अधिकार है चाहे जिस मार्ग से चलें । इन्हीं दो मार्गों का नाम श्रौत और स्मार्त्त है उन में स्मार्त्त संसारी मार्ग और श्रौत पारलौकिक है । और इन परस्पर विरुद्ध मार्गों में से जब तक एक की वासनामात्र गन्ध भी प्रबलता से ठहरा होता है तब तक उस से विरुद्ध मार्ग पर कोई नहीं चल सकता और चले तो दोनों से पतित होता है । धर्म की प्रधान कोटि में वेदाध्ययन वा ब्रह्मयज्ञ—स्वाध्याय—ऋषियज्ञ है उसी से निश्रेयस रूप पारमार्थिक सुख की विशेषप्राप्ति होती है । और

अभ्युदय-सांसारिक सुख की प्रधानता के लिये पितृयज्ञादि द्वितीय कक्षा के कर्म वा मार्ग का उपदेश है उस पितृयज्ञादि में चोरी आदि महा अधर्म की अपेक्षा ग्रन्थों में धर्म की अधिक प्रधानता और प्रशंसा होने पर भी दैव कर्म की अपेक्षा उस की प्रधानता वा प्रशंसा नहीं है । देव पितृ और देव असुर आदि दो २ शब्दों से मार्गों का जहां २ विभाग है वहां आर्ष मार्ग भी दैव के अन्तर्गत माना जायगा । इस प्रकार यहां शास्त्र में पितृ सम्बन्धी सभी कृत्य दैव की अपेक्षा निकृष्ट है । ऐसा मान कर शुद्ध दशा में ही कर ही वेदाध्ययन रूप शुद्ध कर्म का आरम्भ करना चाहिये । राजा के यहां पुत्र पौत्रादि के जन्मोत्सवरूप सूतक में प्रायः समीपस्थ वा सम्बन्धियों में हलचल वा व्यग्रता होने से स्वस्थता न रहने पर वेद पढ़ने वाले का चित्त भी व्याकुल रहना सम्भव ही है । सभी भाव प्रायः तीन दिन में शान्त हो जाते हैं । सूर्य चन्द्रादि ग्रहण रूप राहु के सूतक में भी सूर्यादि ग्रहों के गुणों का परिणाम लौट पेट होने से हुई विकलता वेदाध्ययन के ठीक २ अच्छे न होने का हेतु होगी । प्रकाश का आच्छादन वा निवृत्ति करने वाले वा रोकने वाले का नाम राहु है । इस अर्थ के अनुसार दैवी नियम से जो सब देशों में [जहां २ उन का प्रकाश होता] सूर्य चन्द्र के प्रकाश का बाधक होता वह राहु कहाता है । बाहरी प्रकाश की बाधा होने पर ही [जो भीतरी बुद्धि प्रकाश का सहायक है] उस के सहयोगी बुद्धि प्रकाश को भी बाधा पहुंचती है ॥१११॥

शयानः प्रौढपादप्रच कृत्वा चैवावसक्थिकाम् ।
 नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥
 नीहारे वाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः ।
 अमावास्याचतुर्दशयोः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥
 अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
 ब्रह्महाष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत्
 अ०-प्रौढपादप्रासनपीठादिषु संलग्नपादः । एकेनैव
 वसनादिना जान्वीर्मध्याङ्गस्य च बन्धोऽवसक्थिका ताम् ।

आमिषं-मांसं, जन्ममरणाशौचवतामन्नाद्यं पक्वं रोटिका-
दिकं च जग्ध्वा नाधीयीत तेन शुष्कान्नादानं न दोषावहम् ।
वाणशब्दे युद्धकाले युद्धविद्याशिक्षाप्रसङ्गे वा, वाणी वीणा-
विशेषइत्यन्ये सुगममन्यत् ॥

भा०-पद्मासनेन स्थित्वा वेदाध्ययनमन्यासनापेक्षया
वरम् । आमिषभक्षणं पापान्तर्वर्त्ति हिंसादिदोषसत्त्वात् ।
भक्षणान्तरकालस्य च निषेधो न सार्वकालिकः, सन्ध्याद्वये
विशिष्टं सावित्रीजपप्राणायामाग्निहोत्रादिकं कर्म कार्यं तत्र
विघ्नो न स्यात् । नात्रैकाकिना क्रियमाणं वेदाध्ययनं प्रति-
षिद्धमपित्वध्ययनाध्यापने गुरुशिष्यसाध्ये प्रतिषिद्धे । अ-
मावास्यायामेकाकिना गुरुणा विशेषेण वेदाध्ययनं कार्य-
म् । तस्य हानिरेव गुरोर्हननं न तु प्राणवियोग एवं शिष्ये-
ऽपि योज्यम् । पौर्णमास्यामष्टम्यां च चन्द्रिकासाम्येन सत्त्व-
गुणाधिक्ये सुखानुशयित्वेनाधीतो वेदो विस्मृतः स्यादि-
त्यादि कारणमन्वेष्यम् ॥ ११४ ॥

भांपार्थः-(शयानः प्रौढपादश्च) सीता हुआ पीढ़ी आदि आसन पर पग ज-
मा कर बैठा (अवसक्थिकां चैव कृत्वा) एक ही वस्त्रादि से घोंटू और मदरा को
बांध लपेट कर बैठा (आमिषं सूतकान्नाद्यमेव च जग्ध्वा) मांस तथा जन्म मर-
णादि से आशौच जिन के हो उन का पकाया रोट्टी आदि अन्न खा कर (ना-
धीयीत) वेद का अध्ययन न करे किन्तु सूतक वाले से सूखा अन्न लेना दोष का
हेतु नहीं है [यह बात अन्न के साथ आद्य पद लगा कर जतायी है] (नीहारे
वाणशब्दे च) जहां तुषार गिरता हो, तथा युद्ध के समय वा युद्ध शिक्षा [कवा-
यद्] के स्थान में जहां वाण आदि शस्त्रों का शब्द होता हो [कोई लोग वाण
शब्द से वीणा विशेष का अर्थ करते हैं । इस दशा में (वेणुशब्दे च) पाठ हीना
अच्छा प्रतीत होता है] (उभयोः सन्ध्ययोरेव च) दोनों समय साथ प्रातःकाल

की सन्ध्याओं में (अमावास्याचतुर्दश्याः) अमावास्या और दोनों चतुर्दशी (पौर्ण-
मास्यष्टकासु च) पौर्णमासी और दोनों अष्टमी इन सब समयों में वेद का पठन
पाठन गुरु शिष्य न करें (अमावास्या गुरुं हन्ति) अमावास्या गुरु को हानि
कारक (शिष्यं चतुर्दशी हन्ति) चतुर्दशी शिष्य के लिये अनिष्ट तथा (ब्रह्महा-
ष्टकापौर्णमास्यौ) अष्टमी और पौर्णमासी पढ़े पढ़ाये वेद को विस्मरण कराने
वाली हैं (तस्मात्ताः परिवर्जयेत्) इस कारण वेदाध्ययन में उन तिथियों को
अवश्य छोड़ देवे ॥

भा०-अन्य प्रकार बैठ वा लेट कर वेद के पढ़ने की अपेक्षा पद्मासन से
बैठ कर वेदाध्ययन करना उत्तम है। मांसभक्षण पाप के अन्तर्गत है हिंसादि दोष
युक्त होने से, मांस वा सूतकान्न खा के अनन्तर शीघ्र ही वेद पढ़ने का निषेध
है किन्तु खाने के पश्चात् कभी न पढ़े सो नहीं है। दोनों सन्ध्याओं के समय
वेदाध्ययन का निषेध इस लिये है कि सावित्री का जप, प्राणायाम और उस स-
मय में कर्त्तव्य अग्निहोत्रादि कर्म करे उन में विघ्न न हो। यदि कोई सर्वथा
दुरे कामों में लगा हो तो उस की अपेक्षा गुरु शिष्य प्रणाली से वेद का पढ़ना
भी अच्छा है। गुरु वा शिष्य अकेला बैठ कर भी वेद पाठ न करे यह निषेध
यहां नहीं है किन्तु पठन पाठन दोनों का निषेध है। अमावास्या के दिन गुरु
को अकेले बैठ कर तथा चतुर्दशी के दिन शिष्य को एकान्त में बैठ कर वेद का
विवेश अभ्यास एकाग्र चित्त से करना चाहिये इत्यादि से होने वाले फल की हानि
ही गुरु शिष्य की हानि है किन्तु हनन का अर्थ यहां प्राणवियोग होना नहीं
है। अष्टमी पौर्णमासियों में चन्द्र कलाओं की समता से होने वाली सर्वगुण
की वृद्धि जो सुख की और शुकती है इत्यादि कारण वेदाध्ययन का विस्मर-
ण होना वा अन्यथा होजाना सम्भव है। इसी प्रकार यहां न कहे अर्थवाद् रूप
कारण भी खोजने शोचने योग्य हैं ॥ ११४ ॥

पांसुवर्षेदिशांदाहे गोमायुविरुतेतथा ।

प्रवखरोष्ट्रे चरुवति पङ्क्तौ च न पठेद्द्विजः ॥

नाधीयीत प्रमशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।

वसित्वामैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥

प्राणिवायद्विवाऽप्राणि यत्किञ्चिच्छ्राद्धिकं भवेत् । तद्दालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्थो हि द्विजः स्मृतः ॥ चौरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाग्नि-कारिते । आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वा-द्भुतेषु च ॥ उपाकर्मणि चोत्सर्गं त्रिरात्रं क्षे-पणं स्मृतम् । अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम् । न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यान-नगः ॥ न विवादेन कलहे न सेनायां न सङ्गरे । न भुक्तमात्रे नाजीर्णं न वमित्वानशुक्तके ॥ अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वातिवाभृशम् । रुधिरे च सुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥

अ०—दिशां दाहेऽदृष्टग्रामादिज्वलनोपद्रवसत्त्वे, मैथुन कालिकं वासोऽपिधाय, श्राद्धिकं किमपि दानमन्नं वासो गवादिकं प्राणिदानं वा गृहीत्वाऽनध्यायः कार्यः । उपप्लुत-आपद्ग्रस्ते, अद्भुतेषु वा अर्थजनककार्येषु विस्मयोत्पादकेषु । उपाकर्मण्युत्सर्गं च त्रिरात्रोऽनध्यायः । आग्रहायण्या उप-रिष्ठात्कृष्णपक्षस्य चतस्रोऽष्टम्योऽष्टकापदवाच्याः । ऋतुस-माप्तिकालिकसर्वास्वेव रात्रिषु नाहस्वनध्यायः । इरिण-स्थजपरभूमिस्थः, सङ्गरे संग्रामे, शुक्तके पर्युषितविकृतान्ना-

दने । शिष्टातिथेराज्ञामनादाय च न वेदमधीयीतेति योज्यम् । सुगममन्यत् ॥

भा०-सर्वत्रैवापवित्रतयेन्द्रियवैकल्येन लोभक्रोधकामादिप्राबल्येन वा वेदाध्ययनं न सम्यक्सुफलं स्यादिति प्रतिषेधः। उ-सर्गे विरमेत्पक्षिणीं रात्रिमिति यदुक्तं तत्पक्षान्तरं धर्मनैपुण्यकामानामिति वात्र सर्वत्र योज्यम्। अतिथ्याज्ञानादानेऽपमानमतिथेः स्यादतिथियज्ञेवाविघ्नइति ॥१२२॥

भाषार्थः-(पांसुवर्षे दिशां दाहे) जब धूलि वर्षती हो, अदृष्ट परोक्ष ग्राम आदि में अग्नि लगने से किसी दिशा में अधिक दाह हो (गोमायुविरुते तथा श्वखरी-घट्टे च रुवति) शृगाल-स्यार, कुत्ता, गधा और जंतु जब रोते चिल्लाते हों तथा (पङ्क्तौ च द्विजो न पठेत्) ब्राह्मणादि गृहस्थ, अनेक लोगों की पांति में भी श्राध्याय बुद्धि से वेदाध्ययन न करे किन्तु मङ्गलार्थ किन्हीं मन्त्रों के बोलने का निषेध करना इस में इष्ट नहीं है। (श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा) श्मशान-सरघट के समीप ग्राम के समीप और गोशाला में भी (मैथुनं वासो वसित्वा) मैथुन करने समय के वस्त्र पहन कर (आद्रिकं प्रतिगृह्य च) आद्रु सम्बन्धी अन्न वा धनादि का दान लेकर भी (नाधीयीत) वेद को न पढ़े (प्राणि वा यदि वाऽप्राणि) गौ आदि प्राणी वा अन्न धनादि जड़वस्तु (यत्किञ्चिच्छ्राद्रिकं भवेत्) जो कुछ वस्तु आद्रु सम्बन्धी हो (तदालभ्याप्यनध्यायः) उस को स्वीकार करके भी वेद का अनध्याय अवश्य करना चाहिये क्योंकि (हि) जिस कारण (पाश्यास्यो द्विजः स्मृतः) ब्राह्मण का हाथ भी मुख ही के तुल्य माना गया है। अर्थात् मुख से आद्रु भोजन करने के समान ही हाथ से दान लेने में अपने को अपवित्र वा संसारी पितृ मार्ग की ओर झुका मान लेवे क्योंकि मन से दान लेना स्वीकार न होने पर हाथ से लिया जाना सम्भव नहीं और जब मन में लोभ प्रविष्ट हुआ तो शरीर के भीतर कल्मष आगया इस कारण दान लेकर दैवपथ वेदाध्ययन न करे (चौरैरुपप्लुते ग्रामे) जिस ग्राम में चोर डाकू आदि आपत् आगयी हो (संभ्रमे चाग्निकारिते) जहां अग्नि लग जाने से हल्ला हो गया हो (सर्वाद्भुतेषु च) और विस्मय-आश्चर्य के हेतु सब ही उपद्रवों के

समय (आकालिकमनध्यायं विद्यात्) दिन रात-आठ प्रहर का अनध्याय जाने (उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम्) उपाकर्म और उत्सर्ग समाप्त किये पश्चात् तीन दिन रात अनध्याय मानना मुख्य वा प्रधान पक्ष है और उत्सर्ग में जो एक दिन रात का अनध्याय कह चुके हैं वह इस की अपेक्षा गौण है (अष्टकासु त्वहोरात्रम्) मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष से लेकर माघ वा फाल्गुन तक प्रत्येक मास की कृष्णाष्टमियों का नाम पारस्कर गृह्यसूत्रादि में अष्टका कहा है उन में विशेष कर वेद की न पढ़े और इस की अपेक्षा पूर्व कहा सब अष्टमियों का अनध्याय सामान्य है वा जितने काल अष्टमी रहे उस में पूर्व का अनध्याय और नवमी आजाने पर भी इन अष्टकाओं में अनध्याय जताना ग्रन्थकार का अभीष्ट जानो (ऋत्वन्तासु च रात्रिषु) ऋः ऋतुओं के अन्तिम एक ३ दिन रात्रि अनध्याय करे (अश्वमारूढो नाधीयीत न वृक्षं न च हस्तिनम्) घोड़ा वृक्ष और हाथी पर चढ़ा हुआ वेदाध्ययन न करे (न नात्रं न खरं नोष्ट्रम्) नौका, गधा और कंट पर चढ़ा भी वेद न पढ़े [यहां खर कहने से अर्द्ध खर-खिचर का भी निषेध जानो] (नेरिणस्थो न यानगः) न ऊपरभूमि में और न गाढ़ी पर चढ़ के कही जाता हुआ (न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे) विवाद, कलह, सेना और युद्ध जहां हों वहां भी वेद न पढ़े (न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके) तत्काल भोजन किये पश्चात्, अजीर्ण रोग के समय, वमन करने पीछे और वासी अन्न खा कर ३ । ४ घण्टे तक वेद न पढ़े (अतिथिं चाननुच्चाप्य) कोई अष्ट अतिथि ठहरा हो तो उस से आच्चा लिये विना (मारुते वाति वा भृशम्) तेज वायु चलते समय (रुधिरे च रूते गात्रात्) जब शरीर से रुधिर निकल गया हो (शस्त्रेण च परिक्षते) और किसी लाठी आदि शस्त्र का घाव लग जाने के समय वेद न पढ़े । यहां सर्वत्र ही विधिपूर्वक वेद पढ़ने का निषेध जानो किन्तु प्रयोजनार्थ किसी मन्त्र के बीलने का निषेध नहीं है ॥

भा०-ऐसी उक्त दशाओं में वेद का विधिपूर्वक पढ़ना कदापि सुफल नहीं हो सकता । कहीं अपवित्र होने से कहीं इन्द्रियों की चञ्चलता से और कहीं काम क्रोध लोभादि की प्रबलता से वेदाध्ययन रूप उत्तम धर्म कार्य ठीक सफल होना सम्भव नहीं है इस कारण निषेध किया जानो । उत्सर्ग में पक्षिणी रात्रि का जो अनध्याय कह चुके हैं वह पक्षान्तर वा किहू का मतान्तर है । अथवा यहां सर्वत्र (धर्मनैपुण्यकासानाम्) की अनुवृत्ति करनी चाहिये । अतिथि की

आज्ञा लिये विना उस का अपमान-अनादर ही वा अतिथिपूजन में विघ्न होगा इस कारण विना आज्ञा मांगे पढ़ने का निषेध किया है ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीतकदाचन ।

वेदस्याधीत्यवाप्यन्त मारण्यकमधीत्यच ॥

ऋग्वेदो देवदेवत्यो यजुर्वेदस्तुमानुषः ।

सामवेदः स्मृतः पितृयस्तस्मात्तस्याशुचिध्वनिः ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् ।

क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद् वेदमधीयते ॥ १२५ ॥

अ०-सामवेदो यत्र गीयेत तत्रर्ग्यजुषी कदापि नाधीयीत । कमपि वेदमध्ययनेन समाप्यारण्यकाभिधं कमपि ग्रन्थमधीत्य च तस्मिन्नहनि वेदान्तरं नाधीयीत । देवाण्येव देवताः प्राधान्येनास्य तादृशऋग्वेदः, मनुष्याण्येव देवताः प्राधान्येन वाच्यार्था यस्य तादृशो यजुर्वेदः, पितर्येव प्राधान्येन देवता वाच्यार्था यस्येति तादृशः सामवेदः स्मृतोऽभिमतो ब्रह्मर्षिभिस्तस्मात्पितृदेवताकत्वात्तस्य तृतीयवेदस्याशुचिध्वनिरस्ति । एवं च मत्वा विज्ञेन सामध्वनिकाल ऋग्यजुषी नाध्येतव्ये । एतदुक्तप्रकारेण वेदस्य गूढाशयं विदन्तस्त्रयीनिष्कर्षं वेदत्रयस्य सारभूतं प्रणवव्याहृतिसावित्र्यात्मकं निस्सृतं विद्वांसो जानानाश्च पूर्वमन्वहं सप्रणवव्याहृतिकां सावित्रीमभ्यस्य पश्चाद् वेदमधीयते । तथैव चान्यैरित्तरैरप्यध्येतव्यमित्याशयः ॥

भा०-वेदत्रये देवत्रयस्य यथासंख्यं प्राधान्यमवगन्तव्यम् । देवतास्यग्निवाच्यब्रह्मणः प्राधान्यं तस्यैवेन्द्रादिनाम-

भिरपि प्राधान्येनर्ग्वेदे वर्णानम् । मनुष्याणां च प्राणवा-
 य्वाश्रितजीवनप्रधानत्वान्मनुष्येषु वायोरेव प्राधान्यं तस्यै-
 वेषेत्वेत्यादिना यजुषि प्राधान्येन वर्णानम् । रात्रावेवाधि-
 क्येन कामासक्तिर्वर्धते तदैव चोदेति चन्द्रः, चन्द्रमा म-
 नसो जातइति वेदे मनश्चन्द्रमसोश्च कार्यकारणसम्बन्धः
 स्फुटएव प्रदर्शितः । मनसएव च काम उत्पद्यते तस्मादेव
 च तस्य मनसिजइति नामास्ति । एवं च रात्रिश्चन्द्रमाः का-
 मासक्तिश्चेति सहयोगिनोऽपानाश्रितस्य मृत्योः सदैव स-
 हायाः । इमएव मनुष्याद्यायूषि सर्वभावांश्च विशेषेणाददाना
 यन्ति तस्मादादित्यपदवाच्याः । यमाहुश्चन्द्रमाइति वेदे च-
 न्द्रमसएवापरं नाम सोमइति स्फुटमुक्तम् । आयन्तु नः पि-
 तंरः सोम्यासइति च वेदे पितृणां सोमसम्बन्धित्वं बहुत्रैव
 प्रदर्शयते । अन्यदेवापेक्षया सोमस्य चन्द्रमसः पितृणां च
 जलेन विशिष्टः सम्बन्धः । यथा पृथिव्याद्यपेक्षया मालि-
 न्यसंसर्गेण जलमेवाधिकमपवित्रं सम्पद्यते तथैव देवम-
 नुष्यापेक्षयाधिक्येन पितृणामशुद्ध्या सम्बन्धो बोध्यः ।
 जले मालिन्यादानशक्तिश्च स्वाभाविकी तस्मादेव वस्त्र-
 शरीरादिलग्नं मलं प्रक्षालनावसरे जलेनैवाधिक्येनादीयते
 तेनोदकमधिकं मलिनं जायते पृथिवीमलं खादत्यग्निः
 क्षिपति । एवं च सौम्यपितृभिरशुद्धेर्विशिष्टः सम्बन्धइति
 सूक्ष्ममीक्षणीयम् । अन्यमहायज्ञापेक्षया पितृयज्ञे श्राद्धे शौ-
 चमाधिक्येनाशुद्धिभयादेवापेक्षितम् । नैवात्र पितरः केचि-
 देकदेश्यभिमता आदीयन्तेऽपितु देवत्वमनुष्यत्वादिवत् पि-

तरोऽपि सार्वदेशिकाः सार्वकालिकाएव ग्राह्याः । सामवेदे च सोमस्य प्राधान्यं मन्त्रेष्वेव दृश्यते । अन्यदेवतापेक्षया- तत्र पवमानसोमएवाधिकतरमन्त्राणां वाच्यार्था देवतेति । अग्न्यादिपदैरपि तृतीयकोटिस्थस्याग्न्यादेरेव वर्णनं साम- वेदे साधु मन्तव्यम् । यथा लोके कोऽपि जनो विषयास- क्तिसम्बद्धवार्त्ताः कुर्वन् शृण्वन् वा कृत्वा श्रुत्वा वा स- द्यश्चेतसः स्वास्थ्याभावात्प्रकरणान्तरवार्त्ताः कर्त्तुमनुभवितुं सम्यग्बोद्धुं चाशक्तस्तथैवात्र पितृसम्बद्धो विचारः पाठश्च देवाद्यपेक्षयावकृष्टः प्रकरणान्तरं च तस्य समाप्तौ किय- त्कालं समाहितो भूत्वाऽन्यवेदाध्ययनं कार्यम् । लोकेऽपि नानाविषयकं गानं सहैव क्रियमाणं यथा हानिकरमरोचकं व्यर्थमशोभनं च तथैवात्रापि बोध्यम् । यथा संप्रति मा- तृभाषां वदन्तस्तदर्थानप्यनायासेन जानन्ति । तथैव पुरा वेदानपि वाचाधीयाना महर्षयः सम्यग् बुध्यन्तेस्म तद- र्थमेवाधिक्येन प्राधान्येन वा सामध्वनावृग्यजुषयोरध्य- यनप्रतिषेधः । ये च न किमपि बुध्यन्ते तदर्थं च प्रतिषे- धो व्यर्थकल्पएव । नचात्र सामाध्ययने शारीरिकमाशौ- चमपितु मानसं किञ्चिद्वाचिकं चाशौचमपेक्षणीयम् । प्रणव- महाव्याहृतिपूर्विकां तत्सवितुरिति वेदत्रयसारभूतां सावि- त्रीं पूर्वं समाहितेनाधीत्य पश्चात्तद् व्याख्यानरूपस्य वेदस्य ब्रह्मयज्ञानुष्ठानमत्याऽध्ययनं कार्यं येन स्वप्रयोजनमपि का- र्यारम्भे प्रतिज्ञातं जायते ॥ १२५ ॥

भाषार्थः—(सामध्वनावृग्यजुषी कदाचन नाधीयीत) सामवेद का जहां गान होता ही वा स्वयं सामवेद का अध्ययन करके तत्काल ही ऋग्वेद यजुर्वेद का

कदापि अध्ययन न करे (त्रिदस्य वाप्यन्तमधीत्य) किसी वेद को अन्त तक पढ़ के (आरण्यकमधीत्य च) और ऐतरेयादि आरण्यक ग्रन्थों को पढ़ कर उसी दिन अन्य वेद का अध्ययन न करे [किसी वेद को पढ़ के शिथिलबुद्धि हुआ तथा आरण्यक ग्रन्थों के अध्ययन से उस विषय की और झुकी बुद्धि वाला वेद को रुचि पूर्वक वा वेदाशय को समझता हुआ नहीं पढ़ सकेगा इस कारण निषेध किया है] (ऋग्वेदो देवदेवत्यः) सर्वत्र व्याप्त अग्नि आदि देवता ही जिस के मुख्य वाच्यार्थ हैं अर्थात् सर्वदेशी अग्न्यादि दिव्य देवताओं का ही जिस में वर्णन है ऐसा ऋग्वेद है (यजुर्वेदस्तु मानुषः) और जिस में मुख्य कर मनुष्यों का वर्णन है-मनुष्य सम्बन्धी भाव जिस के मन्त्रों में प्रायः देवता हैं ऐसा यजुर्वेद है । तथा (सामवेदः पितृयः स्मृतः) मुख्य कर पितर ही देवता नाम वाच्यार्थ जिस के हैं अर्थात् जिस में पितृपदार्थ का मुख्य वर्णन है ऐसा सामवेद पूर्वज ब्रह्मर्षि महर्षि तत्त्ववेत्ता वेदमर्मज्ञों ने माना जाना वा निश्चित किया है (तस्मात्तस्याशु-चिध्वनिः) इस पितृदेवता वाला होने के कारण उस सामवेद की ध्वनि-शब्द वा घोष ऋग्वेद की अपेक्षा अपवित्र है (एतद्विदन्तः) इस उक्त प्रकार से वेद के सूक्ष्म मूल गूढाशय को जानते और (त्रयीनिष्कर्षं विद्वांसः) तीनों वेद से निकाले सारांशरूप प्रणव, तीन महाव्याहृति तथा [तत्सवितु०] इस मन्त्र के आशय को जानते हुए दीर्घदर्शी वेदपारग महात्मा लोग (अन्वहं पूर्वमभ्यस्य पञ्चाद्वेदमधीयते) प्रतिदिन उस प्रणव व्याहृति सहित सावित्री मन्त्र को सावधानता के साथ प्रथम पढ़ के पश्चात् वेद को पढ़ते हैं । अर्थात् सब वेद का मूल वा सार सर्वोत्तम प्रणव को सब से पहिले, तदनन्तर उस का व्याख्यान व्याहृति और उस का भी व्याख्यान सावित्री तदनन्तर उस का भी व्याख्यान तीनों वेद हैं इस से वेद पढ़ने का यही क्रम ठीक है इसी प्रकार सब मनुष्यों आस्तिकों आर्यों को सदा वेद पढ़ना चाहिये ॥

भा०-तीन वेदों में तीन देवता यथासंख्य से प्रधान जानने चाहिये । सब देवताओं में अग्नि नामक देवता ब्रह्म नाम सब से बड़ा है । उसी अग्नि का इन्द्रादि नामों से मुख्य कर ऋग्वेद में वर्णन है । और वह प्रसिद्ध अग्नि एक देशी लेना इष्ट नहीं है किन्तु सर्वत्र व्याप्त अनेक नाम रूपों वाले शुद्ध अग्नि का व्याख्यान जानो असीम अग्निपन में ईश्वर वा परमेश्वर का ग्रहण होगा वह अग्नियों का भी अग्नि है । मनुष्यों का जीवन प्राणरूप वायु के आधार पर

ठहरा है इस कारण मनुष्यों के मनुष्यपन वा प्राणियों के प्राणपन की स्थिति में वायु मुख्य है। उसी वायु देवता का (इषेत्वा०) इत्यादि यजुर्वेद में प्रधानता से वर्णन है [क्योंकि इष्-ऊर्ज् नामक अन्न जल के ही आधीन प्राणवायु रूप जीवन की स्थिति हो रही है। चाहे यों कहो कि नाम रूपान्तर को प्राप्त हुए वायु के ही नाम इष्, ऊर्ज् हैं तो वायु से ही प्राण वायु की स्थिति है क्यों कि विरुद्धांश की प्रवृत्ता में किसी की स्थिति रह भी नहीं सकती] रात्रि में ही अधिक कर कामभोग की ओर झुकावट बढ़ती है और रात्रि में ही चन्द्रमा का उदय होता है। (चन्द्रमा मनसो जातः) चन्द्रमा मन से हुआ इस प्रकार वेद में चन्द्र और मन का कार्य कारण सम्बन्ध स्पष्ट ही दिखाया गया है। और मन से ही काम उत्पन्न होता इसी कारण कामदेव का नाम संस्कृत में मनसिज है। इस प्रकार रात्रि, चन्द्रमा और कामासक्ति परस्पर सम्बन्ध रखते हुए अपान से सम्बन्ध रखने वाले मृत्यु के सहयोगी वा सदा ही सहायक हैं। येही सब मनुष्यादि प्राणियों की आयुओं का और अन्य सब भावों की विद्यमानता का सदा ही आदान करते लेते हुए चले जा रहे हैं। इस से ये रात्रि आदि मुख्य कर आदित्य कहाते हैं। और वेद में यह भी स्पष्ट कहा है कि “जिस सोम को चन्द्रमा भी कहते हैं”। तथा वेद के अनेक स्थलों में पितरों को सोम्य कह कर सोमत्व के साथ पितृपन का मुख्य सम्बन्ध दिखाया है। और अन्य अग्न्यादि देवताओं की अपेक्षा सोम, चन्द्रमा और पितरों का जलत्व के साथ विशेष सम्बन्ध भी सिद्ध है। जैसे पृथिवी आदि की अपेक्षा मलिनता के संयोग-मेल से जल ही अधिक वा शीघ्र मलिन हो जाता है। वैसे ही देव और मनुष्यों [तेज और पृथिवी के विकारों] की अपेक्षा जल तत्त्व सम्बन्धी पितरों का अशुद्धि के साथ अधिक सम्बन्ध जानो। जल में मलिनता को पकड़ने की स्वाभाविक शक्ति है इसी से वस्त्र वा शरीरादि में लगे मल को धोने के समय अधिकांश जल ही अपने में ले लेता है इसी से जल अधिक मलिन हो जाता है। पृथिवी मल को खाकर अपने रूप में बना लेती और अग्नि अन्धकारादि मल को इधर उधर फेंकता है किन्तु स्वयं मलस्वरूप ये दोनों नहीं बनते। अन्धकारादिरूप मल को इधर उधर फेंकने से ही वेद में अग्नि का नाम अज है। इसी कारण क्षेपणार्थ [अजगतिपेक्षणयोः] धातु है। इस प्रकार सोमत्वसम्बन्धी पितरों के साथ अशुद्धि का अधिक मेल है यह सूक्ष्म विचार से शोच लेना चाहिये। अन्य महायज्ञों की अपेक्षा पितृयज्ञ नामक आहुति में अशुद्धि का अधिक भय होने से ही शुद्धि करने

की अधिक आवश्यकता मानवधर्मशास्त्रादि में दिखायी वा मानी गयी है। यहां पितृपदवाच्य कोई वस्तु एकदेशी लोगों के माने हुए लिये जाने इष्ट नहीं हैं। किन्तु देवत्व मनुष्यत्वादि के तुल्य पितर भी सर्वदेश काल और वस्तु सम्बन्धी लेने इष्ट हैं। सामवेद के मन्त्रों में ही अन्य देवताओं की अपेक्षा पवमान सोम देवता की प्रधानता दीखती है। और अग्न्यादि पदों से भी तृतीय कोटि सम्बन्धी अग्नि आदि का वर्णन सामवेद में ठीक मानना चाहिये [पढ़ने वाले ध्यान रखें कि यहां मनु जी ने तीनों वेद का मुख्य सारांश विषय अतिसंक्षेप से कह दिया है। जिस से सामवेद का वर्णनीय विषय संक्षेप से पितृ वा आदित्य हुआ] जैसे लोके में कोई पुरुष विषयासक्ति सम्बन्धी बातें करता वा सुनता हुआ अथवा सुन कर के चित्त के स्वस्थ न होने से तत्काल ही प्रकरणान्तर की बातें कर सुन वा जान नहीं सकता यदि करे जाने भी तो ठीक अच्छी सफलता न होगी। वैसे ही यहां पितृ सम्बन्धी विचार और पाठ करना देवकर्मादि की अपेक्षा निकृष्ट और प्रकरणान्तर है उस प्रथम काम को करलेने पर कुछ काल ठहर सावधान होके अन्य वेद का अध्ययन करना चाहिये। लोक में भी अनेक भिन्न २ विषयों का गान वा भाषण एक काल में किया हुआ जैसे हानिकारक, अरुचिकर, व्यर्थ और कुशोभित होता है वैसे यहां भी जानो। जैसे वर्तमान समय में अपनी २ मातृभाषा को बोलते हुए उसके अर्थ को भी सहज में ही सब जानते हैं। वैसे ही पूर्वकाल में वेद का पाठ करने वाले ऋषि लोग पाठ करते समय वेदाशय को समझते जानते थे। उन्हीं के लिये अधिकांश वा प्रधानता से सामवेद की ध्वनि होते समय ऋग्यजु के पढ़ने का निषेध है। और जो वेद का अर्थ कुछ भी नहीं जानते समझते उन के लिये निषेध व्यर्थसा ही है किन्तु सर्वथा व्यर्थ नहीं है। और यहां सामवेद के पढ़ने में शरीर सम्बन्धी कोई अशुद्धि नहीं जानना किन्तु मानस और कुछ वाचिक अशुद्धि अन्य वेद की अपेक्षा से है। लोकापेक्षा से तो सामवेद का अध्ययन भी अतिपवित्र ही माना जायगा। ओ३म्कार और तीन महाव्याहृतियों सहित [तत्सवितु०] इस तीनों वेदों के सार वा मूलरूप सावित्री मन्त्र को सावधानता के साथ प्रथम पढ़ के पीछे इही के व्याख्यान—भाष्यरूप वेद का ब्रह्मयज्ञानुष्ठानबुद्धि से मनुष्य को पाठ करना चाहिये। जिस से कार्य के आरम्भ में अपने प्रयोजन की भी प्रतिज्ञा हो जाती है कि मैं यह करता वा चाहता हूँ ॥ १२५॥

पशुमण्डूकमार्जारं श्वसर्पनकुलाखुभिः ।
 अन्तरागमनेविद्या दनध्यायमहर्निशम् ॥
 द्वावेववर्जयेन्नित्यं मनध्यायौप्रयत्नतः ।
 स्वाध्यायभूमिंचाशुद्धा मात्मानंचाशुचिंद्विजः॥

अ०-अध्यापकाध्येत्रोरन्तरा मध्यतः पश्वादीनामा-
 गमने निस्सरणे चाहर्निशमनध्यायं जानीयात् । स्वाध्या-
 यभूमिमशुद्धां स्वस्थाशुचित्वं वा द्वावेव सर्वानध्यायेषु प्रधा-
 नौ स्वाध्यायस्य सम्यक्त्वबाधकौ हेतू मन्तव्यौ ॥

भा०-पश्वादयो मनुष्याद् विभ्यति न सहसा मध्य
 आयान्ति यदा चायान्ति निस्सरन्ति च तदा मनुष्यतेजः
 केनापि कामादिप्राबल्येनाभिभूतोऽनुमातव्यस्तदा चात्म-
 नोऽशुद्धता व्यग्रतैव चानध्यायस्य कारणमवसेयम् । यदि
 केनापि भीतोऽन्यत्र मार्गमनुपलभमानः पश्वादिराचार्या-
 न्तेवासिनोर्मध्यतो निस्सरेत्तदा नैवादृशोऽनध्यायो मन्त-
 व्योऽपितु पश्वादिनिकृष्टयोनिजदूषितवाध्वादिसङ्गेनाशुद्धा-
 भ्यां तदानीमपि सम्यक्स्वास्थ्यवध्यनध्यायः कार्यइति ।
 सर्वस्मिन्नेवात्रानध्यायप्रकरणे सर्वानध्यायकारणेषु स्था-
 नस्य स्वमनोवाक्कायानां चाकुलत्ववैषम्यादिरूपं च मालि-
 न्यं प्रधानं तथासति यदि कुत्रापि कर्णाश्रवाद्यनध्यायका-
 रणोपस्थितावप्यनध्यायोचितं ग्लान्यादिरूपमशुचित्वं स्व-
 स्थ स्थानस्य वा नोपलभ्येत तदा विज्ञेन शास्त्रसाराशय-
 मवगच्छताऽनध्यायो नमन्तव्यः कार्यो वा । यदा च क्वापि

स्वाध्यायहेतुषु सस्वप्यनुक्तकारणैः स्वाध्यायकारणाभासैर्वा
चेतोविक्षेपकं वैषम्यमुपलभ्येत तदाप्यनध्यायः कार्यइति
ग्रन्थकृदन्तराशयोऽवलोकनीयः ॥ १२७ ॥

भाषार्थः—(पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः) गौ बैल आदि पशु, मिडुका, बिल्ली—विलाड़, कुत्ता, सांप, न्योला और मूषों के (अन्तरागमने) पढने पढाने वाले गुरु शिष्यों के बीच से निकल जाने पर (अहर्निशमनध्यायं विद्यात्) दिन रात का अनध्याय जाने (द्विजः) ब्राह्मणादि द्विज (स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धाम्) वेदाध्ययन के लिये अशुद्धस्थान (आत्मानं चाशुचिम्) और अपनी मानस वाचिक शारीरिक अपवित्रता इन (द्रावेवानध्यायौ प्रयत्नतो नित्यं वर्जयेत्) दो ही प्रकार के अनध्यायों को प्रयत्न से नित्य त्यागता रहे ॥

भा०—यहां अन्तिम श्लोक से सब अनध्याय प्रकरण का मुख्य सारांश संक्षेप से कह दिया है। पशु आदि स्वयं ही मनुष्य से डरा करते हैं इसी कारण सहसा मनुष्यों के बीच में होकर निकलना नहीं चाहते। और जब आवें वा निकलें तो मनुष्य का तेज किसी कामादि की प्रबलता से वा अदृष्ट संचित पाप के उद्बुद्ध होने से दब गया मानना चाहिये। इस दशा में मनुष्य की मानस व्यग्रता विक्षिप्तता रूप अशुद्धि ही अनध्याय का कारण जानो। और यदि किसी से डरा हुआ अन्य और जाने निकलने का मार्ग न मिलने पर पशवादि, गुरु शिष्य के बीच से निकल जावे तो वैसे अनध्याय मानना आवश्यक नहीं है। किन्तु पशवादि निकृष्ट योनियों के वायु आदि के लगने से अशुद्ध हुए गुरु शिष्य को उस समय भी सम्यक् चित्त स्वस्थ होने तक अनध्याय करना मानना चाहिये। इस अनध्याय प्रकरण के सब कारणों में स्थानकीमलिनता और अपने मन वाणी शरीर की व्याकुलता विषमतरूप मलिनता ही प्रधान कारण है। ऐसा होने पर यदि कहीं कान में अधिक शब्द सुन पड़ने आदि अनध्याय के कारणों की उपस्थिति होने पर भी अनध्याय करने योग्य ग्लानि आदि रूप अपनी वा स्थान की अपवित्रता प्रतीत न हो तो शास्त्र का सर जानते हुए विद्वान् को अनध्याय न मानना वा न करना चाहिये। और जब कहीं स्वाध्याय करने के कारणों के होने पर भी न कहे कारणों से वा स्वाध्याय के कारणाभासों से चित्त का विक्षेप करने वाली विषमता प्रतीत हो तो भी अनध्याय करना चाहिये यह ग्रन्थकार का भीतरी अभिप्राय जानो ॥ १२७ ॥

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यं मप्यृतीस्नातको द्विजः १२८

[षष्ठ्यष्टम्यात्त्वमावास्या मुभयत्र चतुर्दशीम् ।

वर्जयेत्पौर्णमासीं च तैलेमांसेभगेश्वरे ॥]

अ०-अमावास्यादिसर्वास्वेव तिथिषु सर्वदा ऋतुकालेऽपि स्नातको द्विजो ब्रह्मचारी भवेत्स्त्रीसंयोगं न कुर्यात् ॥

भा०-पर्ववर्जं ब्रजेच्चैनामिति तृतीयउक्तोऽप्ययमर्थो विशेषेण स्नातकस्येदं व्रतमिति ज्ञापनार्थं पुनर्वचनम् । तेन स्नातकादन्यस्यामावास्यादिषु संप्रयोगे सामान्यो दोषः । षष्ठ्यष्टम्याविति पद्यं क्वचिदुपलभ्यते । रामचन्द्रेण व्याख्यातं च तैलादीनि च सुरतस्यैव साधनानीति न कोऽपि विशेषोऽवगम्यते ॥ १२८ ॥

भाषार्थः-(अमावास्यामष्टमीं च) अमावस दीनों अष्टमी (पौर्णमासीं चतुर्दशीम्) पौर्णमासी और दीनों चतुर्दशी इन छः तिथियों में (ऋतावपि स्नातको द्विजो नित्यं ब्रह्मचारी भवेत्) ऋतुकाल के अनुसार भार्यागमन उचित होने पर भी स्नातकब्राह्मणादिपुरुष नित्य नाम सदा ही ब्रह्मचारी रहे स्त्री का स्पर्शादि भूल कर भी न करे ॥

भा०-पूर्व तृतीयाध्याय में कह चुके हैं कि «पर्वतिथियों को छोड़ कर शेष ऋतुकाल में भार्यागमन करे» इस से अमावास्यादि का निषेध आजाने पर भी विशेष कर स्नातक को यह व्रत-नियम ही अपने लिये मानना चाहिये । यह जताने के लिये यहां फिर कहा गया है । इस कारण विधिपूर्वक समावर्तन न करने वालों को सामान्य दोष है । अर्थात् उन-के अन्य अधिक दोषों में यह भी मिल जायगा तथापि उक्त तिथियों में ब्रह्मचारी न रहने की अपेक्षा अन्यो के लिये भी ब्रह्मचर्य रखना उत्तम ही है । (षष्ठ्यष्टम्यौ०) यह श्लोक कहीं २ अधिक मिलता है और सब से पिछले भाष्यकार रामचन्द्र ने इस पर भाष्य भी

किया है । श्लोक का अर्थ यह है कि—दो पष्ठी, दो अष्टमी, अमावास्या, दो चतुर्दशी और पौर्णमासी इन तिथियों में—तैल मर्दन, मांसभक्षण, बाल बनवाना और स्त्रीसंयोग न करे । सो तैलादि कामासक्ति के ही उपयोगी शृङ्गार वा साधन हैं इससे कोई प्रकार की विशेषता इस पद्य की नहीं जान पड़ती ॥१२८॥

**नस्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरोनमहानिशि ।
नवासोभिःसहाजस्त्रं नाविज्ञातेजलाशये ॥१२९॥**

अ०—महानिश्यर्द्धरात्रे, वासोभिः सह बहुवासांसि धृत्वा, अजस्त्रं बहुकालं पुनःपुनर्वैकस्मिन् दिने स्नानं नाचरेत् ॥

भा०—एतासु दशासु स्नानमाचरतो रोगादिना शरीरबाधा-भयं देहबाधनं च धर्म्यकर्मानुष्ठानव्याघातकम् । सति च कारणाविशेष आस्वपि दशासु स्नानमप्रतिषिद्धमेव ज्ञेयम् ॥१२९॥

भाषार्थः—(भुक्त्वा स्नानं नाचरेत्) भोजन करके तत्काल ही स्नान न करे (नातुरो न महानिशि) न रोगदशा में न आधी रात के समय (न वासोभिः सहाजसूम्) न बहुत वस्त्र पहन के न एक दिन में कई बार और (नाविज्ञाते जलाशये) न अज्ञात जलाशय में कभी स्नान करे ॥

इन उक्त दशाओं में स्नान करने से रोगादि द्वारा शरीर का पीडित होना सम्भव है । और शरीर के पीडित होने पर धर्मानुकूल वेदाध्ययनादि कर्मों में विघ्न होगा । और किसी कारण उक्त समयों में स्नान करना उचित वा आवश्यक हो तो विशेष वा अपवादरूप कर्त्तव्य का यहां वा कहीं भी निषेध नहीं है ॥१२९॥

देवतानांगुरोराज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।

नाक्रामेत्कामतच्छायां बभ्रुणोदीक्षितस्य च १३०

अ०—देवतानां अज्ञशालादिदेवस्थानानां देवयज्ञरतद्विजानां वा बभ्रुणः पिङ्गलस्य कस्यापि, दीक्षितस्य यज्ञं कुर्वतः ॥

भा०—एषां छायायाः प्रतिकृतेऽपि विजानतोल्ल-

[१३२]

मानवधर्ममीमांसायाम्-

दूचनं निरादरश्च न कदापि कार्यः किमुत साक्षात्, महता-
मनादरे धर्मस्यैव स्वसुखहेतोरनादरोऽवगन्तव्यः ॥ १३० ॥

भाषार्थः—(देवतानां गुरोराज्ञः) मुख्य कर देवयज्ञ में तत्पर हुए पुरुषों तथा यज्ञशालादि देवस्थान-पूजा उपासना के स्थानों (स्नातकाचार्ययोस्तथा) तथा स्नातक और आचार्य (बभ्रुणो दीक्षितस्य च) कोई पिङ्गल जीव और यज्ञ में प्रतिष्ठा पाये दीक्षित पुरुष के (कामतश्छायां नाक्रामेत्) समझ पूर्वक प्रतिकृति [तस्वीर] का भी अनादर तिरस्कार उल्लङ्घन न करे ॥

भा०—जब कि इन मान्य देव आदि के प्रतिविम्ब का भी तिरस्कार त्याज्य है तो समझ पूर्वक किसी महान् पुरुष का साक्षात् अनादर करना तो अति ही बुरा है। महान् धर्मनिष्ठ पुरुषों के अनादर से अपने सुखहेतु धर्म वा विद्या का ही अनादर होता जानो ॥ १३० ॥

मध्यन्दिनेऽर्द्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम्
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥

अ०—सामिषं समांसं च श्राद्धं भुक्त्वा चतुष्पथं न सेवेत ॥

भा०—सन्धिकालेषु सृष्टौ केचिद्भावाः परिवर्तन्ते मां-
सभक्षणं चाधर्मजनकमेव तेनापि भावपरिवृत्तौ चतुष्पथे
सेव्यमाने च तत्र वायोः प्राबल्यात्कोऽप्युपद्रवः सम्भवति ॥

भाषार्थः—(मध्यंदिनेऽर्द्धरात्रे च) ठीक दीपहर के समय तथा आधीरात्रि के समय (सामिषं श्राद्धं च भुक्त्वा) मांस सहित श्राद्धान्न का भोजन करके (उभयोः सन्ध्ययोश्चैव) और सायंप्रातः दोनों सन्ध्या के समय भी (चतुष्पथं न सेवेत) चौराहे वा चौक पर न ठहरे वा निवास न करे ॥

भा०—दीपहर आदि प्रधान सन्धियों के समय अवान्तर प्रलयों के समान सृष्टि में पदार्थों की दशा का परिवर्तन सदा ही हुआ करता है। और मांसभक्षण के अधर्म जनक होने से ही भक्षक की दशा बदलती है जैसे समय चौराहे का सेवन करने पर वहां वायु की प्रबलता होने से मनुष्य को कोई रोगादि उपद्रव होना सम्भव है ॥ १३१ ॥

उद्धर्त्तनमपस्नानं विण्मूत्रेरक्तमेव च ।

श्लेष्मनिष्ठ्युतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तुकामतः॥

अ०—उद्धर्त्तनद्रव्यं, स्नानोदकं, सर्वाण्येतानि कामतो नाधितिष्ठेत् ॥

भा०—अपवित्रस्पर्शेन मनोग्लानौ धर्महानिः सम्भवति॥

भाषार्थः—(उद्धर्त्तनमपस्नानम्) उवटन करने से छूटे मलिन आटा आदि, स्नान किये मलिन जल (विण्मूत्रे रक्तमेव च) विष्ठा, मूत्र, लोहू (श्लेष्मनिष्ठ्यु- तवान्तानि) कफ, थूक और वमन किये अन्नादि पर (कामतो नाधितिष्ठेत्) समझपूर्वक न बैठे वा इन सब को न छुवे ॥

भा०—अपवित्र अशुद्ध वस्तुओं का स्पर्श करने से मन में ग्लानि होने पर शुद्धचित्तरूप धर्मनिष्ठा की हानि होना सम्भव है ॥१३३॥

वैरिणांनोपसेवेत सहायंचैववैरिणः ।

अधार्मिकंतस्करंच परस्यैवचयोषितम् ॥

नहीद्रुशमनायुष्यं लोकेकिञ्चनविद्यते ।

याद्रुशंपुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

भा०—शत्रोः सहायोऽपि स्वशत्रुरेव स चावसरमवाप्य पीडयेत् । अधर्म्यादिसङ्गेन मलमूत्रादेरिव दुःखफलं स्फुटमेव वहवस्तु परदारोपसेविनः प्रत्यक्षं लोके हन्यन्ते दारस्वामि भिरन्येषां चोपस्थितमेव प्राणभयम् । ब्रह्मचर्यविघाताधि- कयादपि तेषामल्पायुष्ट्वसम्भवः ॥ १३४ ॥

भाषार्थः—(वैरिणां वैरिणः सहायं चैव) अपने शत्रु और शत्रु के सहायक (अधार्मिकं तस्करं च) अधर्मी हिंसकादि तथा चोर (परस्यैव चयोषितम्) और अन्य की स्त्री वा वेश्या का (नोपसेवेत) सङ्ग वा सहवास न करे (पुरुषस्येह याद्रुशं परदारोपसेवनम्) इस जगत् में मनुष्य के लिये जैसा परस्त्रीगमन प्राणघा-

तक है (लोके नहि किञ्चनमीदृशमनायुष्यं विद्यते) संसार में ऐसा अन्य कोई भी दुष्कर्म शीघ्र आयु का नाशक नहीं है ॥

भा०-शत्रु का सहायक भी शत्रु ही होता वह अवसर पा कर पीड़ित ही करेगा । अधर्मा आदि के सङ्ग से मल मूत्रादि के समान कुसङ्ग के दुर्गुण लगना स्पष्ट ही है । परस्त्रीगामी व्यभिचारी लोग जिस की स्त्री से व्यभिचार करते हैं उस के पति आदि द्वारा अनेक तो प्रत्यक्ष ही मार डाले जाते और जो बचते भी हैं उन के प्राणों का भय सदा उपस्थित रहता है । और अपान वायु सस्त्रन्धी जैसा २ व्यभिचार बढ़ता है वैसे ही प्राण का जीवनरूप बल वा तेज घटता जाता है यही मरण का स्वरूप है । इस प्रकार ब्रह्मचर्य के अधिक नाश होने से ही मनुष्य प्रायः अल्पायु होते हैं ॥१३४॥

क्षत्रियंचैवसर्पंच ब्राह्मणंचबहुश्रुतम् ।

नावमन्येतवैभूषणुः कृशानपिकदाचन ॥

एतत्त्रयंहिपुरुषं निर्दहेदवमानितम् ।

तस्मादेतत्त्रयंनित्यं नावमन्येतबुद्धिमान् १३६

अ०-वेदादिबहुशास्त्रार्थाभिज्ञं ब्राह्मणं, क्षत्रियादिं च स्वजीवनस्य स्थितिमभीप्सुर्जनो नावमन्येत ॥

भा०-सांसारिकदशायां यउच्चकोटिस्थास्तएव क्षत्रियादयस्तेजस्वित्वस्वभावा अवमानं न सहन्तेऽतएवावमन्तुर्विनाशं चिन्तयन्ति तस्मान्नावमन्तव्याः । परमार्थपथा गच्छन्तस्तु ब्राह्मणाः सहन्तएव सोढव्यं च तैः । क्षत्रियादिभिरवमानं न सोढव्यमिति ग्रन्थकृदाशयो नास्ति । तैस्तु सोढव्यमयमेव विधिरन्यैश्च सहेरन् नवा सहेरन् दशाद्वयेऽपि न तेषामवमानं कार्यमित्येवात्र विधिवाक्यम् ॥ १३६ ॥

भाषार्थः—(क्षत्रियं चैव सर्वं च) क्षत्रिय-शारीरिक बल वा तेज वाले तथा सांप वा दुष्ट प्रकृति वाले पुरुष (ब्राह्मणं च बहुश्रुतम्) बहुत वेदादिशास्त्रों के जानने वाले ब्रह्मवर्चस तेजधारी ब्राह्मण (कृशानपि भूष्णुः कदाचन नावमन्येत वै) इन देखने में दुर्बलों का भी अपनी विद्यमानता वा जीवन चाहने वाला पुरुष कदापि अपमान तिरस्कार न करे (अवमानितमेतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेत्) अपमान किये हुए ये तीनों ही अपमान करने वाले पुरुष को जला देवे यह सम्भव है (तस्माद् बुद्धिमानेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत) तिस से बुद्धिमान् पुरुष इन तीनों का नित्य-कभी अपमान न करे ॥

भा०—संसारी दशा में जो उच्चकोटि में पहुंचे हों वे ही यहां ब्राह्मण क्षत्रिय पदों से लेने इष्ट हैं कि धर्म में अधिक तत्पर होने से जो स्वाभाविक तेजस्वी होते वे अपमान को नहीं सहते। उनमें अन्य एषणाओं की अपेक्षा लोकैषणा अधिक रह जाती है। प्रकाश में अन्यकार को निवृत्त वा नष्ट करने के समान प्रबल धर्म में ही अधर्म को भस्म करने की शक्ति है। सो धर्मात्माओं में रहता हुआ धर्म अधर्मियों में ठहरे अधर्म को भस्म कर देता है। इस प्रकार स्वभाव से ही ब्राह्मणादि अधर्मी को न सहते हुए उस के विनाश का चिन्तन करते हैं इस से उन का अपमान न करे। और परमार्थ मार्ग में चलने वाले ब्राह्मण तो अपमान को भी सहलेते हैं और उन को सहना भी चाहिये तभी उस मार्ग में चल सकेंगे। क्षत्रियादि अपमान को न सहें यह ग्रन्थकार का अभीष्ट नहीं है। उन के लिये तो शास्त्र में सहने की ही आज्ञा होगी पर वे सहें वा न सहें दोनों ही दशा में अन्यों को उन का अपमान कदापि नहीं करना चाहिये यही विधान है ॥१३६॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।

आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनामन्येतदुर्लभाम्

अ०—स्नातको गृही कदाचिन्निष्फलेप्युद्योगे मन्दभाग्यो
हमशक्तोहमुपार्जयितुमित्यात्मानं नावमन्येतापित्वामृत्योः
श्रियमन्विच्छेदेनादुर्लभां न न्येमत ॥

भा०—स्वस्थातिथ्यादीनां स्त्रीपुत्रादिभृत्यानां च निर्वाहाय गृहस्थेनान्नधने प्राप्तुमेष्टव्ये । तदर्थं धर्मानुकूलं

यतमानेन धनाद्यप्राप्तौ दुःखितेनोद्योगो न त्याज्यः । यत्
उद्योगेन हि सिध्यन्ति कायाणि न मनोरथैः ॥ १३७ ॥

भाषार्थः—(पूर्वाभिरसमृद्धिभिरात्मानं नावमन्येत) पूर्व समय से उद्योग क-
रने पर धनादि ऐश्वर्य प्राप्त न हों तो भी मेरे भाग्य में ही धनादि नहीं, मैं
दीन असमथ हूँ ऐसे निर्धन दरिद्र दशा से अपना अपमान न करे (आमृत्योः
अियमन्विच्छेत्) किन्तु मरण पर्यन्त लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये खोज वा
उद्योग करता रहे कि धर्मानुकूल धनादि पदार्थ कैसे प्राप्त हों (एनां दुर्लभां न
मन्येत) लक्ष्मी धनैश्वर्य की प्राप्ति को दुर्लभ न माने ॥

भा०—अपने शरीर, अतिथि आदि और स्त्री पुत्र सेवकादि का पालन पो-
षणादि उचित निर्वाह करने के लिये गृहस्थ को अन्न धनादि प्राप्त करने की
इच्छा करनी चाहिये । उस के लिये धर्मानुकूल प्रयत्न करने पर भी धनादि प्राप्त
न हों तो भी दुःखित हो कर उद्योग न त्यागे क्योंकि उद्योग से ही संसार प-
रमार्थ के सब कार्य सिद्ध होते हैं केवल चाहनामात्र से नहीं ॥१३७॥

सत्यंब्रूयात्प्रियंब्रूया न्ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।

प्रियंचनानृतंब्रूया देषधर्मःसनातनः ॥

भद्रंभद्रमितिब्रूयाद् भद्रमित्येववावदेत् ।

शुष्कवैरंविवादंच नकुर्यात्केनचित्सह ॥ १३८ ॥

अ०---सत्यत्वप्रियत्वगुणद्वयविशिष्टं वाक्यं ब्रूयात् ।
अप्रियं सत्यमसत्यं प्रियमित्येकगुणं वचो न ब्रूयादेषएव
वेदमूलकत्वात्सनातनो धर्मइति । यत्प्रियं तदसत्यं यच्च
सत्यं तदप्रियं यत्र स्याद्दु गुणद्वयं चैकत्रासंभवं दृश्येत तत्र
भद्रंभद्रमिति ब्रूयात्परिणामे यस्य कल्पाणमेव फलं तदेव
वदेत् पक्षान्तरे च भद्रमित्येव वा वदेत् । यत्रार्द्धमधिकं वा
भद्रं तद् वदेन्नत्वभद्राधिकम् । यद्वाऽन्यस्यानुमोदने यत्र
भद्रं पश्येत्तदा भद्रं भद्रमित्येव वा वदेद्वाद्दशकथनेन शुष्कं

वैरं विवादं वा केनापि सह स्यान्नतादृशं प्रियं सत्यं वा
धर्ममिच्छता वक्तव्यम् । यतः सत्यं हि तद् भूतहितं यदेव ॥

भा०—सत्यं प्रियं च, अप्रियं सत्यं, प्रियं चासत्यमि-
ति त्रयः पक्षास्तत्र धर्ममिच्छता सर्वत्रैव परिणामेऽनि-
ष्टापेक्षयाऽधिकेष्टसिद्धिरवलोकनीया । यदाधिक्येन परिणा-
मे सुखकरं तदेव वक्तव्यं यद्वा सर्वार्थसाधकं तदंशे मौन-
मवलम्बनीयम् । नचाग्रहेण सत्यमेव प्रियमेव वा वक्तव्य-
मपितु यदन्यस्य हितकरं तदेव सत्यं प्रियं चावसेयम् ॥१३६॥

भाषार्थः—(सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्) सत्य बोले और प्रिय बोले जिस में
सत्यता और कोमलता दोनों हों ऐसा वाक्य सर्वत्र बोले (अप्रियं सत्यं न ब्रू-
यात्) ऐसा सत्य न कहे जो अप्रिय हो (प्रियं चानृतं न ब्रूयात्) और ऐसा
प्रिय वा कोमल भी न कहे जो मिथ्या हो (एष धर्मः सनातनः) वेदमूलक
होने से यही सनातन धर्म है । जो प्रिय हो वह असत्य और जो सत्य हो वह
अप्रिय हो तो (भद्रं भद्रमिति ब्रूयात्) कल्याण ही कल्याण जिस का फल वा
परिणाम ही वैसा कहे (भद्रमित्येव वा वदेत्) यदि सर्वथा अच्छा परिणाम
किसी का न दीखे तो जिस में आधा वा अधिक-प्रबल हित हो वैसा कहे ।
अथवा अन्य का अनुमोदन कर देने में ही जहां परिणाम में हित दीखे वहां
अच्छा २ हां २ हूं २ वा अच्छा हां आदि कहे अर्थात् (शुष्कवैरं विवादं च के-
नचित्सह न कुर्यात्) सत्य वा प्रिय बोल कर किसी के साथ सूखा निष्प्रयोजन
वैर वा विवाद न करे । अर्थात् किसी का विशेष हित वा प्रयोजन सिद्ध होता
हो तो सत्य कहने द्वारा होने वाले वैर विवाद से भी न डरे वा हटे । इस से धर्म
चाहने वाला सर्वदा परीपकार को ही सत्य माने ॥

भा०—सत्य प्रिय, अप्रिय सत्य और प्रिय असत्य ये उत्तम मध्यम निरुष्ट तीम
पक्ष वा कक्षा हैं । उन में धर्म चाहने वाले को सर्वत्र ही परिणाम में अनिष्ट
की अपेक्षा अधिक इष्टसिद्धि देखनी चाहिये । जिस का परिणाम जैसा अच्छा
होगा वह वैसा ही धर्म होगा । जो परिणाम में अधिक सुखकारी है उसी को कहे
अथवा सर्वार्थ साधक मौन को उस अंश में धारण करे किन्तु सत्य वा प्रिय का

परिणाम शोचे विना आग्रह से न कहे और जिस में अन्य का हित हो उसी को सत्य और प्रिय माने ॥ १३९ ॥

नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यन्दिने स्थिते ।

नाज्ञातेन समंगच्छेन् नैको न वृषलैः सह ॥

हीनाङ्गानतिरिक्त्वाङ्गान् विद्याहीनान्वयोधिकान्

रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥

नस्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान्

नचाऽपि पश्येद् अशुचिः स्वस्थो ज्योतिर्गणान् दिवि ॥

स्पृष्ट्वैतान् शुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् ।

गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥

अनातुरः स्वानि खानि नस्पृशेदनिमित्ततः ।

रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥१४४॥

अ०-अतिकल्यमतिप्रभाते, अज्ञातेन सह, एकः, वृष-
लैर्धर्मविरोधिभिश्च सह न क्वापि कदापि गच्छेत् । हीना-
ङ्गान् चक्षुरादिहीनानतिरिक्त्वाङ्गान् षडङ्गुलिकादींश्च नाक्षि-
पेत् । उच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणाग्नीन् पाणिनां न स्पृशे-
त् । अशुचिः स्वस्थश्च सन् दिवि ज्योतिर्गणान् नचापि पश्ये-
त् । अनातुरः कण्डूयनादिरोगेण विना प्रक्षालनादिनिमि-
त्तमन्तरेण च स्वानि खानि न स्पृशेत् । रहस्यानि रोमाणि च
स्पर्शे विवर्जयेत् । अशुचिना गवादिस्पर्शकर्मणि क्रियमाणा-
इन्द्रियस्पर्शेव प्रायश्चित्तं कार्यम् ॥

भा०—गमनमत्र विशिष्टतया विदेशाय प्रस्थानं बहुकालावधि विज्ञेयं नतु नैत्यकं वाटिकादिषु शुद्धवायुसेवनार्थं भ्रमणम् । प्रातःसायंगमन उपासना व्याहन्येत । आक्षेपेणान्येषां दुःखं स्याद् दुःखहेतुरेवाधर्मः । गवादिस्पर्श-उपलक्षणार्थः । उच्छिष्टः स्पर्शादिरूपे कस्मिन्नपि कार्ये न लगेत् । शौचं विस्मृत्य स्वस्थेनापि न भाव्यमपितु शौचावधि तन्मनसा सापेक्षेण स्थातव्यम् । यदि शौचं विस्मृत्य कार्यान्तरे प्रवर्त्तत तदा पुनः शौचं कृत्वा शुद्धोदकेन्द्रियस्पर्शं यथाविधि कुर्यात् । प्राणपदेनात्र चक्षुरादीन्द्रियाणां ग्रहणम् ॥१४४॥

भाषार्थः—(नातिकल्पं नातिसायम्) अतिप्रातःकाल—उषःकाल से पूर्व, सन्ध्याकाल में अधिक अन्धकार हो जाने पर (नातिमध्यन्दिने स्थिते) ठीक दोपहर के समय (नाज्ञातेन समम्) किसी अज्ञान मनुष्यादि के साथ (नैको न वृषलैः सह) अकेला और धर्महीन धर्मविरोधी नीच शूद्रादि के साथ मार्ग में कभी (न गच्छेत्) न चले (हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्) चक्षु आदि अङ्गहीनों, छः अङ्गुली वाले आदि अधिकाङ्गों (विद्याहीनान्वयोऽधिकान्) अपने से अधिकायु वाले विद्याहीनों (रूपद्रव्यविहीनांश्च) जिन का रूप देखने में अच्छा न हो जिन के समीप द्रव्य न हो ऐसे दरिद्रों (जातिहीनांश्च) और वर्णसंकरादि को काणा, कुवडा, मूर्ख, काला, टिढमुहा, दरिद्री, दुरङ्गा आदि शब्द बोलकर (नाक्षिपेत्) न चिडावे (उच्छिष्टो विप्रः) भोजन वा मलमूत्र त्याग करने पर शुद्धि किये विना ब्राह्मणादि द्विज (गोब्राह्मणानलान्) चक्षुरादि इन्द्रियों ब्राह्मण और अग्नि को (पाणिना न स्पृशेत्) हाथ से न छुवे (अशुचिः स्वस्थो दिवि ज्योतिर्गणान् न चापि पश्येत्) और अपवित्र दशा में स्वस्थ बैठा हुआ आकाश में तारे चन्द्रमादि को न देखे (अशुचिरेतान् स्पृष्ट्वा) अपवित्र दशा में इन्द्रियादि का स्पर्श करले तो (नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत्) जब २ स्पर्शकरे तब २ शुद्ध जल से इन्द्रियों का स्पर्श रूप प्रायश्चित्त करे (गात्राणि चैव सर्वाणि) तथा शरीर के हाथ पांव आदि अवयवों को भी जलस्पर्श द्वारा शुद्ध करे (नाभिं पाणित-

लेनतु) और सीधे हाथ के तले से नाभि का स्पर्श करे (अनातुरोऽनिमित्ततः) खुजली आदि बाधा पीड़ा के विना तथा धोने आदि प्रयोजन के विना (स्वानि खानि रहस्यानि रोमाणि च) सब इन्द्रियछिद्रों और उपस्थ सम्बन्धी गुप्त रोमों [बालों] का (न स्पृशेत्) स्पर्श न करे किन्तु (सर्वाण्येव विवर्जयेत्) स्पर्श करने में सभी का त्याग रखे ॥

भा०-गमन का निषेध विशेष कर कहीं विदेश को वा दूर तक जाने का है जिस में काल अधिक लगे किन्तु शुद्धवायुसेवन के लिये किसी वाग आदि में जाने वा विशेष कार्य सिद्धि के लिये इधर उधर कहीं समीप जाने का निषेध नहीं है । प्रातः सायं कहीं को चलने से सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म में विघ्न और चौरादि का भय है । ठीक दोपहर का मार्ग निषेध भी अधिकांश वसन्त ग्रीष्म ऋतु का जानो । अज्ञात के साथ वा अकेला चलने में भय-कष्ट तथा नीच के साथ कुसङ्ग दोष है । हीनाङ्गादि को आक्षेप करने से उन को दुःख पहुंचेगा । और किसी को दुःख पहुंचाना भी अधर्म ही है । इन्द्रियादि का झूठे छूना उपलक्ष्यार्थ है अर्थात् अपवित्र हुआ किसी के स्पर्शादि किसी कार्य में न लगे । और शुद्धि करना भूल कर स्वस्थ भी न हो बैठे किन्तु जब तक हाथ पांव धोके कुत्ला आदि न करले तब तक उसी की और चित्त रखे । यदि शुद्धि करना भूल कर अन्य कार्य में लग जावे तो फिर शुद्धि कर शुद्ध जल से इन्द्रियस्पर्श विधिपूर्वक सब इन्द्रियों की शुद्धि रूप प्रायश्चित्त करे ॥ १४४ ॥

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात् प्रयतात्माजितेन्द्रियः ।

जपेच्चजुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यंचप्रयतात्मनाम् ।

जपतांजुहुतांचैव विनिपातो न विद्यते ॥१४६॥

अ०-अभीष्टप्रयोजनसिद्धये नित्यं नैरालस्यत्वेन शौचजितेन्द्रियत्वजपहोमरूपब्रह्मयज्ञदेवयज्ञादावाचारे तत्परः स्नातको विप्रः स्यात् । यत एवमाचरतां गृहिणां विनि-

पातो विपरीतोऽनिष्टकर इष्टबाधकः कोऽप्युपद्रवो न विद्यते ॥

भा०—आयुर्नैरोग्यं धनादिकं च गृहस्थानामाधिक्ये-
नाभीष्टानि मङ्गलानि तेषां मालिन्यालस्यादयो दोषा बा-
धकाः शौचादयश्चायुरादीनां स्थापकाइति मत्वा मङ्गलमि-
च्छता तथैवोद्योगः कार्यइति ॥१४६॥

भाषार्थः—(मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्) अभीष्ट प्रयोजन रूप मङ्गल की सिद्धि के लिये निम्नलिखित उत्तम आचरण में युक्त रहे (प्रयतात्मा जितेन्द्रियः) सब प्रकार नित्य शुद्धि करे इन्द्रियों को वशीभूत करे इस के साथ (अतन्द्रितो नित्यं जपेच्चाग्निं जुहुयाच्चैव) नित्य निरालस रहता हुआ ब्रह्मयज्ञरूप सन्ध्योपासन अट्टा भक्ति से वेद मन्त्रों का जप पाठ और नित्य अग्निहोत्र रूप देवयज्ञ करे (मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्) शरीरान्तःकरण की बाह्याभ्यन्तर शुद्धि रखने पूर्वक (जपतां जुहुतां चैव विनिपातो न विद्यते) ठीक २ सन्ध्या अग्निहोत्र नियमानुकूल मङ्गलाचरण करते हुआ पर विपरीत अनिष्ट विपत्ति अकाल मृत्यु आदि नहीं आती ॥

भा०—ठीक समय तक जीवन बना रहना, नीरोगता और निर्वाहार्थ ध-
नादि की प्राप्ति गृहस्थों के लिये अधिक कर अभीष्ट मङ्गल हैं । उन के बाधक नाशक मलिनता और आलस्यादि दोष हैं और शौचादि आचार आयु आदि के स्थापक हैं ऐसा निश्चित मान कर मङ्गल चाहते हुए को वैसा ही उद्योग करना चाहिये । जिन घरों के प्रधान पुरुष शुद्धि जितेन्द्रियतादि पूर्वक ठीक २ निय-
मानुसार अट्टा भक्ति के साथ ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ का नित्य सेवन करते हैं । निश्चय जानो कि उन घरों में अकाल मृत्यु वा भयङ्कर विपत्ति कदापि न आवेगी ॥१४६

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।

तंह्यस्याहुःपरंधर्म मुपधर्मोऽन्यउच्यते ॥

वेदाभ्यासेनसततं शौचेनतपसैवच ।

अद्रोहेणचभूतानां जातिस्मरतिपौर्विकीम् ॥

पौर्विकीं संस्मरन् जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
 ब्रह्माभ्यासेन चाजस्र मनन्तं सुखमश्नुते ॥
 सावित्रान् शान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यं ।
 पितृश्चैवाष्टकास्वर्चं नित्यमन्वष्टकासु च १५८

अ०-अतन्द्रितस्त्यक्तालस्यो गृहस्थो यथाकालं साय-
 मादिनिश्चितकाले नित्यं वेदमेवाभ्यसेन्नान्यं कमपि निब-
 न्धम् । यद्वा वेदमभ्यस्ये देवायाभ्यासे कामचारः । स एव त-
 स्य परो धर्मोऽन्यश्रोपधर्म उच्यते तत्त्वविद्धिः । सततम-
 विरतवेदाभ्यासेन सहैव शौचतपश्चादिनियमेनाहिंसादिय-
 मेन चाविरतं सेव्यमानेन पूर्वजन्मानुभूतं वृत्तमल्पं मध्यं
 बहुतरं वा स्मरति । पौर्विकीं जातिं च संस्मरन् वेदमेव
 तत्परतयाऽभ्यस्यति । तेन च कर्मणाऽग्रेऽग्रेऽनन्तं निश्च्येयस-
 सुखमेवाश्नुते । सावित्रान् सवितृदेवताकान् शान्तिसूक्तसा-
 ध्यांश्च होमान् पर्वस्वमावास्यापौर्णमास्योर्नित्यं कुर्यात् ।
 हेमन्तशिशिरयोः कृष्णाष्टमीषु तत्सन्निहितास्वन्वष्टकासु
 नवमीषु च विशेषेण पितृयज्ञं कुर्यात् । एतच्च कर्म नैत्यक-
 वेदाभ्यासेन सहैव गृहस्थेन कार्यम् ॥

भा०-पूर्वाक्तेष्टसिद्ध्यर्थं निर्दिष्टकर्मसु जपरूपब्रह्मयज्ञ-
 स्य सर्वापेक्षया प्राधान्यं द्वितीयकक्षायां च दर्शेष्यादिरूप-
 देवयज्ञस्येति प्रदर्शितमत्र शौचादीनि त्वनयोरेवाङ्गानीति
 बोध्यम् । अहिंसादियमैः शौचादिनियमैश्च सह सेव्यमानो
 वेदाभ्यासरूपो ब्रह्मयज्ञो मोक्षपर्यन्तानन्तस्यापि सुखस्य प्रा-

पकः किमुत संसारसुखं ततोऽतिरिच्येत ? । यदा कोऽपि यमनियमैः सहैव वेदाभ्यासं करोति तत्र यदि मध्ये विशिष्टा दृढता रुचिस्तदेव कर्तुमाधिक्येनोत्साहश्च वर्धेत तदानीं जानीयात्पूर्वजन्मसु वेदाभ्यासेन यत्सुखमिष्टसाधनं चानुभूतं मया तस्यैव सूक्ष्मतयावस्थितः संस्कारो जागरणोन्मुख इव सन् मामेतदेव कारयितुं प्रोत्साहयति । यत्कार्यं बृहत्त्वमापन्नं प्रत्यक्षीभवति तदादौ सूक्ष्ममेवाङ्कुरितं जायते स्मरणस्य पूर्वरूपमपि स्मरणमेव ज्ञेयम् । तस्माद्वेदाभ्यासएव साङ्गोपाङ्गः क्रियमाणः सर्वाभीष्टसाधकोऽवसेयः ॥ १५० ॥

भाषार्थः—(अतन्द्रितो यथाकालं वेदमेव नित्यमभ्यसेत्) गृहस्थ पुरुष निरालस हो—आलस्य छोड़ कर ठीक समय पर नित्य वेद का ही अभ्यास करे किन्तु अन्य किसी ग्रन्थ का नहीं अथवा वेद का अभ्यास अवश्य करे अन्य का अभ्यास करे वा न करे (अस्य तं हि परं धर्ममाहुः) इस गृहस्थ का वेदाभ्यास ही परम धर्म पूर्वज तत्त्वदर्शी महर्षियों ने कहा है (अन्य उपधर्म उच्यते) और इस से भिन्न अग्निहोत्र देवयज्ञादि सभी द्वितीय कक्षा का धर्म कहा गया है (सततं वेदाभ्यासेन) ऋषियज्ञरूप निरन्तर वेदाभ्यास करने (शौचेन तपसैव च) बाहर भीतर शुद्धि, शुद्ध भक्ष्याहार और तप करने (भूतानामद्रोहेण च) तथा प्राणियों के साथ सर्वथा द्रोह त्यागरूप अहिंसादि यमों के सेवन से (पौर्विकीं जातिं स्मरति) पूर्व जन्म का स्मरण होता है (पौर्विकीं जातिं संस्मरन्) पूर्व जन्मों का स्मरण करता हुआ (पुनर्ब्रह्मैवाभ्यसते) फिर आगे २ अधिक २ वेद का ही अभ्यास करता है (ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते) पीछे उस निरन्तर किये वेदाभ्यास से अनन्त मोक्ष सुख भोगता है । (पर्वसु सावित्रान् शान्तिहोमांश्च नित्यशः कुर्यात्) अमावास्या पौर्णमासी नामक पर्वतिथियों में सवितृ देवता वाले मन्त्रों सूक्तों से और शान्ति सूक्तों से नित्य नाम प्रत्येक पर्व में होम करे (अष्टकास्वन्वष्टकासु च नित्यं पितृर्देवार्चत्) हेमन्त और शिशिर ऋतुओं के कृष्णपक्ष की अष्टमियों और उनके समीप की नवमी तिथियों में विशेष कर पितृपनयुक्त ब्राह्मणों का पूजन रूप पितृयज्ञ विशेषकर करे ॥

भा०-पूर्वाक्त पूर्णायु आदि रूप इष्ट सिद्धि के लिये दिखाये गये मङ्गलकारी कर्मों में जपयज्ञ रूप ब्रह्मयज्ञ की प्रधानता उत्तमता सब की अपेक्षा अधिक है और द्वितीय कक्षा में दर्शष्टि आदिरूप देवयज्ञ की उत्तमता है यह बात यहां दिखायी गयी है । और शौचादि कर्म इन्हों के अङ्ग वा साधन हैं । अहिंसादि यम और शौचादि नियमों के साथ सेवन किया ब्रह्मयज्ञरूप वेदाभ्यास जब अनन्त मोक्षपर्यन्त सुखों का हेतु है तो छोटा संसार सुख उस से मिलना क्या कठिन है ? । जब कोई यम नियमों के सहित जपयज्ञरूप वेदाभ्यास करता है उस के करते २ यदि बीच में विशेष दृढ़ता विशेष रुचि और उसी को करने के लिये अधिकता से उत्साह बढ़े तब जान ले कि पूर्वजन्मों में जप यज्ञ रूप वेदाभ्यास द्वारा जिस इष्ट सिद्धिरूप सुख का अनुभव मैं कर चुका हूं सूक्ष्मरूपसे अवस्थित उसी का संस्कार जागना चाहता हुआ मुझ को यह कर्तव्य करने के लिये उत्साह देता है यही पूर्वजन्म के स्मरण का चिह्न है । जो कार्य बहीदशा में प्रत्यक्ष होता वह प्रथम सूक्ष्म रूप से ही अङ्कुरित अवश्य होता है और स्मरण का पूर्वरूप भी स्मरण ही जानो इस से साङ्गोपाङ्ग किये वेदाभ्यास को ही सब अभीष्टों का साधक जानो ॥ १५० ॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् ।
 उच्छिष्टान्ननिषेकंच दूरादेवसमाचरेत् ॥
 मैत्रंप्रसाधनंस्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।
 पूर्वाह्णवकुर्वीत देवतानांचपूजनम् ॥
 देवतान्यभिच्छेत्तु धार्मिकांश्चद्विजोत्तमान् ।
 ईश्वरंचैवरक्षार्थं गुरूनेवचपर्वसु ॥
 अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनंस्वकम् ।
 कृताञ्जलिरूपासीत गच्छतःपृष्ठतोऽन्वियात् १५१

अ०-मूत्रोच्चारं पादप्रक्षालनमुच्छिष्टान्नपरित्यागं चावसथान्निवासस्थानाद्यज्ञालयाद्वा दूरादेव कुर्यात् । मैत्रं पु-

रीषोत्सर्गं, प्रसाधनं केशादीनामुच्छ्रनं तैलपातनादि च स्नानं दन्तधावनमञ्जनं चक्षुषोर्देवतानामग्न्यादिवेदीक्तानामग्निहोत्रादिदेवयज्ञविधिना पूजनं सर्वमेतत्पूर्वाह्णैव कुर्वीत । दैवतानि देवयज्ञा अग्निष्टोमादयो यत्र प्रतिदिनं याज्ञिकैः क्रियन्ते तानि देवयजनस्थानानि, धार्मिकान् द्विजोत्तमान्-धर्ममर्मज्ञान् ब्राह्मणान्, ईश्वरं राजानं पर्वस्वमावास्यादिषु पित्रादिगुरुनेव पितृत्वेनाभिपूजयितुमभिगच्छेत् । द्रष्टुं समागन्तुं च सर्वाण्यभिमुखं यायात् । विद्यावयोवृद्धाः पुरुषा यदि स्वसन्निधावागच्छेयुस्तदोत्थायाभिवादयेत्स्वकमासनं च तेभ्यो दद्यात् । बद्धाञ्जलिस्तदभिमुखं तिष्ठेत् । गच्छतश्च तान् पृष्ठतोऽनुगच्छेत् ॥

भा०-दिनस्य पूर्वभागः परभागापेक्षया प्रकाशप्राबल्याद्वैवस्तत्र शुभकाले शुभानि कर्माणि पराह्णापेक्षया सम्यक् साधूनि सम्पद्यन्ते । यज्ञालयादिशुभकृत्यस्थानधार्मिकादीनां नित्यमवलोकनेन समागमेन वा नवा नवाः शुद्धा धर्मवर्धकाः संस्कारा उपचीयन्ते तस्मात्तादृशं कर्म प्रातरेव प्रतिदिनं कार्यम् । वृद्धाभिवादानादिनापि धर्म्यसंस्कारसंचयः स्फुटएवानुभवसाध्यः ॥१५४॥

भाषार्थः-(आवसथाद्दूरान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्) अपने वसने रहने बैठने लेटने के स्थान से वा यज्ञस्थान से दूर-अलग जाकर मूत्र-प्रस्राव करे, दूर जाकर ही पगधोना आदि करे (उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत्) और बची हुई अन्न की जूठन भी निवासस्थान से दूर ही सदा फेंका करे किन्तु समीप में दुर्गन्ध कीचड़ और मलिनता करना धर्म से विरुद्ध है (मैत्रं प्रसाधनं स्नानम्) मलत्याग दिशा जाना, वालों में तेलडालना और काढ़ना, स्नान करना

(दन्तधावनमञ्जनम्) दातोन कुल्ला और आंखों में अञ्जन सुरमा लगाना ये सब काम तथा (देवतानां च पूजनम्) वेदीक्त अग्न्यादि देवताओं का अग्निहोत्रादि कर्म द्वारा पूजन अर्थात् घर आदि के तर्कों की शुद्धि (पूर्वाह्णएव कुर्वीत) दोपहर से पूर्व ही करे (दैवतानि धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान्) अग्निष्टोम नामक देवयज्ञादि उत्तम धर्मकार्य जहां प्रतिदिन होते हों वहां, धर्मात्मा विद्वान् ब्राह्मणों के समीप (ईश्वरं चैव रक्षार्थम्) अपनी रक्षा के लिये राजा के समीप (गुरुनेव च पर्वसु) और अमावास्या पौर्णमासी आदि पर्वतिथियों में पिता आदि मान्य गुरुलोगों के समीप देव वा पितर मानकर पूजन के लिये (अभिगच्छेत्) सस्मुख प्रातःकाल दो पहर से पूर्व जाया करे (वृद्धांश्चाभिवादयेत्) विद्या में वृद्ध वा धन अवस्था प्रभुतादि में वृद्ध नाम बड़े कोई लोग अपने निकट आवें तो उन को उठकर अभिवादन-प्रणाम-नमस्कार करे (स्वकमासनं चैव दद्यात्) अपना आसन-चौकी-कुर्सी आदि भी उन को बैठने के लिये देवे (कृताञ्जलिरुपासीत) हाथ जोड़कर उन बड़ों के समीप में खड़ा रहे वा बैठे (गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात्) और यदि वे मान्य गुरु लोग अपनी इच्छा वा कार्यवश कहीं को उठकर चलें तो उन के पीठ पीछे सदा चला करे किन्तु आगे कदापि न चले ॥

भा०—दिन का पहिला भाग परभाग की अपेक्षा प्रकाश की प्रबलता होने से दैवकीटि में है । उस शुभ समय में शौचादि अच्छे कर्म करना उत्तम होता है । यज्ञशालादि धर्मसम्बन्धीकर्म होने के स्थान और धर्मात्मा आदि पुरुषों का नित्य २ प्रातःकाल अवलोकन करने वा उन के समीप जाने तथा मिलने से चित्त में धर्मांश को बढ़ाने वाले नये २ शुद्ध संस्कारों का संचय होता है इस से ऐसे काम प्रातःकाल ही नित्य करने चाहिये । और बड़ों को अभिवादन करने आदि द्वारा भी धर्मानुकूल शुद्ध संस्कारों [खयालातों] का संचय हृदय में होता यह भी प्रत्येक पुरुष को शोचने से स्पष्ट ज्ञात हो सकेगा ॥ १५४ ॥

अतिस्मृत्युदितंसम्यङ् निबद्धंस्वेषुकर्मसु ।

धर्ममूलनिषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥

आचाराल्लभतेह्यायु राचारादीप्सिताःप्रजाः।

आचाराद्धनमक्षय्य साचारोहन्त्यलक्षणम् ॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।

दुःखभागी च स ततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।

प्रद्वधानोऽनसूयश्च शतवर्षाणि जीवतिः १५८

अ०-मानसवाचिककायिकानि सद्विराचरितानि स-
मुचितानि वेदाध्ययनादिस्वस्वकर्मसम्बद्धानि श्रुतिस्मृति-
पूक्तान्यन्तःकरणशुद्धिरूपशुभधर्मस्य मूलानि संचयहेतूनि च
कर्माणि ब्राह्मणादिर्गृहस्थोऽनलसः सन् सेवेत । अलक्षणा-
मङ्गहीनत्वादिदुःश्रिहूजन्यं दोषं दरिद्रतां वाचारो हन्ति । स-
र्वलक्षणहीनः--सुरूपशिक्षितवचःप्रयोगशुभाकृत्यादिशुभसू-
चकचिह्नरहितोऽपि, अन्यत्सर्वं सुगमम् ॥

भा०-धर्मस्य बाह्यशुभाचरणसाध्यत्वमत्र प्राधान्येन
प्रदर्शयते । नतु केवलान्तर्विचारसाध्या धर्मस्थितिरिति म-
न्तव्यम् । यथा प्रक्षालनादिकर्मण्यैव वसनादीनां शुद्धिस्तथै-
वात्र शोधकानि शुभकर्माण्यनुष्ठेयानि । आचारएवायुषः
स्थापको दुराचाराः सद्यो म्रियन्ते । आहाराचारचेष्टाभिर्या-
दृशीभिः समन्वितौ । स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि
तादृशइति सुश्रुतस्य शारीरे सम्यगुक्तम् । सर्वोऽत्र प्रशं-
सार्थवादी निन्दार्थवादश्च विचारेण सत्यएव प्रतीयते ॥१५८॥

भाषार्थः-(श्रुतिस्मृत्युदितं स्वेषु कर्मसु सम्यक् निबद्धम्) वेद और धर्मशास्त्र में
कहे, अपने २ वेदाध्ययनादि कर्मों से सम्यक् संबन्ध रखने वाले [ब्राह्मणादि का
वेदाध्ययनादि कर्म, अच्छे ठीक २ शौचादि आचरण किये विना अच्छा कभी नहीं
हो सकता] (धर्ममूलं सदाचारम्) अन्तःकरण की शुद्धिरूप शुभ धर्म के मूल तथा

धर्म को संचित करने वाले, ऐसे श्रेष्ठ लोगों ने स्वीकार किये शारीरिक वाचिक और मानस उचित शुभाचरणरूप कर्मों को (अतन्द्रितो निषेवेत्) ब्राह्मणादि गृहस्थ पुरुष निरालस हुआ सेवन करे (आचारादायुर्हि लभते) अच्छे आचरणों से पूर्ण आयुपर्यन्त जीवित रहता है [जैसे मलिन वस्त्र को मेल शीघ्र गला देता और शुद्ध वस्त्र अधिक दिन चलता है वैसे शौचादि शुद्धाचरणी पुरुष को पूर्ण आयु प्राप्त होता है (आचारादीप्सिताः प्रजाः) अच्छे आचरणों वाले के अच्छे अनुकूल पुत्रादि होते हैं] [सब ही पदार्थ शुद्ध कारण से शुद्ध और मलिन से मलिन उत्पन्न होते अर्थात् कारण के अनुसार ही कार्य में गुण आते हैं । शुद्ध संस्कारी सन्तानों का होना सभी चाहते हैं] (आचारादक्षयं धनम्) शुद्ध आचरणों से ही चिरस्थायी नष्ट न होने वाले अधिक धन को प्राप्त होता और (आचरोऽलक्षणं हन्ति) शुभाचरण ही अङ्गहीन होने आदि बुरे चिह्न से लगने वाले दोष को वा दरिद्रता को नष्ट कर देता है वह शुद्धाचरणी एकाक्ष होने आदि दोष से लोक में दूषित नहीं कहा जाता (दुराचारी हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः) दुराचारी पुरुष लोक में सुरुपवान् होने पर भी निन्दित हो जाता है (दुःखभागी च सततम्) तथा निरन्तर दुःख भोगने वाला (व्याधितोऽल्पायुरेव च) वह रोगी और अल्प आयु वाला होता है तथा (सर्वलक्षणहीनोऽपि यो नरः सदाचारवान्) अच्छा रूप और अच्छी बनावट [सुडौल] आदि शुभ चिह्नों से रहित भी जो पुरुष श्रेष्ठ आचरण करने वाला होता (अदृधानोऽनसूयश्च) धर्म कार्यों तथा धर्मात्माओं में अद्वा भक्ति रखने वाला और किसी की निन्दा वा चुगली नहीं करता वह (शतं वर्षाणि जीवति) पूर्ण सौ वर्ष तक जीवित रहता है ॥

भा०-बाहरी शुभाचरणों से धर्म की प्रधानस्थिति अन्तःकरण में होती यही मुख्यांश यहां दिखाया है। केवल भीतरी विचार वा ज्ञान से ही धर्म की स्थिति नहीं होती यह ठीक मानना चाहिये। जैसे फींचने पछारने आदि कर्म से ही वस्त्रों की शुद्धि होती वैसे ही अन्तःकरण के शोधक कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। अच्छा आचरण ही आयु का स्थापक है और दुराचारी लोग प्रत्यक्ष ही लोक में शीघ्र मरते हैं। सुश्रुत के शारीरस्थान में लिखा है कि "गर्भाधान के दिनों में स्त्रीपुरुषों के जैसे आहार आचार और शुभ वा अशुभ जैसी चेष्टा होती है वैसे ही उन के सन्तान भी होते हैं", इस से आचार की छाया सन्तान पर अवश्य पड़ती है। यहां कही आचार की सब प्रशंसा और दुराचार की निन्दा विचार पूर्वक शोधने से सत्य ही प्रतीत होती है ॥ १५८ ॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥
यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥१६१॥

अ०-वृत्तिप्रयोजनाय दृष्टार्थं यद्यत्कर्म पराधीनं तत्तत्प्रा-
त्यहिकविचारोद्योगेन वर्जयेत् । येन स्वभोजनाच्छादिकम-
न्याधीनं न स्यात् । स्वाधीनमेव जीविकाद्यर्थं कर्म कुर्यात् ।
यदि च क्वचित्कस्यचिद्विज्ञस्य वशे स्थित्यैवात्मनः परितोषः
स्यात्स्वस्य कल्याणं तथैवेक्षेत तदा तदेव कुर्यादन्यद्वर्जयेत् ॥

भा०-प्राणयात्रानिर्वाहाय दृष्टार्थं कर्मण्येव पराधीने
दुःखे च सति धर्म्यकर्मानुष्ठानोत्साहो व्याहन्येत । नहि त-
दानीं धृत्युत्साहपुरस्सराणि सम्यक्कर्माणि निष्पद्यन्ते । त-
स्मात्तदेव परवशं याचनावैतनिकत्वांदिकर्म हेयं नान्यद्वेदा-
ध्ययनादि शुभोपदेशग्रहणादि च गुर्वाद्यन्याधीनमपीति ।
यावद्यादृशं च स्वान्तर्ग्रयं यस्य परिणामे सुखावहं तादृशमेव
तेन स्वीकार्यमधिकं स्वाच्छन्द्यमपि बहुत्र दोषकरं लोके ल-
क्ष्यते । मनुष्यापेक्षया तिरश्चां पशवादीनामज्ञानसंबद्धमधिकं
पारतन्त्र्यमेवाधिकदुःखस्य कारणम् । यत्रयत्र यादृशं ज्ञा-
नाधिक्यं स तादृशएव सुखी भवतीश्वरे च ज्ञानं स्वातन्त्र्यं
च काष्ठां प्राप्तं तस्मादेव तस्मिन्निरतिशयानन्दः । आत्म-

नस्तुष्टिरेवचेति यदुक्तं द्वितीयाध्याये तेनास्यान्तिमपद्यस्य
सम्बन्धः । स्वाधीनं पराधीनं वा कर्म सन्तोषजनकं तदेव
सर्वं धर्मानुकूलं बोध्यम् ॥ १६१ ॥

भाषार्थः—(यद्यत्परवशं कर्म) जीविका होने के लिये संसार में प्रत्यक्ष भो-
जनादि मिलनाही जिसका फल हो ऐसा जो २ कर्म पराधीन करना पड़ता हो
(तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्) उस २ काम को प्रतिदिन शौच विचार द्वारा हुए प्रयत्न
से छोड़ देवे जिससे अपने भोजन वस्त्र का निर्वाह अन्य के आधीन न रहे (य-
द्यदात्मवशन्तु स्यात्तत्तसेवेत यत्नतः) और जीविकादि के लिये जो २ अपने आ-
धीन काम हो उस २ को विशेष विचार के साथ सेवन करे (परवशं सर्वं दुःखम्)
पराधीन रहना सब वा अधिकांश दुःखरूप और (आत्मवशं सर्वं सुखम्) स्वा-
धीन होना सब वा अधिकांश सुख है (एतत्समाप्तेन सुखदुःखयोर्लक्षणं विद्या-
त्) मनुष्य संक्षेप से इसी को सुख दुःख का लक्षण जानलेवे (यत्कर्म कुर्वतोऽस्याऽ
न्तरात्मनः परितोषः स्यात्) जिस कर्म को करते हुए इस गृहस्थ के आत्मा वा
मन में सन्तोष-प्रसन्नता वा उत्साह हो (तत्प्रयत्नेन कुर्वीत) उस कर्म को लाग के
साथ करे (विपरीतन्तु वर्जयेत्) और उससे विरुद्ध असन्तोष, श्लानि, लज्जा, शङ्का
भय के उत्पादक कर्म को त्यागदेवे। यह सन्देह की दशा में धर्माधर्म की परीक्षा के
लिये कसौटी है। अथवा जहां किसी विद्वान् महात्मा के आधीन रहने से ही मन
को सन्तोष हो वा पराधीन रहने में ही अपना कल्याण जहां किसी को दीखे
तब वैसाही करे अन्य को छोड़देवे ॥

भा०—अपने प्राण पोषणार्थ प्रत्यक्ष फलवाले पराधीन कर्म में ही दुःख
होने पर धर्मानुकूल कर्म के सेवन के उत्साह में बाधा पड़ेगी इससे वहीं परा-
धीनता बुरी है क्योंकि पराधीनता में धीरज वा उत्साह पूर्वक धर्मकार्य सिद्ध न-
हीं होते। इससे उसी पराधीन भिक्षावृत्ति वा वैतनिकादि जीविका को छोड़े और
स्वाधीन जीविका करने का उपाय निकाले। और गुरु आदि के आधीन वेदा-
ध्ययनादि वा शुभशिक्षा ग्रहणादि पराधीन कर्म त्याज्य नहीं हैं। जिसको जैसी
और जितनी स्वतन्त्रता परिणाम में सुखदायी हो उसको उतनी वैसीही स्वा-
धीनता स्वीकार करनी चाहिये। अधिक स्वतन्त्रता भी बहुत स्थलों में दोष क-
रानेवाली लोक में दीखती है। मनुष्य की अपेक्षा तिर्यग्योनि पशवादि में अ-
ज्ञान के साथ अधिक परतन्त्रता ही उनके अधिक दुःख का कारण है। जिस २

में जैसी र ज्ञानकी अधिकता है वह वैसाही स्वाधीन सुखी होता है। और ज्ञान तथा स्वाधीनता ईश्वर में असीम है इसी से उसमें आनन्द और सुख भी असीम है। द्वितीयाध्याय में आत्मा की तुष्टि को जो धर्म का लक्षण कहबुके हैं उसी के साथ इस अन्तिम श्लोक का सम्बन्ध है। इससे स्वाधीन वा पराधीन जो कर्म सन्तोषजनक परिणाम में सुखकारी हो उसी को धर्मानुकूल जानो ॥ १६१ ॥

आचार्यंचप्रवक्तारं पितरंमातरंगुरुम् ।

नहिंस्याद्ब्राह्मणान्गाश्च सर्वाश्चैवतपस्विनः

नास्तिक्यंवेदनिन्दांच देवतानांचकुत्सनम् ।

द्वेषंदम्भंचमानंच क्रोधंतेदृशयंचवर्जयेत् ॥

परस्यदण्डंनोद्यच्छेत् क्रुद्धो नैवनिपातयेत् ।

अन्यत्रपुत्राच्छिष्याद्वा शिष्यर्थंताडयेत्तृती ॥

[ब्राह्मणायवगूर्यैव द्विजातिर्विधकाम्यया ।

शतंवर्षाणितामिस्त्रे नरकेपरिवर्त्तते ॥

ताडयित्वातृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ।

एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषुजायते ॥

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः ।

दुःखंसुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतयानरः ॥

शोणितंयावतःपांसून् संगृह्णातिमहीतलात् ।

तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शीणितोत्पादकोद्यते ॥१६८॥

नकदाचिद्द्विजेतस्माद् विद्वानवगुरेदपि ।

नताडयेत्तृणेनापि नगात्रात्स्त्रावयेदसृक् ॥

अधार्मिकोनरोयोहि यस्यचाप्यनतंधनम् ।
हिंसारतश्चयोनित्यं नेहासौसुखमैधते ॥१७०॥

अ०---न हिंस्यादिति किञ्चिदप्याचार्यादिभिः सह द्रोहं
नाचरेत् । नास्तिक्यं परोक्षवादखण्डनं, देवतानां--देवयज्ञ-
शीलानां, तैक्ष्ण्यं क्रूरत्वम् । शिष्यार्थं शिक्षार्थम् । अवगूर्यं
हस्तं शस्त्रं वा हन्तुमुत्थाप्य, तामिस्त्रेऽन्धकारमये परिवर्तते
परिभ्रमति । संरम्भात्क्रोधावेशात्, यावतः पांसून् त्रसरेणू-
न्, शोणितोत्पादकोऽन्यैः श्वशृगालादिभिरद्यते । अनृतं मि-
थ्याभाषणेनैव जीवनोपायः, हिंसारतः शरीरेण हिंसनशीलः॥

भा०--आचार्यादिभिः कायिकवाचिकमानसप्रतिकूला-
चरणस्य सर्वथैव प्रतिषेधो धर्मावहः । नास्तिक्यादीनि च
प्रत्यक्षमेवाधर्महेतूनि सन्ति । ब्राह्मणायवगूर्यैवेत्यादिना
पद्यचतुष्टयेन प्रायेण हिंसारतस्य सर्वथा सर्वदा सज्जनपी-
डनपरस्य निन्दार्थवादो विशिष्टदोषप्रदर्शनार्थः । एतच्च पद्य-
चतुष्टयमेकादशाध्यायस्थावगुरणादिदोषजन्यपापप्रायश्चि-
त्तेन विरोधावलोकनाच्चिन्त्यमिति विचारपक्षे स्थाप्यम् ।
तदिदमिति मपद्यस्थप्रतिपादनमेव पक्षद्वयेऽपि साधुतरं वि-
ज्ञेयम् । यन्नित्यं कायेन मनसा वाचा च यो जनो हिंसा-
रतोऽसाविहैव सुखं यदा नाप्नोति तदा कथमसौ परत्र सुख-
माप्तमर्हति । अन्यापेक्षया यो यादृशमाधिक्येन वैदिकं धर्म-
मनुतिष्ठति प्रचारयति च स तादृश एव शास्त्रानुकूलो ब्रा-
ह्मणस्तस्य पीडनताडनहिंसनादिना धर्मस्यैवाधिको विघा-
तस्तस्मादेवापरादुर्दोषाधिक्येनानिष्ठावाप्तिरप्यधिका न्या-
य्यैवेति सर्वमवदातम् ॥ १७० ॥

भाषार्थः—(आचार्यं प्रवक्तारं च) यज्ञोपवीतादि संस्कार कराके वा मन्त्रोपदेश दे के वेद पढ़ाने वाले आचार्य, अध्यापक वा उपाध्याय जो वेतन लेकर पढ़ाता ही (पितरं मातरं गुरुम्) पिता, माता, गर्भाधानादि संस्कार करने और अन्न वस्त्र द्वारा पालन पोषण करने वाले गुरु, (ब्राह्मणान् गात्रं) अन्य ब्राह्मणों, गौत्रों (सर्वान् द्वैव तपस्विनः) और सब क्षत्रिय वैश्यादि कहाने वाले भी धर्मनिष्ठ तपस्वियों को (न हिंस्यात्) कटु वचनादि द्वारा पीड़ित न करे अर्थात् इन सब के साथ ऐसा कोई आचरण न करे जिस से उन को दुःख पहुंचता हो (नास्तिक्यं वेदनिन्दां च) पुनर्जन्मादि युक्ति प्रमाण सिद्ध परोक्षवाद, वेद की निन्दा (देवतानां च कुत्सनम्) अग्निहोत्रादि देवयज्ञ में तत्पर पुरुषों की निन्दा (द्वेषं दम्भं च मानं च) मत्सरता—ईर्ष्या, दम्भ—कठोरता—नम्रता का न होना, अभिमान (क्रोधं तैश्चर्यं च वर्जयेत्) क्रोध और क्रूरता को गृहस्थ छोड़ देवे (पुत्राच्छिष्याद्वाऽन्यत्र) पुत्र वा शिष्य को छोड़ कर (परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्) अन्य किसी पर मारने को लकड़ी छड़ी आदि न उठावे (क्रुद्धो नैव निपातयेत्) क्रोध में भर के किसी पर लकड़ी आदि न मार देवे (शिष्यार्थं ताडयेत् तौ) परन्तु स्त्री पुत्र शिष्यादि को शिक्षित करने शुद्धाचरणी होने के लिये हाथ वा लकड़ी आदि से अवश्य ताड़ना करे (द्विजातिर्वधकाम्यया) ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य, मार डालने के अभिप्राय से (ब्राह्मणायावगूर्यैव) ब्राह्मण पर गुरा के मारने को शस्त्र उठाने से ही (तामिस्रे नरके शतं वर्षाणि परिवर्त्तते) अन्धकार तमोगुण की प्रबलता रूप नरक में सैकड़ों वर्ष तक भ्रमता पड़ा रहता है (संरम्भान्मतिपूर्वकं तृणेनापि ताडयित्वा) समझ पूर्वक क्रोध में भर के ब्राह्मण को थोड़ा भी मारे पीटे तो (एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते) इक्कीस जन्मों पर्यन्त पापप्रधान योनियों में उत्पन्न हो २ कर दुःख भोगता है (अयुध्यमानस्य ब्राह्मणस्याङ्गतोऽसृगुत्पाद्य) जो किसी से लड़ता भिड़ता न हो ऐसे सीधे सच्चे ब्राह्मण के शरीर से लड़ाई करने द्वारा कोई लोह निकाल देवे तो वह (नरोऽप्राञ्जतया प्रेत्य सुमहदृःखमाप्नोति) पुरुष मूढ़ दशा में पड़ के जन्मान्तर में बहुत बड़ा दुःख पाता है (शीणितं महीतलाद्यावतः पांसून् संगृह्णाति) मारे हुए ब्राह्मण के गिरे हुए रुधिर से पृथिवी के जितने कण—त्रसरेणु—भीग जाते हैं (अमृत्र तावतोऽब्दानन्यैः शीणितोत्पादकोऽद्यते) जन्मान्तर में उतने ही वर्षों तक ब्राह्मण के देह से रुधिर निकाल देने वाला मनुष्य अन्य कुत्ता शृगालादि द्वारा वार २ नीच २ खाया जा-

ता है (तस्माद्विद्वान्) इस से समझदार को चाहिये कि (कदाचिद् द्विजे नावगुरे-
दपि) कभी ब्राह्मण के मारने के लिये गुराँव भी नहीं (तृणैनापि न ताडयेत्)।
एक तिनके से भी ब्राह्मण को न मारे और (न गात्रादसृक् स्रावयेत्) न शरीर
से रुधिर निकाले अर्थात् थोड़ा वा बहुत कदापि न मारे (हि) क्योंकि (यो
नरोऽधार्मिकः) जो अन्य ब्राह्मणादि को दुःख देने के लिये मन में द्रोह ईर्ष्या
द्वेषरूप अधर्म रखता (यस्य चाप्यनृतं धनम्) तथा दूसरों को दुःख पहुंचाने के
लिये मिथ्या बोलना ही जिस का धन वा इष्ट है (हिंसारतश्च यो नित्यम्)
और जो क्रोध पूर्वक हाथ पांव वा लकड़ी आदि से अन्यों को मारने पीटने में
ही तत्पर रहता अर्थात् मानस वाचिक और कायिक तीनों प्रकार का अधर्म
करना जिस का स्वाभाविक काम होता (असाविह न सुखमेधते) वह पुरुष जब इस
वर्तमान जन्म में ही सुखी नहीं रहता तो जन्मान्तर में सुखी कहां से रहेगा ? ॥

भा०—आचार्य आदि के साथ शरीर वाणी और मन से विरुद्ध आचरण का
निषेध सभी प्रकार धर्म का हेतु है। और नास्तिकतादि प्रत्यक्ष ही अधर्म के
हेतु हैं। ब्राह्मण के लिये गुराँव के इत्यादि चार श्लोकों से कहा निन्दार्थवाद, सब
प्रकार सब समय में प्रायः सज्जनों को दुःख पहुंचानेरूप हिंसा दोष में तत्पर रहते
पुरुष को विशेष पाप दोष लगना दिखाने के लिये है। और ११ ग्यारहवें अध्या-
य में २०४ से २०८ तक कहे, गुराँव आदि दोष से हुए पाप के प्रायश्चित्त के साथ इन
चार श्लोकों का विरोध प्रतीत होने से ये चारों श्लोक शोचनीय तथा विचारपक्ष
में रखने योग्य प्रतीत होते हैं। परन्तु यह अन्तिम पद्य में कहा विचार दोनों
पक्ष [ये चार श्लोक प्रक्षिप्त हों वा न हों तो भी] में ठीक सिद्धान्त जानो कि
जो मन वाणी और शरीर से अन्यों को दुःख देनेरूप अधर्म में तत्पर है उस को
कहीं सुख नहीं क्योंकि जो इसी शरीर से यहां सुखी नहीं वह आगे सुख कैसे
पावेगा ? अन्यों की अपेक्षा जो जैसे अधिक वेदोक्त धर्म का स्वयं सेवन तथा
अन्यों में प्रचार करता कराता है वह शास्त्र के अनुकूल वैसाही उत्तम ब्राह्मण
है उसको पीड़ा, ताड़ना, दुःख देने आदि से धर्म को ही पीड़ित वा नष्ट करना
होगा इसी से अपराधी को अधिक दोष लगने पूर्वक अधिक अनिष्ट दुःख प्राप्ति
का होना न्यायानुकूल ही जानो इस प्रकार सब विचार ठीक है ॥ १७० ॥

नसीदन्नपिधर्मण मनोऽधर्मनिवेशयेत् ।

अधार्मिकाणां पापाना माशुपश्यन्विपर्ययम् ॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यःफलतिगौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्तुर्मूलानिकृन्तति ॥
यदिनात्मनिपुत्रेषु नचेत्पुत्रेषुनप्तृषु ।
नत्वेवंतकृतोऽधर्मः कर्तुर्भवतिनिष्फलः ॥
अधर्मैर्गोधतेतावत् ततोभद्राणिपश्यति ।
ततःसपत्नाञ्जयति समूलस्तुविनश्यति ॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचेचैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्चशिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥
परित्यजेदर्थकामौ यीश्यातांधर्मवर्जितौ ।
धर्मचाप्यसुखोदकं लोकविक्रुष्टमेवच ॥
नपाणिपादचपलो ननेत्रचपलोऽनृजुः ।
नस्याद्वाक्चपलश्चैव नपरद्रोहकर्मधीः ॥
येनास्यपितरोयाता येनयाताःपितामहाः ।
तेनयायात्सतांमार्गं तेनगच्छन्नरिष्यते ॥१७८॥

अ०-शास्त्रमर्यादानिष्ठेन सेवितधर्मेण धनादिकमप्रा-
प्तुवन्सीदन्नपि क्षुधा पीडितोऽपि दुःखं भुञ्जानोऽपि गृह-
स्थोऽधार्मिकाणां पापानामाशु विपर्ययं दुर्दशां दुःखभोगा-
धिक्यं पश्यन्नधर्मं मनो न निवेशयेत् । परद्रोहपीडनाद्य-
धर्मेण धनाद्युपार्जयितुं मनो नादधीत । यथा गौः पृथिवी

सद्यो न फलति यवादयो भूमावुप्राः कालेन पचन्ति तथैव
 कृतोऽधर्मोऽपि सद्यो न फलति वैधर्म्यदृष्टान्ते यथा पशुर्गोः
 सद्यः फलति सम्यक्खादितखाद्या कृतपरिकर्मा च गौस्त-
 द्विन एवाधिकं शुद्धं च दुग्धफलं स्वस्वामिने सुप्रहृष्टा सती
 प्रयच्छति न तथा कृतोऽधर्मइति । अपितु शनैरावर्त्तमानः
 पापकर्त्तुः सुखस्य मूलानि कृन्तति छिनत्ति । यदि कर्त्ता कृतो
 धर्मोऽधर्मो वा स्वदेहे न फलति चेत्पुत्रदेहेषु पौत्रदेहेषु वा फ-
 लति नतु निष्फलः कदापि भवति । अधर्मेणादौ कर्त्ता सुख-
 साधनैर्वर्धते पूर्वसंचितसुकृतसहायेनाधर्माचरणरतोऽपि सुखं
 लभते । तदनन्तरं च भद्राणि कल्याणकराणि पुष्कलधना-
 यागमनादीनि पश्यति ततश्च सिद्धपुष्कलसाधनः सपत्न्या-
 न्स्वतोऽवकृष्टान् जयति । पुनश्च केनचिद्विशिष्टबलवता कृ-
 तविग्रहो दुर्देवोद्वेधेन वा नष्टबुद्धिर्विपरीतमाचरन् समूलो
 विनश्यति । तस्मात्स्वाधोगतिमचिकीर्षन् ब्रह्मयज्ञादौ साङ्गे
 वेदोक्ते सर्वथैव सत्ये धर्मे, सतामार्याणामाचारे शौचधर्मे च
 सदाऽऽरमेत्समन्ताद्रतः स्यात् । आरात्पापेभ्यो ये दूरं यन्ति त
 आर्यास्तेषां वृत्तं समागमश्च धर्म्यएव भवति । वाग्वाहूदरसं-
 यतः सन् वाचाऽतिपरुषमनृतमसंबद्धं वर्जयन्, बाहुभ्याम-
 धिकं मर्मस्वताडयन्, उदरे स्वयमेव स्वाद्वभुञ्जानस्तेभ्योऽपि
 विभागेन ददन्, शिष्यान् पुत्रकलत्रह्यात्रादीन्धर्मेण शिष्यात्
 यौ धर्मवर्जितावर्थकामौ स्यातां तौ परित्यजेन्नतु कामा-
 र्थवर्जितं धर्ममिति । परस्त्रीगमनापेक्षया धर्मत्वेनाभिमतम-
 प्यधिकं स्वभार्यागमनं बहुतनयोत्पादनं चायत्यामसुखोद-
 यकरं धर्मं, लोकैर्विक्रुष्टं निन्दितं दानादिकं च नाददीत शा-
 स्त्रतोऽविशिष्टदोषकरमपीति । अनृजुर्निर्दयः, परद्रोहकर्मधीः-

परपीडनहेतौ कर्मणि ध्यानपरो न स्यात् । विवादास्पद-
मार्गेषु लौकिकमत्या विशेषेण परीक्षितुमशक्येषु येन पथाऽ-
स्य पितरः पितामहाश्च यातास्तेनैव सतां पित्रादीनां मार्गं या-
यान्नत्वसतामिति । तेन पथा गच्छन्नरिष्यते नासौ दुष्कृ-
तफलेन दुःखेन पीड्यते ॥

भा०---अधर्माचरणेन ये जगति स्वसुखहेतून् धनादीन्
पदार्थान् संचिन्वन्ति तेषाम्पारुष्या यायादिना परधनाद्य-
पहरणपराणां सद्यएव देहपाताद्यनिष्टं महादुःखफलं सम्मु-
खमायातीति पश्यता गृहिणा धर्मेणान्यानपीडयन्नेव ध-
नादिवस्तुसंचयः कर्तुमवसेयः । यदि मार्दवेनाच्छादिताधर्मेण
स्वार्थः साध्यते धैर्यपुरस्सराधर्मेण वा तदाऽपि विश्वासः
कार्यस्तेषामधोगतिः कालेन भविष्यत्येव । यथा शनैःशनैः कृ-
तेन कुपथ्येन कालेनैव रोगा सुव्यज्यन्ते । एवं हि परोक्षसं-
चितदुष्कृतेनापि बहव आपद्गस्ता दृश्यन्ते । पुत्रपौत्रदेहेषु
पितुरेव देहांशान्वयो भवति । तत्र पुत्रादिरूपावस्थः पितुर्दे-
हांशः स्वकृतस्यैव कुष्ठादिहेतोः दुष्टकर्मणो दुःखफलं लभते
तस्मात्कर्तुरेव फलं नान्यकृतमन्यो भुङ्क्ते । यत्तु पितुर्दे-
हाद्विन्नो जीवात्मा पुत्रदेहे दुःखमनुभवति तच्च तस्यैव पू-
र्वजन्मकृतस्य कर्मणः फलं नतु पितृकृतस्येति । यदा च वि-
द्यमाने पितरि पुत्रपौत्रेषु दुःखफलव्यक्तिस्तदा स कर्त्तापि
तान्दृष्ट्वा दुःखफलं लभते । नाशरीरस्यात्मनो भोगः क-
श्चिदस्तीति कथनादेव देहात्मसंयोगे सर्वा भोगः । पुत्रादी-
नां देहश्च पितृदेहपरिणामएव अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदया-

दधि जायसे । अनेनापि पितृदेहांशस्यैव पुत्रत्वं स्फुटम् ।
 अतएव पुत्रे पीज्यमाने सर्वापेक्षयाऽऽधिक्येन पिता पीज्यते ।
 ये लौकिकसुखभोगाय पूर्वतो धर्ममाचरन्ति ते धनादिसा-
 धनैः सह कामभोगानवाप्य स्वभोगमदे मग्ना धर्मं विस्मृ-
 त्याधर्ममाचरन्ति यावत्तत्पूर्वतः प्राप्तबलं सुकृतं न क्षीयते
 तावदधर्मे क्रियमाणेऽपि सुखं भुञ्जते सुखसाधनान्येव त-
 त्सन्निधावायान्ति च तद्दृष्ट्वा मूढा जना धर्मे गतविश्वासा
 अधर्मं प्रशंसन्ति । धर्ममर्मज्ञा दीर्घदर्शिनस्तु ज्ञानचक्षुषा
 तेषामधर्मिणां ध्रुवमेव विनाशं पश्यन्ति यतः प्रत्यक्षमपि
 धनादिसम्बद्धाधिकाराच्च्युता व्यभिचारादिरता दृश्यन्ते
 तथैवान्येषामपि पातः सन्निहितइति । तस्माद्विज्ञेन धर्म-
 एव सेव्यो नाधर्मः । अधर्ममिश्रितो धर्मो धर्माभासएव वा ध-
 र्मपदेनापदिश्यमान आयत्यामसुखकरो लोकैर्विक्रुष्टश्च भवि-
 तुमर्हति सएव त्याज्यो नतु प्रधानो धर्मइति । पितृपिता-
 महादिपूर्वजसेवितो धर्मः पुत्रेण सेव्यो न त्वधर्मो धर्माच-
 रणस्यैव प्रकरणात् । नह्यधर्मस्येतिकर्तव्यतया विधानं क्वा-
 प्युपलभ्यतइति ॥ १७८ ॥

भाषार्थः—(धर्मेण सीदन्नपि) धर्मानुकूल वर्त्ताव करने पर निर्वाह योग्य उ-
 चित धनादि प्राप्त न होने से दुःखित रहता हुआ भी ब्राह्मणादि गृहस्थ पुरुष
 (अधार्मिकाणां पापानामाशु विपर्ययं पश्यन्) अधर्मी पापियों की शीघ्र २ होने
 वाली अधिक दुःख भोगरूप दुर्दशा—अधोगति को देखता शोचता विचारता हुआ
 (अधर्मे मनो न निवेशयेत्) अन्यो को दुःख पहुंचानेरूप अधर्म द्वारा धनादि
 के उपार्जन में मन कदापि न लगावे क्योंकि (लोके चरितोऽधर्मः सद्यो गौरिव न
 फलति) संसार में किया हुआ अधर्म शीघ्र ही बुरा फल नहीं देता—जैसे पृथिवी
 में बोये जो आदि धीरे २ काल पाकर उगते बढ़ते फलते फूलते हैं वैसे अधर्म

भी काल पाकर परिपक्व दशा में आता है अथवा जैसे गौ नामक पशु को जो दाना घास सानी आदि अच्छा २ खिलाया जाता उस का दूधरूप फल नित्य २ शीघ्रही गौ देती जाती है वैसे धर्म वा अधर्म शीघ्र नहीं फलता [प्रयोजन यह कि हम विश्वास रखें कि जिस धर्म वा अधर्म का बीज हमने बोया और सींचा है वह अपने पकने समय अवश्य पकेगा और अच्छा वा बुरा फल अवश्य देगा तत्काल ही फल न मिलने से अविश्वास नहीं करनेना चाहिये क्योंकि बिना समय आये किसी का फल नहीं होता । अधर्म का बुरा फल अवश्य होगा ऐसा निश्चय मानते हुए को अधर्म से बचना चाहिये और धर्म का फल भी अच्छा अवश्य होगा ऐसा विश्वास करते हुए धर्म का सेवन लगातार करना चाहिये] किन्तु (शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति) धीरे २ संचित और पुष्ट हुआ अधर्म पाप कर्त्ता के सुख की जड़ों मूलों के धीरे २ काटना आरम्भ करता है (यदि नात्मनि कर्त्तुः पुत्रेषु) यदि कर्त्ताने किया अधर्म अपने शरीर में फल को प्रकट न करे तो कर्त्ता के पुत्रों के शरीर में फल देता (न चेत्पुत्रेषु नमृषु) यदि पुत्रों में भी न फले तो पौत्रों में फलता है (कृतोऽधर्मो नत्वेवं तु निष्फलो भवति) किया हुआ अधर्म वा धर्म इस उक्त प्रकार निष्फल नहीं होता-फल अवश्य देता है (तावदधर्मैषैधते) प्रथम तो पूर्व सुकृतके सहारे से अधर्म से अधर्मों की बढ़ती होती (ततो भद्राणि पश्यति) तदनन्तर धनादि सुख के सामानों के प्रत्यक्ष प्राप्त होते देखता है जिस से अधर्म में ग्लानि न हो कर वैसे ही पाप करने का और भी उत्साह बढ़ाता है जिस से (ततः सपत्नान् जयति) तदनन्तर अधिक धनादि सामान का बल पाकर अपने से निर्बल शत्रुओं को पराजित करता है । और इस के भी पश्चात् किसी अधिक बलवान् पुरुष के साथ विरोध लड़ाई करके अथवा दुष्ट प्रबल प्रारब्ध के जागने से नष्टबुद्धि हो विपरीत आचरण करता अन्धाधुन्य गिर पड़ता (समूलस्तु विनश्यति) निर्मूल नष्ट भ्रष्ट हो जाता है । तिस से अपनी अधोगति-दुर्दशा करना न चाहता हुआ (सत्यधर्मार्थवृत्तेषु) सर्वथा सत्य साङ्गोपाङ्ग ब्रह्मयज्ञादि वेदोक्त धर्म में और श्रेष्ठ आर्यमहात्मा लोगों के वृत्तान्त आचरण में (शौचे चैवारमेत्सदा) और सदा निरत्य २ शौच धर्म के पालन में तत्पर रहे । जो लोग पापों से सदा ही दूर रहते हैं वेही आप्त सज्जन धर्मात्मा आर्य कहते उन के आचरण का अनुकरण और समागम भी धर्म का हेतु होता मन पवित्र होता जाता है (वाग्बाहूदरसंयतः) घाणी से कठोर मिथ्या वा

असंबद्ध न बोलता कठोरतादि दोषों से वाणी की रक्षा करता, हाथों को अनुचित दान लेने और अधिक वा अनुचित मारने से बचाता हुआ और स्वादिष्ट वा उत्तम पदार्थों को अपने ही उदर में रखने की तृष्णा न रखता हुआ अर्थात् स्वार्थ दोष से उदर को भी वश में रखता हुआ (धर्मेण शिष्यांश्च शिष्यात्) धर्मानुकूल स्त्री पुत्र विद्यार्थी आदि शिक्षा योग्यों को शिक्षा करे अर्थात् वाणी से कठोर बोलने आदि से दूषित पुरुष की शिक्षा पुत्रादि नहीं मानते । (यौ धर्मवर्जितौ स्याताम्) जो धर्म से विरुद्ध वा जिन में धर्म न हो ऐसे (अर्थकामौ परित्यजेत्) धनलाभ और कामभोग का सर्वथा परित्याग कर देवे किन्तु काम और धन से रहित धर्म को कदापि न त्यागे (धर्म चाप्यसुखोदकम्) परस्त्रीगमन की अपेक्षा धर्मपक्ष में माने गये भी अपनी स्त्री से अधिक कामभोग वा अधिक सन्तानों की उत्पत्ति जो कि भविष्यत् में सुख बढ़ाने वाले काम नहीं हैं उन को (लोकविक्रमेष्टव च) और लोक में जो निन्दित काम हैं जैसे शास्त्रानुकूल किसी से दान लेना अविरुद्ध होने पर भी लोग जिस को बुरा कहते मानते हों ऐसा धर्म भी न करे (नपाणिपादचपलः) हाथ पांव की अधिक चपलता न करे (न नेत्रचपलोऽनृजुः) आंखों से चपल और निर्दयता युक्त भी न हो (न स्याद्गाक्चपलश्चैव) और वाणी से भी चपल न हो (न परद्रोहकर्मधीः) और अन्यो को पीड़ा दुःख पहुंचाने वाले कर्म में मन को लगाने ध्यान रखने वाला गृहस्थ न होवे । जो विवादास्पद विषय हो, जिस धर्मविषय की साधारण बुद्धि से विशेष परीक्षा न हो सके तो वहां (येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः) जिस धर्म के मार्ग से इसके पिता दादा परदादा चले हों (तेन सतां मार्गं यायात्) उसी प्रकार से उन श्रेष्ठ धर्मात्मा पूर्वजों के मार्ग पर चले (तेन गच्छन्न रिष्यते) उस मार्ग से चलता हुआ वह दुःख फल से पीडित नहीं होता । इस लिये असज्जनों के मार्ग में कदापि न चले ॥

भा०—जो लोग इस जगत् में अपने सुख के हेतु धनादि पदार्थों को अधर्माचरण से संचित करते हैं। उन कठोरता अन्याय बल कपट स्वार्थपरता चालाकी से पराये धन का अपहरण करने वालों के सन्मुख शरीरनाशादि वा निर्वेश होना आदि महादुःखरूप फल शीघ्र आता है ऐसा देखते विचारते हुए गृहस्थ को चाहिये कि अन्यो को पीड़ा न पहुंचाता हुआ शुद्ध धर्म के साथ धनादिका संचय करना निश्चित करे । यदि कोमलता से ढांपे हुए अधर्म से अपना स्वार्थ

सिद्ध करता है वा धीरज को साथ लिये अधर्म से स्वार्थ साधता है। तब भी विश्वास करना चाहिये कि ऐसे लोगों की भी अधोगति काल पाकर होती है जैसे कि धीरे २ किये कुपथ्य से बहुत काल में रोग होते और प्रबल लगातार प्रबलता से किये कुपथ्य से शीघ्र रोग होजाते हैं इसी प्रकार धर्माधर्म के फल भी कहीं शीघ्र और कहीं देर में होते हैं। इसी के अनुसार पूर्वकाल में किये परोक्ष संचित दुष्कर्म से अनेकों पर बड़ी २ आपत्ति आती हैं। पिता के ही शरीर का अंश पहुंच कर पुत्र और पौत्रों आदि का शरीर बनता है उन पुत्रादिरूप देह में परिणत हुआ पिता का देहांश ही अपने किये कुष्ठादि के हेतु दुष्कर्म का दुःख फल पाता है। इस से अपने किये का अपने को ही फल मिला अन्य के किये को अन्य नहीं भोगता [जैसे कपास से रुई, उस से सूत और सूत से वस्त्र बना और वस्त्र में हुई ताड़ना वा उस को जलाया तो कपास के अंशों की ही ताड़ना और दाहक्रिया हुई इसी के अनुसार पुत्रादि के देह में पिता को भोग हुआ जानो] और जो पिता के शरीर से भिन्न पुत्र के शरीर में आया जीवात्मा दुःख का अनुभव करता वा पिता के सुकृत का फल भोगता है वह उसी के पूर्व जन्म कृत शुभाशुभ का फल उस को अन्य पितादि के सङ्ग से मिला माना जायगा। किन्तु पिता के किये का नहीं और जब पिता के विद्यमान रहने पर पुत्र पौत्रों में दुःख फल प्रकट होता है तब वह कर्त्ता पिता उन दुःखित पुत्रादि को देख के अपने में और अपने अंश रूप पुत्रादि के देह में दुःख का अनुभव दो प्रकार से करता और पुत्रात्मा अपने किये को भोगता है। विना शरीर धारण किये आत्मा को कोई सुख दुःख भोग नहीं मिलता—इस कथन से भी देह और आत्मा के संयोग में सब भोग होना सिद्ध है। पिता के देहांश का परिणाम ही पुत्र का देह है। उसी २ सुखादि अङ्ग से पुत्र का वह २ अङ्ग बनता है। इस निरुक्त के कथन से भी पिता का देहांश ही पुत्र ठहरता है। इसी कारण पुत्र के पीड़ित होने पर अन्य सब की अपेक्षा पिता अधिकता से पीड़ित होता है। जो लोग लौकिक सुख भोग मिलने के लिये पूर्व से धर्म करते हैं वे धनादि साधनों के साथ उत्तम २ कामादि भोगों को प्राप्त ही के अपने अच्छे २ भोगों के नशा में डूबे हुए धर्म को भुला के अधर्माचरण करते हैं। और जब तक पूर्व किया सुकृत सुखभुगाने में बल को प्राप्त रहता, क्षीण नहीं होता तब तक वह पुरुष अधर्म करता हुआ भी सुख भोग करता है और उस अधर्मी के निकट सुख के ही साधन आते हैं। जिस से उस को सुखभोग में सम्पन्न देख कर अविद्याग्रस्त मूर्ख लोग धर्म की ओर से विश्वा-

स हटा के अधर्म की प्रशंसा करते हैं कि जिस से सुख मिलता वही मार्ग अच्छा है इस लिये जिस किसी प्रकार जो धनादि पैदा करले वही सुखी है उसी के समीप सब सुख भोग आजाते हैं । परन्तु धर्म का मर्म जानने वाले दीर्घदर्शी लोग उन अधर्मियों के निश्चित होने वाले विनाश को ज्ञानचक्षु से साक्षात् देखते हैं । जिस कारण प्रत्यक्ष ही अनेक विषयी [ऐश्याश] मद्य मांस वेप्यादि में अधिक फसे बड़े अधिकारों राज्यों [रियासतों] की थोड़े काल में प्रत्यक्ष ही नष्ट भूष्ट कर देते स्वयं अधिकारों से च्युत होके नीच दीन हो जाते दीखते हैं । वैसे ही अन्य अधर्मियों का गिरना भी समीप ही लगा है । इस लिये अपना कल्याण चाहने वाले विचारशील पुरुषों को धर्म का ही सदा सेवन करना उचित है अधर्म का नहीं । अधर्म से मिश्रित वा आभास [लिफाफेवाला] देखने मात्र का धर्म ही लोक में धर्म कहाता हुआ भविष्यत् में दुःखकारी और लोक में निन्दित हो सकता और वही त्याज्य कहा गया है किन्तु मुख्य वा शुद्ध धर्म कभी त्याज्य नहीं है । क्योंकि ऐसा होने पर ही वेदोक्त धर्म लुप्त हो जाता है । पिता पितामहादि पूर्वजों का सेवित धर्म ही पुत्र को सेवने योग्य कहा जानो किन्तु मद्यपान वेप्यागमनादि अधर्म किसी के पूर्वजों ने किया हो तो उस का अनुकरण पुत्र को कदापि नहीं करना चाहिये । क्योंकि यहां धर्माचरण का ही प्रकरण है । रागादि दोषों के स्वाभाविक होने से अधर्म तो स्वतःप्राप्त ही है इस कारण स्वतःसिद्ध के लिये विधिवाक्य की आवश्यकता ही नहीं । सर्वत्र अप्राप्ति वा उस की सम्भावना में विधि और प्राप्ति वा उस की सम्भावना में निषेध माना जाता है इस कारण पितादि के धर्म विरुद्ध आचरणों का विधान पुत्र के लिये कदापि नहीं आता ॥१७८॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यं मातुलातिथिसंश्रितैः ।

बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबन्धिवान्धवैः ॥

मातापितृभ्यांजामीभिर्भ्रात्रापुत्रेणभार्यया

दुहित्रादासवर्गेण विवादंनसमाचरेत् ॥

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैःप्रमुच्यते ।

एभिर्जितैश्च जयति सर्वल्लोकानिमान्गृही ॥
 आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।
 अतिथिस्त्वन्द्रलोकेशो देवलोकस्य च त्त्विजः ॥
 जामयोऽप्सरसां लोके वैश्रवदेवस्य बान्धवाः ।
 सम्बन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुली ॥
 आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः ।
 आताज्येष्ठः समः पित्रा भार्यापुत्रः स्वकातनूः ॥
 छायास्वोदासवर्गश्च दुहिताकृपणंपरम् ।
 तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा ॥१८५॥

अ०--ज्ञातयः भ्रातृव्यपितृव्यादयः, सम्बन्धिनः श्वशुरश्या-
 लादयः, बान्धवा मातामहादयः, जामयो भगिनीस्तुषाद्याः,
 इमं ल्लोकान्सुखहेतुत्वेनालोकयान् । वेदेनैव निरतिशयस्य
 ब्रह्मणो बोधो जायते तस्य वेदस्य च मर्मबोधयिताऽऽचार्यः ।
 सर्वोत्पादकपालकांशकार्यं नियुक्तः पिता, इन्द्रतत्त्वसम्बन्धि-
 बुद्धिप्रकाशरूपज्ञानसदुपदेशयोः प्रदाताऽतिथिः, ऋत्विजो दे-
 वयजनशीला देवत्वप्रधाना देवत्वस्य प्रापकाः । अप्सरसां
 देवस्त्रीसंबद्धसुखहेतुका जामयः, वैश्रवदेवस्य सर्वतत्त्वसम्ब-
 द्धसुखस्य प्रदातारो बान्धवाः, श्यालादिसम्बन्धिनोऽप्सम्बद्ध-
 शान्तिसौम्यकामसुखस्य हेतवो भार्यादिप्रसादद्वारेणोति । उ-
 पादानकारणसाम्येन मातृमातुली पृथिवीस्थानीयौ । लघु-
 त्वप्रधानतया बालवृद्धकृशातुरा आकाशतत्त्वजसुखहेतवः ।

ज्येष्ठे भ्रातरि पित्रांशः स्वतः पूर्वं प्राधान्येनागच्छति तस्मात्तस्य पितृसमत्वम् । भार्यापुत्रौ स्वदेहांशभूतौ दासवर्गः स्वस्योपरि कृत्रमिव ह्यायाकरो दुःखवारकः परिचरणादिना । दुहिता चाधिक्येन परतन्त्रत्वात्कृपापात्रम् ॥

भा०-ऋत्विगादिभिर्विवादो विरोधो येन प्रतिकूलाचरणोत्पद्येत तद्वाक्कलहश्च धर्मानुष्ठानजन्यं सत्यं सुखमिच्छता विज्ञजनेन न कदापि कार्यः । विवादाद्यभावे तत्प्रसादकानुकूलाचरणैश्च तुष्टा आचार्यादयः स्वस्वशक्तिसाध्यं सुखं गृहिणं प्रदातुं स्वतोषकं तोषयितुं च सर्वापायैरेव प्रयतन्ते । ततश्च न कुतोऽपि तस्य दुःखमायातीति धर्मस्य प्रत्यक्षमेव फलम् । तस्मात्तत्सुखमिच्छुर्जनस्तस्यतस्य सुखस्य हेतुं सन्तोषयेत् । आचार्यं तुष्टे वेदमीश्वरं च साक्षात्कर्तुं शक्तिर्व्यज्यते । पुत्रस्य पालनं पित्रधीनं पितरि सम्यक् तुष्टेऽपत्योत्पादनपालनयोग्यतां पिता स्वरक्षया तस्मिन्नुत्पादयति । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । यस्मिन् वस्तुनि यो गुणः प्रसादाभावे तिरोभवति सएव सति प्रसादे व्यक्तिमापद्यते तच्च सम्यक् सेव्यमानं स्वगुणं सद्भिन्न्यर्पयतीति । असन्तुष्टक्रुद्धाचार्यादीनामसन्तोषक्रोधादयोऽपि दुर्गुणा दुःखकरा शिष्यादिपुरुषसमीपमायान्त्येव ॥ १८५ ॥

भाषार्थः-(ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः) ऋतु २ में यज्ञ करने वाले ऋत्विजों, पुरोहित, यज्ञोपवीत करा के वेद पढ़ाने वाले, मामा, अतिथि, अपनी सहायता से निर्वाह-जीविका करने वाले (बालवृद्धातुरैर्वैद्यैः) बालक, वृद्ध, रोगी, वैद्य वा वेदादि शास्त्र के ज्ञाता विद्वान् (ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः) चाचा आदि कुटुम्बियों, श्वशुर, साले आदि संबन्धियों नाना आदि बान्धवों (मातापितृभ्यां

जामीभिः) माता पिता बहिर्णो वा पुत्रबधू आदि (भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया) बड़े भाई, पुत्र, अपनी स्त्री (दुहित्रा दासवर्गेण) अपनी कन्या और सेवकों के साथ (विवादं न समाचरेत्) ब्राह्मणादि गृहस्थ पुरुष विवाद-वैर-विरोध-कलह कभी न करे (एतैर्विवादाःसंत्यज्य) इन सब ऋत्विजादि के साथ सर्वथा वैर विरोध विवादों को सम्यक् त्याग कर (सर्वपापैः प्रमुच्यते) गृहस्थ पुरुष सब प्रकार के पापजन्य दुःख फलों से छूट जाता है (एभिर्जितैश्च सर्वानिमाल्लोकान् गृही जयति) इन ऋत्विजादि को धर्मपूर्वक अपने अनुकूल प्रसन्न कर लेने से गृहस्थ इन आगे कहे सुख के हेतु लोकों नाम लोकनीय देखने जानने में आने वाले पदार्थों को अनुकूल अविरोधी कर लेता है (आचार्यो ब्रह्मलोकेशः) वेद का बोध होने पर ही असीम परमात्मा का बोध होता है । और उस पवित्र वेद का मर्मबोध कराने वाला आचार्य कहाता इस प्रकार जानने साक्षात्करने योग्य परमेश्वर की प्राप्ति कराने में आचार्य ही समर्थ वा योग्य है (प्राजापत्ये पिता प्रभुः) सन्तान की उत्पत्ति पालन पोषण करने में पिता को अधिकार ऐसा ही है जैसा सब चराचर की उत्पत्ति पालन पोषण करने में ईश्वर को अधिकार है (अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशः) इन्द्रतरव सम्बन्धी बुद्धि के प्रकाश रूप ज्ञान और सद्पदेश करने की योग्यता और शक्ति वाला अतिथि कहाता (ऋत्विजश्च देवलोकस्य) देवत्व जिन में प्रधान वा प्रबल होता ऐसे देवयज्ञ अग्निहोत्रादि को करने के स्वभाव वाले ऋत्विज् लोग देवत्व सम्बन्धी सुख देने में समर्थ होते (अप्सरसां लोके जामयः) देवस्त्रियों सम्बन्धी नाम संसार में स्त्री सम्बन्धी सर्वोत्तम सुख ही देव स्त्रियों से होने वाला सुख कहावेगा अर्थात् सन्तुष्ट हुई निकट सम्बन्ध की भगिनी आदि स्त्रियां अपनी भौजाई आदि द्वारा उस को सुखी करने का अवश्य ही उद्योग करेंगी (बान्धवा वैश्वदेवस्य) सन्तुष्ट प्रसन्न हुए नाना आदि बान्धव सब देवता-सब तत्त्वों से सम्बन्ध रखने वाले सब प्रकार के उत्तम सुख को देने पहुंचाने की चेष्टा करते (सम्बन्धिनो ह्यपां लोके) जल तरव सम्बन्धी शान्ति सन्तोष वा सोमतरवसंबद्ध काम आदि रूप सुख देने योग्य कुटुम्बी और श्वशुरादि लोग स्त्री के सन्तोष प्रसन्नतादि द्वारा होते (पृथिव्यां मातृमातुलौ) माता अपने देह की साक्षात् उपादान कारण है और मामा का देह उन्हीं दोनों का कार्य वा अंश है कि जिन माता पिता के शरीर का अंश अपनी माता है इस कारण उन दोनों के सन्तोष वा प्रसन्नता से सब के उपादान पृथिवीतरव सम्बन्धी सुख उस को मिलेगा (आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकशातुराः) आकाशतरव

सब से हलका है उस हलकेपन की प्रधानता बालक, वृद्ध, दुबले पतले और रोगियों में प्रत्यक्ष ही होती है इसी कारण बालकादि के सन्तोष, प्रसन्नता और हार्दिक मेल से आकाशतरव सम्बन्धी सुख उस को मिलता है (ज्येष्ठो भ्राता पित्रा समः) पिता के शरीर का प्रथम नवीन प्रबल अंश उस के शरीर में आता इस कारण तथा पिता के तुल्य छोटे का रक्षक होने से बड़ा भाई पिता के समान सुख देने वाला (भार्या पुत्रः स्वका तनूः) स्त्री और पुत्र अपने अंश वा अति समीप हैं उन के साथ विरोध द्वेष होने से अपने ही साथ द्वेष वा विरोध होगा । तथा उन के सुखी रहने से अपने को साक्षात् सुख होगा । (स्वो दासवर्गश्च ह्याया) और अपना दासवर्ग अपने सेवक सेवा द्वारा ह्याता आदि के समान ह्याया करने दिवकतों से बचाने वाले हैं उन से हुआ वैर विरोध वा द्वेष, अपनी ह्याया से ही द्वेष होगा और उन के सन्तुष्ट प्रसन्न रहने से ह्याया अच्छी ठीक होगी (दुहिता परं कृपणम्) और अपनी कन्या अत्यन्त दीन सर्वथा पराधीन होती उस का कोई बल किसी पर नहीं होता उसके साथ विरोध द्वेषादि करना दयाधर्म के साथ विद्वेष होगा । अधिक दीन पर ही अधिक दया करनी चाहिये । उस के प्रसन्न रहने पर दया धर्म के द्वारा सुख मिलेगा (तस्मादेतैरधिक्लिप्तः सदाऽसंज्वरः सहेत) इस कारण इन ऋत्विजादि के कठोर अनुचित आक्षेप को सुन कर भी कुपित न होके सदा ही धर्म मर्यादा को विचारता हुआ गृहस्थ सहन करे ॥

भा०—जिस प्रतिकूल आचरण से ऋत्विजादि के साथ विवाद वा विरोध-द्वेष, उत्पन्न हो वैसा वर्त्ताव वा वाणी से कलह, धर्म पूर्वक सत्य २ सुख चाहता हुआ विचारशील पुरुष कदापि न करे । विवादादि न होने पर उन को प्रसन्न करने वाले अनुकूल आचरणों से संतुष्ट हुए आचार्य आदि अपनी २ शक्ति वा योग्यता से भिन्न होने वाला सब अपने सन्तोषक गृहस्थ को देने वा संतुष्ट करने के लिये सब

हने वाला गृहस्थ पुरुष उस २ सुख के हेतु—आचार्योदि को सन्तुष्ट करे । आचार्य के सन्तुष्ट होने पर वेद और ईश्वर को साक्षात् जानने की शक्ति योग्यता प्रकट होती । पुत्र का पालन पोषण पिता के आधीन होता इस से पिता के सन्तुष्ट होने पर सन्तानों को उत्पन्न करने पालने की योग्यता पिता अपनी रक्षा से उस में उत्पन्न कर देता है । इसी प्रकार आगे अतिथि आदि को भी जानो ।

जिस वस्तु में जो गुण प्रसन्नता के अभाव में दब जाता है वही प्रसन्नता होने पर प्रकट हो जाता है । और वह प्रसन्न वा शुद्ध वस्तु सेवन किया हुआ अपने जैसे गुण को अपने साथी-से अग्नि जल आदि के समान ही ठीक संयोजित करता है अर्थात् जैसे अग्नि जलादि के निकट रहने वाले को उस का वैसा ही उष्ण शीतादि गुण लगता है जैसे आचार्यादि सम्बन्धियों के द्वेष युक्त होने से द्वेषादि लगते जिन का बुरा फल होता और उन के सन्तुष्ट प्रसन्न होने से सन्तोषादि द्वारा उत्तम सुख होता है । धर्म के साथ विद्या सम्बन्धी युक्तिप्रमाणयुक्त अंशों का सम्बन्ध अग्नि के साथ गर्मी के समान अवश्य ही है । विद्या से धर्म वा धर्म से विद्या कदापि भिन्न नहीं ठहरती इसी सिद्धान्त के अनुसार यहां विद्या के साथ धर्मांश का वर्णन दिखाया है । ईश्वरादि की ठीक उचित अनुकूल प्राप्ति मनुष्य के लिये सुख का हेतु और प्रतिकूल प्राप्ति दुःख का कारण है और धर्म का फल सुख तथा अधर्म का फल दुःख है । सूक्ष्म वा स्थूल तत्त्वों से भिन्न, जगत् में किसी प्रकार का पाप पुण्य वा सुख दुःख कुछ भी नहीं हैं । विद्या वा ज्ञान से ही मोक्ष होता वा सब बड़े २ भी दुःख जिस उपाय से छूटते उसी का नाम ज्ञान, विद्या वा वेद है उस का बोध वा प्राप्ति जिस द्वारा होती वह आचार्य कहाता है । इस प्रकार ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराने की शक्ति वाले आचार्य से वैमनस्य का होना जानो ज्ञान, विद्या वा वेद, परमेश्वर और मुक्ति के साथ ही उस का वैर वा द्वेष हुआ । प्रजा नाम सन्तानों का पालन करने से पिता भी प्रजापति होता तब जो अपना पालक पोषक है उस से किया विरोध अपने पालन पोषण से ही विरोध हुआ जानो । पुत्र के समर्थ हो जाने पर भी अपनी शक्ति भर उस के सुखी रहने की चिन्ता और उद्योग अपना ही अंश जानता मानता हुआ पिता अवश्य करता है । चाहें इन्हीं बातों को यों कहो वा मानो कि इस आधिभौतिक भूलोक में, ब्रह्मत्व प्रधान आचार्य, प्रजापतित्व प्रधान पिता, इन्द्रत्व प्रधान अतिथि, देवत्व प्रधान ऋषिज् अप्सरस्त्वं प्रधान भगिनी आदि स्त्रियां, विश्वेदेवत्व प्रधान बान्धव और वरुणत्व प्रधान सम्बन्धि हैं । इन २ के ठीक २ उचित मेल वा सम्बन्ध से उन २ तत्त्वों सम्बन्धी सुख गृहस्थ को इस जन्म और जन्मान्तर में मिल सकता है । इस से जो गृहस्थ अपना धर्मानुसार कल्याण चाहता है वह आचार्यादि को क्रुद्ध वा दुःखित न कर के सर्वथा सर्वदा सन्तुष्ट प्रसन्न करने का उद्योग करे ॥ १८५ ॥

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गन्तत्र वर्जयेत् ।
 प्रतिग्रहेणह्यस्याशु ब्राह्मंतेजःप्रशाम्यति ॥
 नद्रव्याणामविज्ञाय विधिंधर्म्यंप्रतिग्रहे ।
 प्राज्ञःप्रतिग्रहंकुर्या दवसीदन्नपिक्षुधा ॥
 हिरण्यंभूमिमश्वंगामन्नंवासस्तिलान्घृतम् ।
 प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवतिदारुवत् ॥
 हिरण्यमायुरन्नंच भूर्गोश्चाप्योषतस्तनुम् ।
 अश्वश्चक्षुस्त्वचंवासो घृतंतेजस्तिलाःप्रजाः ॥
 अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
 अम्भस्यप्रमल्लवेनेव सहतेनैवमज्जति ॥
 तस्मादविद्वांन्विभियाद् यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात्
 स्वल्पकेनाप्यविद्वांन्हि पङ्केगौरिवसीदति १८१
 अ०-विद्यातपःसदाचारयुक्तत्वेन दानमादातुं शक्तोऽपि
 ब्राह्मणस्तत्र प्रतिग्रहे प्रसङ्गं प्रकृष्टं सङ्गमत्यासक्तिंतमनस्त्वं
 विवर्जयेत् । यतस्तत्प्रवृत्तेराधिक्येन जायमानेन हार्दसंको-
 चेन ब्राह्मं तेजः शाम्यति । प्रतिग्रहे द्रव्याणां धर्म्यं विधिम-
 विज्ञाय क्षुधाऽवसीदन्नपि प्राज्ञः प्रतिग्रहं न कुर्यात् । अ-
 विद्वांन् तपःसदाचारयुक्तोऽपि विप्रो हिरण्यादीन् गृह्णन् दा-
 रुवद् भस्मी भवति निस्तेजा दीनो दातृणां मिथ्याप्रशंसको
 ब्रह्मत्वशून्यो भवति । हिरण्यादीन्यायुरादिकं दहन्तीति
 निन्दार्थवादः । हिरण्यादिसम्बद्धभोगासक्तत्वादधिकजीव-

नहेतुजपतपप्रादिकर्मधर्मशून्यः सन्सद्यो म्रियते । अतपा अ-
नधीयानस्तु प्रतिग्रहे कृतरुचिर्विप्रोऽश्मप्लवेनाम्भसीव तेन
दानभोगेन सहैवाधर्मांभसि मज्जति न तस्य धर्मकृत्ये
ह्यापि द्रष्टुं केनापि शक्यते । तस्मात्सदाचारादिना कियदपि
ब्रह्मत्वं रिरक्षिषुरविद्वान् विप्रोऽपि यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहाद्वि-
भियाद्यतोऽल्पेनापि प्रतिग्रहेण स धर्मं विस्मृत्याधर्मफलेन
महता दुःखेन सीदति ॥

भा०-चतुर्विधाः पञ्चविधा वा ब्राह्मणपदवाच्याः सम्भ-
वन्ति । विदुषे सदाचारिणे ब्रह्मयज्ञादिकर्मनिष्ठाय सुपात्राय
दानं देयमिति सर्वत्र दानविधिः । तत्र यः सर्वथैवदानं ना-
दत्ते सउत्तमतमः । यतो दानस्वीकारेण तस्यात्मनि लज्जा
संकोचादिकं च प्रविश्य धर्म्यकर्मात्साहं न बाधते । यश्च
कदाचित्प्रयोजनाधिक्येन दानमादायापि प्रकृष्टज्ञानेन तप-
प्रादिना च प्रतिग्रहजन्यां मानसग्लानिं नाशयति स प्रथ-
मादवकृष्टोऽपि धर्मस्य प्राधान्यादुत्तमएव । यस्तु शास्त्रम-
र्यादां जानन्नपि लोभाधिक्येन धनार्जनमेव परं मन्यमानः
श्रीमतो यथाकथमपि चातुर्यादिना प्रसादयति केनापि
भाष्यादिकृत्यमिषेण धनमादत्ते स ब्रह्मकुले जातोऽपि लोकैः
पण्डितो ब्राह्मणइत्युच्यमानोऽपि नासौ शास्त्रतो ब्राह्म-
णोऽपितु वैश्यस्तृतीयः । यस्तु संस्कृतविद्याशून्योऽधीतक्षु-
द्रग्रन्थो लज्जादिहीनः पौरोहित्याभासकर्मणा सर्वदा सर्व-
था सर्वतप्रादातुं प्रवर्त्तते स चतुर्थोऽधमः । यस्तु सर्वथा
निरक्षरः पण्डादिनामको दातां पपीड्याप्यादत्ते तेन च

नर्त्तनमद्यमांसादिषु प्रवर्त्तते सोऽधमतमः । हिरण्यं तैजसं
 सौम्यस्य मनसो प्रमादभोगासक्त्यादिना बाधकमन्नं च
 पार्थिवं तमःप्रधानमायुषो बाधकं तमोरूपस्य मृत्योः सहा-
 यकमेव च । गौर्भूश्रादीयमाना स्वस्योपादेयं निस्सारं करोति ।
 अश्वः सूर्यतत्त्वप्रधानश्चक्षुश्च, संवरणरूपं वासस्त्वक् च, घृतं
 सारः शारीरं तेजश्च सारएव, तिलाश्च प्रजननशक्तिवर्द्धकाः,
 सजातीयानीमान्यादीयमानानि स्वस्याल्पं निर्बलं सजातीयं
 बाधन्ते । यादृशं प्रवाहेणाल्पं बहु वा यस्य वस्तुनो दानं
 दातारो ददति तादृशमेव तत्सम्बद्धं सुखमिहामुत्र वा ते
 लभन्ते । येभ्यश्च ददति तेषां च तादृशमेव तत्सम्बद्धं सुख-
 मपिहीयते । तस्माद्दानस्य ग्रहणेच्छा विज्ञेन ब्राह्मणेन ब्र-
 ह्मत्वरक्षणतत्परेण हेयैव ॥ १९१ ॥

भाषार्थः—(प्रतिग्रहसमर्थोऽपि) विद्या, तप, सदाचार—अच्छे शुद्ध धर्म कर्म
 में युक्त रहने से शास्त्रानुसार दान लेने योग्य भी गृहस्थ ब्राह्मण (तत्र प्रसङ्गं
 वर्जयेत्) दान लेने के अधिक लालच और तत्परता को त्यागे, दान लेने में मन
 को न लगाये रहे (प्रतिग्रहेण ह्यस्य ब्राह्मं तेज आशु प्रशाम्यति) क्योंकि दान
 लेने में फसने से इस का ब्रह्म तेज शीघ्र ही घट जाता अर्थात् हृदय में होने
 वाले संकोच वा लज्जा से आत्मा में तुच्छता दीनता आती है इसी से आकृति
 के ऊपर भी लज्जा संकोच झलक आते हैं । द्वितीय यदि अपना धर्मानुकूल कर्म
 मान के कभी २ लेवे भी तो (प्रतिग्रहे द्रव्याणां धर्म्यं विधिमविज्ञाय) दानलेने
 में जिन धमादि वस्तुओं का दान लेना ही उन को जब तक दाता ने धर्मानुकूल
 अपने परिश्रम से उपार्जन किये न जान ले तब तक (क्षुधाऽवसीदन्नपि प्राञ्चः)
 भूख से पीड़ित दुःखित रहता हुआ भी विद्वान् ब्राह्मण (प्रतिग्रहं न कुर्यात्)
 दान कदापि न लेवे (हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान् घृतम्) सुवर्ण, भू-
 मि, घोड़ा, गौ, अन्न, वस्त्र, तिल और घृत इन अधर्म से संचित वस्तुओं का (प्र-
 तिग्रहणन्नविद्वांस्तु) अधिक दान लेनेवाला तप और सदाचार से युक्त भी अ-

विद्वान् ब्राह्मण तो (दारुवद् भस्मीभवति) लकड़ी के समान भस्म निस्तेज दा-
ताओं का प्रशंसक [खुशामदी] ब्रह्मत्व शून्य हो जाता है । अर्थात् विद्वान्
न्यून भस्म होता है । मूर्ख ब्राह्मण तो दान में फसजाने पर खुलकर दाता के स-
मक्ष बलपूर्वक धर्म की कोई भी बात नहीं कहसकता । पर विद्वान् के चित्त में
धर्म का ऋङ्कुर हो तो उसका आत्मा इतना अधिक संकुचित नहीं होता (हि-
रण्यमायुरन्नं च) सुवर्ण और अन्न का दानलेना आयु को (भूर्गोश्चापि तनुमो-
षतः) भूमि और गौ का दान शरीर को (अश्वश्चक्षुः) घोड़े का दान चक्षु को
(वासस्वचम्) वस्त्र का दान त्वचा को (घृतं तेजः) घी तेज को और (ति-
लाः प्रजाः) तिलों का दान प्रजा को घटाता वा धीरे २ शक्ति को क्षीण करता
है अर्थात् सुवर्णादि सखन्धी भोगों में अधिक आसक्त रहने से अधिक जीवन के हेतु
जपतपादि धर्म कर्म से शून्य हो कर शीघ्र मरता है (अतपा अनधीयानस्तु प्रति-
ग्रहरुचिर्द्विजः) जो शुभ कर्मानुष्ठानरूप तप और वेदाध्ययन दोनों से रहित ना-
समात्र का ब्राह्मण दान लेने का लालची हो तो वह (अश्ममूवेनाम्भसीव) प-
त्थर की नौका पर चढ़ के जलाशय में तरने वाले के तुल्य (तेनैव सह मज्जति)
उसी दान भोग के साथ अधर्मरूप जल में डूबजाता है [प्रयागादि तीर्थ के पण्डादि
के समान] धर्म विषय वा धर्मकार्य में जैसे मनुष्य की छाया भी नहीं दीखती
(तस्माद्विद्वान् यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहाद्बिभियात्) इससे सदा सन्ध्योपासनादि
द्वारा थोड़े भी ब्राह्मणपन को अपने में रखना चाहता हुआ अविद्वान् ब्राह्मण
जिस तिस दान के लेने से डरता रहे (हि) जिसकारण (अविद्वान् स्वल्पकेनापि)
आत्मिक ज्ञानशक्ति न होने पर अविद्वान् ब्राह्मण थोड़ा दान लेने से भी (पङ्के
गौरिव सीदति) कीचड़ में बैल के समान फस के दुःख भोगता है । अर्थात् ज्ञानादि से
पुष्ट हृदयवाला चाहे तो प्रायश्चित्त जपतपादि उपायों से दानके संकोचादिरूप दोष
को निवृत्त भी करसकता है पर अज्ञानी बालकके समान असमर्थ होने से बचने का
उपाय भी नहीं करसकता किन्तु दुःख ही भोगा करता है ॥

भा०-चार वा पांच प्रकार के ब्राह्मण कहे जासकते हैं । ब्रह्मयज्ञादि साङ्गो-
पाङ्ग धर्मकर्म में तत्पर सदाचारी सुपात्र वेदवेत्ता विद्वान् ब्राह्मण को दान देना
चाहिये यही सर्वत्र विधान कियाजाता है । उन में जो पूर्ण धर्मात्मा तपस्वी वे-
दवेत्ता शुद्धाचरणी होने पर भी सभी प्रकार दान लेने से बचने की चेष्टा करता
है वह उत्तम में भी उत्तम है क्योंकि दान की स्वीकार करने से उस के आत्मा में
लज्जा संकोचादि प्रविष्ट हो के धर्म के उत्साह का भङ्ग नहीं करते । और जो

कभी २ प्रयोजन की अधिकता से निर्वाह के लिये दान ले २ कर भी प्रबल ज्ञान और तप आदि से दान लेनेद्वारा होने वाली मनकी लघुता तुच्छता मलिनता वा क्लान्ति को नष्ट करदेता है वह पहिले से निरुष्ट हुआ भी अधर्म की प्रधानता से उत्तम ही मानाजायगा। तृतीय जो शास्त्र की सर्वादा को कथमपि जानता हुआ भी लोभ लालच की अधिक प्रबलता से धन का संग्रह करनाही परम कर्तव्य-मुक्तिवत् मानता हुआ जिस किसी प्रकार अपनी चतुरतादि से किही श्रीमानों को प्रसन्न करता और किसी पर भाष्यादि करने के वहाने से धन लेता है वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ भी लोकचाल के अनुसार पण्डित ब्राह्मण कहाता हुआ भी शास्त्रानुसार ब्राह्मण वा विद्वान् नहीं है किन्तु नीच वा वैश्य माना जायगा। और जो संस्कृत विद्या से शून्य, क्षुद्रग्रन्थ वा भाषा मात्र पढ़ा, लज्जादि को त्याग के पुरोहिताई के नाम से सब काल में सब प्रकार सब से दान लेने में तत्पर रहता वह चौथा अधम है। और जो सर्वथा ही निरक्षर पण्डादि नाम धारी दाताओं को तङ्ग कर २ पीछे पड़ २ के दान लेता और उसके सहारे से मद्य मांस वेश्या नृत्यादि करता कराता है वह सन्तुष्यों में अत्यजों के समान ब्राह्मणों में अत्यन्त अधम महानीच है। सुवर्ण तैजस होने से सोमतरव प्रधान मानस शक्ति का प्रमादक भोगासक्त्यादि द्वारा नाशक, अन्न, तमोगुण प्रधान पार्थिव हो ने से आयु का नाशक और तमोगुणरूप सृष्ट्यु का सहायक है। इसी कारण अधिक खाने से तमोगुण बढ़ता है। गौ और पृथिवी मनुष्य देह के उपादान कारण हैं। उन की अधिकता उपादेय शरीर को निःसार करने वाली है। घोड़ा और चक्षु दोनों सूर्य तरव प्रधान हैं और वस्त्र तथा त्वचा ढांपने वाले हैं, घृत दुग्ध का सार और शरीर का सार-ओज-तेज कहाता है। और गर्भाधान शक्ति को बढ़ाने वाले तिल हैं। चक्षु आदि के सजातीय ये घोड़ादि दान में लिये हुए अपने चक्षु आदि निर्बल सजातियों का सदा ही दवाते निस्तेज करते हैं। प्रयोजन यह कि दाता लोग जिस वस्तु का जैसा न्यूनाधिक दान प्रवाह से-वार २ देते हैं वैसा ही न्यूनाधिक उन २ वस्तुओं सम्बन्धी सुख पाते और जिन को देते हैं उन का उसी २ वस्तु सम्बन्धी वैसा २ न्यूनाधिक सुख क्षीण होता है। उस में भी दाता ने अधर्म से प्राप्त किये धनादि का दान लेना सुख की अधिक तर हानि का कारण होता है। इस लिये विचारशील ब्राह्मण के चाहिये कि अपने ब्रह्मरव की रक्षा करना चाहता हुआ दान लेने की अधिवृष्णा का सदा त्यागही करता रहे ॥ १८१ ॥

नवार्यपिप्रयच्छेत्तु वैडालवृत्तिकेद्विजे ।
 नवकवृत्तिकेविप्रे नावेदविदिधर्मवित् ॥
 त्रिष्वप्येतेषुदत्तंहि विधिनाऽप्यर्जितंधनम् ।
 दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेवच ॥
 यथाप्लवेनीपलेन निमज्जत्युदकेतरन् ।
 तथानिमज्जतोऽधस्ता दज्ञौदातृप्रतीच्छकी ॥
 धर्मध्वजीसदालुब्धश्छाद्मिकोलोकदम्भकः ।
 वैडालवृत्तिकोज्ञेयो हिंस्रःसर्वाभिसन्धकः ॥

[यस्यधर्मध्वजोनित्यं सुरध्वजइवोच्छ्रितः ।

प्रच्छन्नानिचपापानि वैडालंनामतद्भवतम् ॥]

अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
 शठोमिथयाविनीतश्च वकवृतचरोद्विजः ॥
 येवकवृत्तिनोविप्रा येचमार्जारलिङ्गिनः ।
 तेपतन्त्यन्धतामिस्रे तेनपापेनकर्मणा ॥
 नधर्मस्यापदेशेन पापंकृत्वावृतंचरेत् ।
 वृतेनपापंप्रच्छाद्य कुर्वन्स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥
 प्रेत्येहचेदृशाविप्रा गर्ह्यन्तेब्रह्मवादिभिः ।
 छद्मनाचरितंयच्च वृतरक्षांसिगच्छति ॥
 अलिङ्गीलिङ्गिवेषेण योवृत्तिमुपजीवति ।
 सलिङ्गिनांहरत्येन स्तिर्ग्यानीचजायते ॥२००॥

अ०-विडालानां व्रतं नियमो यदुपरिष्ठान्मादवाचरणेन
 मूषिकादीनाश्चास्य स्वस्थातिकुटिलं परस्य नाशकरं स्वा-
 र्थसाधनपरं भावं प्रच्छाद्य विचरणां, तेन चरतीति वैडाल
 व्रतिकः । चरतीति ठक् । स्वार्थसाधनाय सर्वेन्द्रियाणां सं-
 यमः समादधतो योगिनइव स्वार्थविघ्नभियां मौनावलम्ब-
 नादिकं वकानां व्रतं तदस्यास्तीति वकव्रतिकः, मत्वर्थीय-
 ष्टन् प्रत्ययः । वेदवित्प्राप्ताववेदविदे दानप्रतिषेधः । दानध-
 र्मस्य यच्छुभं फलं न तदेषु निष्पद्यतइदमेवानर्थक्यम् । दात्रा
 विद्याधर्मादिशुभगुणेषूत्कृष्टस्य महात्मनः सेवासत्सद्गादिना
 स्वयमुत्कृष्टेन शुद्धविचारवता विद्याधर्ममित्रेण भाव्यमिति
 बोधो दानधर्मस्य ज्ञानं, प्रतिगृहीत्रा च दातुर्धनादिना सहा-
 येन धर्ममनुष्ठाय द्वयोः कल्याणं सदैवानुचिन्त्यमेतच्च द्वयमपि
 यौ न जानीतस्तावज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ तेन कर्मणा कस्यापि
 सुखोन्नतिमकृत्वा तीर्थाभासकाकवद्दुःखोदधौ मज्जतः ।
 यस्तत्रैव तदेव वा धर्म्यं कर्मसमारोहेण करोति यत्र यद्वाऽन्ये
 स्फुटं दूरात् पश्येयुः । कृत्वा च स्वयमन्यैश्च सहयोगिभिरा-
 धिक्वयेन ख्यापयितुं सर्वोपायेण प्रवर्तते स धर्मध्वजी, सदा
 पुष्कलधनादिप्राप्तावपि तृष्णापरिप्लुतः, हृद्व्रना व्याजेन
 विचरति नतु स्वस्यान्तःकरणस्थं गुप्तं भावं कुत्रापि प्रकाश-
 यति सर्वत्र सत्याभासेनाच्छादितहृत्लेनैव कार्यं साधयति ।
 सतामिव विनीतवेषधारणेन सत्त्वविश्वासकः सन् लोकान्
 जनान् दम्भयति निःक्षेपापहरणादिनां वञ्चयति । स्वार्थसाध-
 नाय परस्मै दःखदाने निर्दयो हिंस्रः । सर्वाभिसन्धकः सर्वैरे-

वोत्तममध्यमनिकृष्टैः स्वार्थसिद्धयेऽभिसन्धिं करोति तेषुतेषु
तत्तद्रूपेणैवाभासते येन सर्वेभ्यः कार्यविघातो नो न स्यादिति ।
एवंभूतः पुरुषो वैडालव्रतिको ज्ञेयः । अत्रैवैकं पद्यं कुत्रचि-
दुपलभ्यमानमस्ति—“यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरध्वजइवो-
च्छ्रुतः । प्रच्छन्नानि च पापानि वैडालं नाम तद्ब्रतम् ॥”
करुणाकालेऽपि धो न द्रवीभवति यउपरिष्ठान्मदुरपि हृद-
येन यथा क्षुरः स निष्कृत्या निष्ठुरतया चरतीति नैष्कृतिकः,
शठः कुटिलमतिः, मिथ्याविनीतो वाचा देहेन च विनयमेव
सर्वान् दर्शयति मनसा चाविनीतएव सर्वत्र चरति । केचि-
त्पापिनः कानिचिन्महान्ति पापानि कृत्वा तज्जन्यापवाद-
प्रच्छादनाय किमपि धर्म्यं कर्म प्रख्यापनपुरस्सरमारभन्ते
यस्मिंस्तत्परान् दृष्ट्वा पापदर्शकस्य विश्वासं न कुर्युरन्ये श्रोता-
रङ्गति मत्या क्रियमाणोऽपि धर्मः प्राज्ञैर्विज्ञायतएवाधर्मनि-
ष्ठएवायमिति । स्त्रीशूद्रादयो मूर्खाएव गुप्त्रं वृत्तमविदित्वा
यस्य प्रशंसां कुर्वन्ति सोऽपि धर्मध्वज्येवेति । हृद्मनाचरितं
व्रतमपि पापकोटिस्थमधःपातकमेव तस्मिंश्च रक्षस्त्वमा-
यात्येवेति । ब्राह्मणब्रह्मचार्यादीनां यानि लिङ्गानि तानि
योऽन्यो लुब्धः पापो धृत्वा लिङ्गैरुपजीवति लिङ्गेषु पापिष्ठा-
यां गतिं यान्ति स तामेव दुष्कर्मसाम्याद्गच्छति ततोऽप्या-
धिक्येन तिर्यग्योनौ श्वशृगालादियोनावपि जायते ॥

भा०—दानधर्मा धर्ममत्या यत्र सेव्यते तत्रायं सर्वा विचारो
योज्यो यत्र तु कोऽपि धर्मध्वज्यादिजनं महता क्षुधादिज-

न्यदुःखेन पीडितं पश्यन् दयालुतया किमप्यन्नादिकं दातु
 मिच्छेत्तत्र नायं प्रतिषेधो योज्यः । दानधर्मस्य यादृशपरि-
 णामेन भाव्यं तदपेक्षया तेषु नैर्धक्यमिव पश्यता धर्मशा-
 स्त्रकृता प्रतिषेधोऽयमारब्धो नतु हिंसाद्यधर्मेण सहास्य कु-
 पात्रेभ्यो दानस्य साम्यं केनापि विज्ञातुं युक्तमिति । सर्व-
 षामेव धर्म्यकर्मणामिष्टाप्तिरनिष्टहानिश्च प्रयोजनमिति सा-
 मान्येनोद्देशः । कुपात्रेभ्यो दानेन तत्प्रयोजनं किञ्चिज्जाय-
 मानमपीयन्न्यूनं निष्पद्यते यस्य साफल्यकोटौ परिगणनं
 कर्तुं न केनापि शक्यते । यश्च न किमपि कस्मादपि क-
 दापि कियदपि दानं कर्तुमुत्सहते नच किमपि दातुं सुयो-
 ग्यानन्विच्छति कुपात्रदानस्य खण्डनमात्रमेव करोति । त-
 दपेक्षया योग्यायोग्ययोरविवेकेनापि यो दातुं प्रवर्तते स
 निकृष्टतामसदानकर्मणः कर्त्ताऽपि कथमपि शुभफलेनैव यु-
 ज्यते । निमज्जनं तु तस्योत्कृष्टदशाऽप्राप्तिरेव मन्तव्यम् ।
 वक्रव्रत्यादिर्विप्रो दात्रपेक्षयाऽऽधिक्येन पापिष्ठो योऽन्येषां
 दातृणामृणाभारं कृत्वा कमपि धर्ममसेवमानोऽधर्ममेव स्वस्य
 नरकहेतुकं संचिनोति । तस्माद् ये ब्राह्मणाः शुभां गतिमि-
 च्छन्ति तैर्वक्रव्रतादयो दोषा हेया अन्यदातृणां धनस्यादान-
 तृणापि त्याज्या शुभाचरणसन्तोषाभ्यां च स्वस्य निर्वाहः
 सदैव कार्यइत्यलम् ॥ २०० ॥

भाषार्थः—(न वैडालव्रतिके द्विजे) विडालकीसी वृत्ति रखने वाले [अर्थात्
 ऊपर से विनय के साथ कोमलवर्त्ताव से मूषे आदि जन्तुओं को विश्वास दिला
 कर और स्वार्थसाधन में तत्पर अन्य का समूल नाश करने वाले अपने अति
 कुटिल भीतरी भाव को ऊपरी विनीताचरण के लिफाफे से ढांपकर विचरना

ऐसे भाव से जो संसार में कार्य साधनार्थ विचरता है उस] ब्राह्मण को (न वक्-
प्रतिके विप्रे) वगुला कासा ध्यान लगा के स्वार्थसिद्धि और परहानि करने
वाले [अर्थात् सब इन्द्रियों को वशीभूत करके सत्य को जानता हुआ भी स्वार्थ में
विप्रे होने के भय से मौन धारण किये वक् व्रतधारी] तथा (नावेदविदि धर्म-
वित् वार्यपि प्रयच्छेत्) वेद को न जानने वाले ब्राह्मण को धर्मज्ञ पुरुष जलमात्र
भी न देवे अर्थात् उक्त तीनों का जल से भी सरकार न करे । पर उक्त दोनों की
अपेक्षा वेद को न जानने वाला अच्छा है इसी कारण अन्त में पढा गया अर्थात्
पढे अधर्मी दुष्ट की अपेक्षा धर्माधर्म से रहित मूर्ख भी अच्छा है सो वेदज्ञ की
प्राप्ति में उस का निषेध जानो किन्तु अप्राप्ति में नहीं । दान धर्म का जो फल
होना चाहिये वह इन तीनों में नहीं होता यही दान की अनर्थकता है (वि-
धिनाप्यर्जितं धनं त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि) धर्मानुकूल उपार्जन किया हुआ भी
धन इन उक्त तीनों को दान में दिया हो तो (दातुरनर्थाय भवति) दाता का
दान व्यर्थ निष्फल ही जाता वा इतना कम फल होता जिस को अच्छा फल होना
ही न माना जावे (परत्रादातुरेव च) और जन्मान्तर में दान लेने वाले को
भी अनिष्ट का हेतु वह दान होता है (यथौपलेन भवेनोदके तरन् निमज्जति)
जैसे पत्थर की नौका पर चढ़ के जलाशय के पार होने का उद्योग करता हुआ
पुरुष जलाशय में डूबता है (तथाऽज्ञौ दातृप्रतीच्छकावधस्तान्निमज्जतः) वैसे अ-
ज्ञानी दाता और ग्रहीता नीचे की ही डूबते हैं [अर्थात् विद्याधर्मादि शुभ गुणों में
जो ठीक २ तत्पर हो ऐसे धर्मनिष्ठ महात्मा पुरुष की दान के द्वारा सेवा स-
त्सङ्ग करके दाता को चाहिये कि मैं विद्या और धर्म के साथ प्रीति करके शुद्ध
विचारों से भूषित उच्च बन् कीचड़ से निकलूं और धर्मात्मा विद्वान् की सेवा से
ही विद्या और धर्म के साथ मेल वा प्रीति हो सकती है, ऐसा बोध होना दा-
ता को दानधर्म का ज्ञान कहावेगा । और शुद्ध धर्मानुकूल परिश्रम से उपार्जन
किये दाता के दान की सहायता से धर्म करके अपना और दाता पुरुष का दो-
नों का कल्याण मैं करूं वा कर सकता हूं यदि मैं अपने निर्वाह की चिन्ता में
लगा रहूंगा तो धर्म नहीं कर सकता और धनी दाता धर्म का मर्म न जानने से नहीं
कर सकता ऐसा ज्ञान दान लेने वाले को होना चाहिये । यदि इस अंश को
दोनों नहीं जानते तो अज्ञानी हैं उन का देना लेना निरर्थक हानि कारक हो-
ता है] (धर्मध्वजी) जो पुरुष वहीं वा उसी धर्म को बड़े समारोह के साथ दि-
खाने के लिये उत्तेजना से करता है जिस को वा जहां सब लोग स्पष्ट देख स-

कते हों और उस काम को करके स्वयं तथा अन्य अपने सेलियों के द्वारा अधिकता से सब उपायों करके सेर भर का मनभर खपाने आदि काम से प्रसिद्ध करता करता है वह धर्मध्वजी (सदा लुब्धः) बहुतसा पुष्कल धन प्राप्त होने पर भी अगाधतृष्णा से लोभ दिखाने वाला (छाद्विकः) जो अपने भीतरी लोभ के गुप्त भाव को कहीं प्रकाशित नहीं करता किन्तु सर्वत्र कोमल सत्याभास से ढांपे हुए खल से ही कार्य सिद्ध करता है वह खद्व नाम खल के साथ वर्तमान रहने से छाद्विक कहाता (लोकदम्भकः) श्रेष्ठ लोगों कासा विनीत वेध धारण करके अपने अच्छे होने का विश्वास दिलाता हुआ धरोहर आदि धन मारले-ने द्वारा लोगों को ठगता है (हिंस्रः) स्वार्थ सिद्ध करने के लिये अन्य को दुःख देने में निर्दय क्रूर (सर्वाभिसन्धकः) और जो सब उत्तम मध्यम नीचों के साथ स्वार्थ सिद्धि के लिये मेल बढ़ाता और उन २ में उसी २ रूप से प्रतीत होता जिस कारण किसी से भी स्वार्थ की सिद्धि हानि न हो परन्तु धर्मात्माओं से डरता और विरोध भी करता है (वैडालव्रतिको ज्ञेयः) ऐसे ब्राह्मण को विलाड़ का व्रत धारी वैडालव्रतिक जानो । यहाँ एक श्लोक किसी २ पुस्तक में अधिक मिलता है (यस्य धर्मो) जिस के धर्म की ध्वजा देवध्वजा के समान ऊंची रहे और जिस के पाप गुप्त हों—चतुराई से बड़े २ पापों को गुप्त रखता हो यही विलाड़ कासा व्रत है । (अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः) बनावटी शान्ति धारण कर नीचे को देखता, दया करने के समय भी जो नहीं पिघलता—ऊपर से कोमलता दिखाता हुआ भी हृदय में क्षुरा कीसी धार रखता अन्य के हित को काटने का पूर्ण व्यवसायी (शठो मिथ्याविनीतश्च) वाणी और शरीर से मिथ्या कोमलता दिखाता हुआ भी भीतर से कठोर कुटिल मति (स्वार्थसाधनतरपरः) ऐसा स्वार्थ साधन में तरपर (द्विजो वक्रव्रतचरः) ब्राह्मण वक्र का व्रत करने वाला कहाता है (ये विप्रा वक्रव्रतिनो ये च मार्जारलिङ्गिनः) जो ब्राह्मण परधन हरणादि द्वारा स्वार्थ साधन के लिये बगुला वा विल्ली कासा आचरण करने वाले हैं (ते तेन पापेन कर्मणाऽन्यतामिस्रे पतन्ति) वे उस पाप कर्म की प्रबलता से अन्यतामिस्र नरक में पड़ते हैं । कोई पापी लोग किहों बड़े २ पापों को करके उन से होने वाली बुराई को ढांपने के लिये प्रसिद्ध करते हुए किसी धर्म कार्य को आरम्भ करते हैं कि जिस काम में तरपर देख के पाप को देखने जानने वाले का विश्वास होता लोग न करें । पर ऐसे विचार से धर्म करते हुए को भी विचारशील परिणत लोग जान लेते हैं कि यह अधर्मी है और उहों के कहे का जगत् में विश्वास अधिक

होता है इस लिये अपनी प्रतिष्ठा चाहनेवाले ब्राह्मण को चाहिये कि (व्रतेन पापं प्रच्छाद्य) अच्छे काम से पाप को ढांप कर (स्त्रीशूद्रदम्भनं कुर्वन्) स्त्री और शूद्रादि सूखी को ठगता उन से प्रशंसा कराता हुआ (धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं न चरेत्) पाप करके इस प्रकार धर्म के वहाने से चान्द्रायणादि व्रत न करे ऐसा करने से धर्मात्मा नहीं बन सकेगा किन्तु ऐसे काम से भी सब धर्म-ध्वज्जी जान लेंगे (ईदृशा विप्रा प्रेत्य चेह च ब्रह्मवादिभिर्गर्ह्यन्ते) ऐसे दुष्ट धूर्त लिफाफामात्र ऊपर से अच्छे बने कोमलभाषी, हृदय से पूबल कामी वा लोभी लम्पट ब्राह्मण जीवित रहते वा मरणानन्तर धर्मज्ञ वेदवेत्ताओं में निन्दा पाते हैं (ब्रह्मना चरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति) और छल से जिस धर्म को करते हैं वह पाप कोटिस्थ हुआ उनको राक्षस नीच बनाने वाला हो जाता है (लिङ्गिवेषेण योऽलिङ्गी वृत्तिमुपजीवति) ब्रह्मचारी संन्यासी आदि कासा वेष धारण करके जो पुरुष जीविका करता है (स लिङ्गिनामेनो हरति) वह संन्यासी आदि वेष-धारी पाप करने वालोंके समान अपराध भागी होता और (तिर्यग्योनौ च जायते) इस से भी अधिक कुत्ता वा शूगलादि तिर्यग्योनियों में जन्म लेकर आगे २ दुर्दशा भोगता है । इसी प्रकार विद्या और धर्म की नकल अधर्मी के लिये अधर्म रूप ही हो जाती है ॥

भा०—जहां धर्म बुद्धि से दान धर्म का सेवन किया जाता है वहीं यह सब विचार लगाना चाहिये कि ऐसे २ को दान नहीं देवे । और जहां कोई दाता पुरुष धर्मध्वज्जी आदि मनुष्य को क्षुधादि द्वारा होने वाले महान् दुःख से अति पीडित देखता हुआ दया दृष्टि से कुछ अन्नादि देना चाहे वहां यह निषेध नहीं लगाना चाहिये । क्योंकि वहां दया न करने से निर्दयता आवेगी । दया की रक्षा करना भी एक धर्मोश ही है । दान धर्म का जैसा अन्तिम फल होना चाहिये उस की अपेक्षा से उन धर्मध्वज्यादि में निरर्थकता देखते हुए धर्मशास्त्रकार ने ऐसों को दान देने का निषेध किया है किन्तु हिंसादि अधर्म के साथ इन कुपात्रों को दान देने की समता किसी को नहीं मान लेनी चाहिये अर्थात् हिंसा चोरी व्यभिचारादि अधर्मकेतुत्त्य कुपात्रों को दान देना कोई पाप नहीं है । क्योंकि धर्मानुकूल सब कामों का सामान्य प्रयोजन वा उद्देश यही है कि इष्ट सुख की प्राप्ति और अनिष्ट की हानि हो सो कुपात्रों के दान से वह प्रयोजन कुछ सिद्ध होता भी है तो इतना कम होता है जिस होने को सफल होने की कोटि में कोई नहीं गिन सकता । यही कुपात्र को दिये दान की निरर्थक-

ता कहने का अभिप्राय जानो । परन्तु जो पुरुष कभी किसी अच्छे वा बुरे की कितना भी कुछ भी नहीं देता वा न कुछ दान देने के योग्य सुपात्रों का कभी खोज करता है किन्तु केवल कुपात्रों को दान देने का खण्डन मात्र करता है उस की अपेक्षा से तो योग्य अयोग्य का विवेक न करके भी जो पुरुष दान देने में प्रवृत्त होता वह निरुद्ध तमोगुणी दान करने वाला भी कुछ २ शुभ फल का भागी होता ही है । और उस का डूबना यही है कि जो धर्मज्ञ विद्वानों के पूजन सेवन द्वारा उत्तम दशा को प्राप्त नहीं हो पाता । तथा वक्रव्रती आदि ब्राह्मण दाताओं की अपेक्षा अधिक पापी होता कि दाताओं के ऋण का भार अपने ऊपर करके किसी धर्म का सेवन न करता हुआ अपने लिये नरक के हेतु अधर्म का ही संचय करता है । इस से जो ब्राह्मण लोग अपनी शुभ गति चाहते हैं उन को वगुलावृत्ति और धन बटोरने की अपारतृष्णा को छोड़ना और धर्मानुकूल शुद्ध आचरण तथा सन्तोष के साथ अपना निर्वाह करना चाहिये ॥२००॥

परकीयनिपानेषु नस्नायाच्चकदाचन ।

निपानकर्त्तुःस्नात्वात् दुष्कृतांशेनलिप्यते ॥

[सप्तोद्धृत्यततःपिण्डान् कामंस्नायाच्चपञ्चवा ।

उदपानात्स्वयंग्राहाद्वहिः स्नात्वानदुष्यति ॥]

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणिच ।

अदत्तान्युपभुञ्जान एनसःस्यात्तुरीयभाक् ॥

नदीषुदेवखातेषु तडागेषुसरस्सुच ।

स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्त्तप्रस्त्रवणेषुच ॥२०३॥

अ०--अन्यैर्यन्निपानं वाप्यादिकं स्वार्थमेव खानितं तत्र न स्नायात् । निपानकर्त्तरि यादृशं दुष्कृतं तादृशदोषेण स्नाता लिप्यते । वस्तुतस्तु निपानकर्त्रा कलहवैमनस्यादिर्दोषः । अत्रैव सप्तोद्धृत्येत्याद्येकं पद्यं क्वचिदधिकमुपलभ्यते ।

अस्य परस्य यानादीनि स्वस्माद्भदत्तान्युपभुञ्जानस्तदीयपा-
पस्य चतुर्थांशभागी भवति । सति सम्भवे सन्निहितेषु शु-
द्धोदकेषु च सत्सु देवखातादिष्वेव स्नातको नित्यं स्नाया-
न्नतु कूपे लपोदकेनेति ॥

भा०-गृहस्थेन स्वस्य स्नानादिकर्मणाप्यन्यस्यानुपकारो दुःखं
वा न स्यात्तथाऽनुष्ठेयम् । अन्यदीययानादीनां चौर्येण स्वी-
यकरणापेक्षयात्र त्रयांशं पापम् । अन्यदीयवस्तुना तदाज्ञा-
मन्तरेण स्वकार्यनिस्तारणमप्येकविधं स्तेयमेव । यत्र रविर-
श्मयः स्पृशन्ति तदुदकं कूर्पायपेक्षया शुद्धं शुभगुणाकरं चेत्या-
युर्वेदिनां मतम् । तस्मादेव देवखातादिषु स्नानमुचितम् ॥२०३॥

भाषार्थः—(च) और (परकीयनिपानेषु) अन्य किसी ने वाउली तलाव
आदि जलाशय अपने कार्यार्थ बनाये हों वा जिन जलाशयों में स्नान करने की
मनाई ही उन में (कदाचन न स्नायात्) कदापि स्नान न करे (स्नात्वात्)
उन में स्नान करने से (निपानकर्तुर्दुष्कृतांशेन लिप्यते) जलाशय बनवानेवाले
के क्रोधादि पापांश से लिप्त होता है अर्थात् जलमें आया रोग दोष लगता
और लड़ाई ऋगड़ा होने से द्वेषादि दोष लगता है । इसी के आगे (सप्तोद्-
धृत्य०) इत्यादि एक श्लोक किसी २ पुस्तक में अधिक लिखा मिलता है जिसका
अर्थ—[यदि अन्य के जलाशय में किसी कारण स्नान करना ही चाहे तो सात
वा पांच पिण्ड मट्टी निकाल के और उसमें से अलग जल भर के बाहर भलेही
स्नान करलेवे] पर इसपर टीका किसी का नहीं इसकारण किसी २ पुस्तक
वाले ने ऊपर से लिखलिया होगा । (अस्य यानशय्यासनानि कूपोद्यानगृहाणि च)
अन्य किसी के सवारी, खटिया, आसन—कुर्सी चौकी आदि, कुआ, वाग और
घरों के (अदत्तानि) विना सांगे वा विना आज्ञा लिये (उपभुञ्जानः) अपने
काम में लाता हुआ (एनसस्तुरीयभाक् स्यात्) स्वामी के वा चोरी के अपराध
में से चतुर्थांश का भागी होता है । अर्थात् चोरी करने वाले से चतुर्थांश न्यून
उसपर यानादि के स्वामी का क्रोध होगा (नदीषु देवखातेषु) नदियों वा अ-
ग्नि पृथिवी आदि की स्वाभाविक प्रवृत्ति से बने बड़े २ जलाशयों (तडागेषु स-

रश्चु च) तलावों झीलों सरोवरों (गर्त्तप्रस्रवणेषु च) और गहरे झरनों में (नित्यं स्नानं समाचारेत्) नित्य ही स्नान करे किन्तु बड़े २ शुद्ध निर्दोष जलाशयों के निकट होने पर कुवे से निकाले थोड़े जल से न नहावे ॥

भा०-गृहस्थ के स्नानादि कर्म से भी अन्य को अनुपकार वा दुःख न पहुंचे वैसे काम सदा करे। अन्य के यानादि को चुराके अपने बनालेने की अपेक्षा इस में चतुर्थांश पाप कहा है। अन्य के वस्तु से उसकी आज्ञालिये विना अपना काम निकालना भी एक प्रकार की चोरी ही है इसी कारण स्तेय का चतुर्थांश अपराध कहा जानो। जिस जल में सूर्य के किरण पड़ते स्पर्श करते हैं वह जल कूपादि गुप्त रहनेवाले जल की अपेक्षा शुद्ध और शुभगुण युक्त होता है यह आयुर्वेद का मत सुश्रुत के सूत्रस्थानस्थ जलवर्ग में लिखा है इसी कारण देवखातादि में स्नान करना उचित-वा लाभकारी है ॥ २०३ ॥

यमान्सेवेतसततं ननित्यंनियमान्बुधः । यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥२०४॥

[आनृशंस्यंक्षमासत्य महिंसादममस्पृहा ।

ध्यानंप्रसादोमाधुर्य मार्जवंचयमादश ॥

अहिंसासत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्पता ।

अस्तेयमितिपञ्चैते यमाश्चोपवृतानिच ॥

शौचमिज्यातपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ ।

व्रतोपवासौमौनंच स्नानंचनियमादश ॥

अक्रोधोगुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।

अप्रमादश्चनियमाः पञ्चैवोपवृतानिच ॥]

अ०-गृहस्थोऽहिंसादीन्यमान्सर्वदा नित्यमेव सेवेत शौचादिनियमांस्तु रोगादिविघ्नाभावएव सेवेत। स्वपुत्रादिरक्षणाय धनादावसति विशिष्टं सन्तोषमकृत्वा धनमप्युपार्जयेत्। यमरहितकेवलनियमसेवनेन धर्मस्य प्रधानांशात्पतति ॥

भा० अत्र चत्वारि पद्यानि केषुचिदेव पुस्तकेषु दृश्यन्ते
तेषां विशिष्टोऽर्थः प्राकृते द्रष्टव्यः । याज्ञवल्क्यस्मृतौ तु—
“ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्ध्यानं सत्यमकल्कता । अहिंसा स्ते-
यमाधुर्यं दमश्चेति यथाः स्मृताः ॥ स्नानं मौनोपवासेज्या-
स्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः । नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाऽ
प्रमादता ॥” धर्मांशेषु यमानां नियमापेक्षया प्राधान्यम् ।
गृहस्थस्य ब्रह्मचर्यं पर्वतिथिष्वनृतौ गर्भकाले च स्त्रीवर्जनं
वेदाभ्यासश्च तत्तु सदा नियमेनैवानुष्ठेयम् । नियमेषूपस्थ
निग्रहपरिगणनं सर्वकालार्थं तच्च गृहस्थेन न कार्यम् । स-
र्वथैव फलाधिक्यादिना यमसेवने नित्यविधिः । रोगादि-
काले नियमसेवनासम्भवाच्च नियमेषु विकल्पः । स्वस्थेन
तु यमान् प्रधानीकृत्य नियमा अपि यथासम्भवं सेव्याएव ॥

भाषार्थः—(बुधो यमान्सततं सेवेत) विचारशील बुद्धिमान् विद्वान् अहिं-
सादि यमों का निरन्तर सर्वदा सेवन करे (नियमान्नित्यं न) शौचादि नियमों
का नित्य सेवन न करे अर्थात् रोगादि दशा में शौच स्नानादि छोड़ सकता वा
छोड़ने पड़ते ही हैं । जैसे निर्वाहार्थ धनादि के न होने पर गृहस्थ सन्तोष किये
बैठा रहे तो भोजनाच्छादन भी प्राप्त न हों इस से अधिक सन्तोष न कर के
धर्मानुकूल धन का उपार्जन करे । यम रहित केवल नियम का सेवन करने पर धर्म
के प्रधानांश तथा उस के फल से पतित हो जाता है ॥

भा०—यहां (आनृशंस्यं०) आदि ४ श्लोक किहीं २ पुस्तकों में अधिक दीखते हैं उन
का संक्षेप से अर्थ—(आनृशंस्यं क्षमा सत्यम्) मनुष्यों को न दुखाना, सहन शील
होना, सत्य बोलना (अहिंसादममस्पृहा) हिंसा का त्याग, इन्द्रियों को जी-
तना लालच छोड़ना (ध्यानं प्रसादो माधुर्यम्) विचारशील होना, प्रसन्न र-
हना, कठोरता का त्याग (आर्जवं च यमा दश) और कोमलता ये दश यम कहाते
हैं तथा (अहिंसासत्यवचनम्) हिंसा का त्याग सत्य बोलना (ब्रह्मचर्यमकल्पता)

ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्य सस्वन्विनी असमर्थता का त्याग (अस्तेयमिति पञ्चैते यज्ञा-
 ओपव्रतानि च) और चोरी का त्याग ये पांच यम और उपव्रत भी कहाते हैं
 (शौचमिज्या तपो दानम्) शुद्धि, यज्ञ, तप, दान देना (स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ)
 वेदाध्ययन वा ऋषियज्ञ और व्यभिचार तथा वेश्यागमनादि का त्याग (व्रतो-
 पवासौ मौनं च) नियमधारण, उपवास करना तथा मौन रहना (स्नानं च नि-
 यमा दश) और स्नान करना ये दश नियम कहाते हैं (अक्रोधो गुरुशुश्रूषा)
 क्रोध का त्याग, गुरु की सेवा (शौचमाहारलाघवम्) शुद्धि, स्वल्प आहार (अप्र-
 मादश्च नियमाः) और भूल-वेहोशी का छोड़ना ये (पञ्चैवोपव्रतानि च) पांच
 नियमों सस्वन्वी उपव्रत कहाते हैं । परन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति में (ब्रह्मचर्यं दया
 क्षान्तिः) ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, (ध्यानं सत्यमकल्कता) विचारशीलता, सत्यभाषण,
 सावधानता (अहिंसाऽस्तेयमाधुर्यं) हिंसा और चोरी का त्याग, कोमलता (दम-
 श्चेति यमाः स्मृताः) और इन्द्रियों का दमन करना ये दश यम कहाते तथा
 (स्नानं मौनीपत्रासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः) स्नान करना, मौन रहना, उपवा-
 स, यज्ञ, वेदाध्ययन वा जप और व्यभिचार का त्याग, (नियमा गुरुशुश्रूषा शौचा-
 क्रोधाप्रमादता) गुरुसेवा, शुद्धि, क्रोध, का और भूल का त्याग ये दश नियम क-
 हाते हैं । पूर्वोक्त और इन में बहुत थोड़ा भेद है । योग शास्त्र में कहे यम नि-
 यमों से जो कोई इन में अधिक हैं वे उन में किसी २ के अन्तर्गत माने जावेंगे
 जैसे दया क्षमा, दोनों अहिंसा में आसकें गी इस कारण मूल वा मुख्य यम नि-
 यम वे ही हैं जो योग में कहे हैं यह सब उन्ही का व्याख्यान है । योगाङ्ग और
 धर्म एक ही हैं भिन्न २ नहीं । पर धर्मांशों में यम प्रधान वा मूल हैं । यम के
 विना नियम नहीं हो सकते पर नियम के विना यमों का सेवन ही सकता है ।
 पर्वतिथि, ऋतु से भिन्न और गर्भस्थितिकाल में स्त्री का त्याग और वेदाभ्यास
 ही गृहस्थ का ब्रह्मचारी होना माना जायगा । ऐसे यमों का सेवन नियम से
 ही करे ॥ और नियमों में उपस्थनिग्रह कहना सब काल के लिये है उस को गृह-
 स्थ न करे । सर्वथा ही फलकी अधिकता होने आदि कारण से यम के नित्य सेवनकी
 आज्ञा है और रोगादि के समय शौचस्नानादि नियमों का सेवन असम्भव होने
 से नियमों में विकल्प है परन्तु स्वस्थदशा में यमों को प्रधानमान कर नियमों का
 भी सेवन अवश्य करे ॥ २०४ ॥

नाश्रोत्रियततेयज्ञे ग्रामयाजिकृतेतथा ।
 स्त्रियाक्लीबेनचहुते भुञ्जीतब्राह्मणःक्वचित् ॥
 अश्लीकमेतत्साधूनां यत्रजुहुत्यमीहविः ।
 प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥
 मत्तक्रुद्धातुराणांच नभुञ्जीतकदाचन ।
 केशकीटावपन्नंच पदास्पृष्टंचकामतः ॥
 भ्रूणघ्नावेक्षितंचैव संस्पृष्टंचाप्युदक्यया ।
 पतत्रिणावलीढंच शुनासंस्पृष्टमेवच ॥२०८॥

अ०-अवेदज्ञेनारब्धे, ग्रामस्य समुदायस्य याजनपरेण कृते च यज्ञे निमन्त्रितोऽपि ब्राह्मणः स्वस्य महत्त्वं रक्षयन् न भुञ्जीत । अश्लीकमश्रीकरमशोभनमेतत् साधूनां धर्म-कर्मसाधकानाम् । नच साधारणानां विशिष्टलाभहेतुकम् । स्वदेहस्थशुद्धान्यादितत्त्वदेवानामिन्द्रियाणां च प्रतीपं प्रतिकूलं तुच्छत्वप्रवेशेन महत्त्वशुद्धत्वरूपदेवत्वस्य बाधकम् । मत्तादीनां प्रमादादिदोषदूषितमन्त्रम् । भ्रूणहपदं महापात-किनामुपलक्षकम् । उदक्या-रजस्वला, पतत्रिः शकुनिः ॥

भा०-एषामन्नं लघुतोत्पादकमशुद्धं च मनसो ग्लानि-करत्वाद् धर्मबाधकमधर्मकरं चेति न भोक्तव्यम् । क्वचि-च्चाश्रोत्रिये मत्तादौ वाऽवेदज्ञत्वं मत्तत्वादिकं च कथनमात्रं न तादृशदोषावहं बहुज्ञत्वे शुभगुणाधिक्ये च सतितेषामश्रो-त्रियादिपदैः परिगणनं लोके सदपि परीक्षकशास्त्रेष्वर्थतो न तेषामश्रोत्रियादित्वमिति ॥ २०८ ॥

भाषार्थः—(अश्रीत्रियतते यज्ञे) वेद को न पढ़ने वा जानने वाले किसी नाममात्र के पण्डित मानी दोगी ब्राह्मणादि ने आरम्भ किये (ग्रामयाजिकते तथा) बहुत समुदाय को एक साथ यज्ञ कराने में तत्पर ब्राह्मण ने किये (स्त्रिया लीवेन च हुते) और किसी स्त्री वा नपुंसक ने आरम्भ किये यज्ञ में (ब्राह्मणः क्वचिन्न भुञ्जीत) स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण निमन्त्रण पाने पर भी अपने म-हरव की रक्षा करता हुआ कभी भोजन न करे (यत्रामी हविर्जुहुति) जिस यज्ञ में वे धर्म का मर्म न जानने वाले अवेदज्ञ आदि लोग हविष्य पदार्थों का होम करते हैं वहां (साधूनामशीकमेतत्) श्रेष्ठ वेदज्ञ धर्मनिष्ठ प्रतिष्ठित विद्वानों का सामिल हो कर भोजन करना अशोभित वा अनुचित इस कारण है कि (एतद्वेवानां प्रतीपम्) अपने शरीर में अग्न्यादि शुद्ध तत्त्वांशों से बने मन और उस के वृत्तिभेद जो इन्द्रियशक्तिरूप देव हैं [जिन के शुद्ध देवत्व से वह वेदज्ञ धर्मनिष्ठ पुरुष देव पदब्रह्मचर्य होता है] उन के प्रतिकूल वैसा भोजनादि होता है अर्थात् निकृष्टों के साथ मेल से उस के मनआदि में सङ्गदोष द्वारा ग्लानि होती है (तस्मात्तत्परिवर्जयेत्) तिस से वैसें निकृष्टों के यज्ञ-ब्रह्मभोजादि में भोजन न करे (मत्तक्रुद्दातुराणां च) उन्मादरोगी वा नशावाज, क्रोधी और रोगादि द्वारा पीड़ित मनुष्यों का भी (कदाचन न भुञ्जीत) कदापि भोजन न करे (केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः) जिस में वाल वा कोई कीड़ा पड़ गये हों ऐसे तथा समझ पूर्वक जिस में किसी ने पांवलगा दिया पांव से छुवा हो ऐसे पके हुए अन्न को गृहस्थ न खावे (भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव) ब्रह्महत्यादि महापातक करने वाले किसी महापापी ने जिस अन्नको अच्छे प्रकार दृष्टिडाल के देखा हो (संस्पृष्टं चाप्युदक्यया) तथा रजस्वला स्त्री ने जिस को सम्यक् छुवा हो (पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च) जिस में से किसी पक्षी ने चोंच लगा कर खालिया हो वा जिस को कुत्ता ने छुआ हो ऐसे पकाये हुए अन्न को गृहस्थ कभी न खावे ॥

भा०—वेद को न जानने वाले आदि का अन्न खाना तुच्छता का हेतु, अशुद्ध और मन में ग्लानि करने वाला है। तथा धर्म का बाधक और अधर्म का वर्द्धक है इस से न खावे और किसी अवेदज्ञ वा मत्तादि में वेद का न जानना व मत्त-पागल होना आदि दोष कथनमात्र का ही किन्तु ऐसा न हो कि मत्तादि में परिगणन किया जाय तो उन के यहां भोजन करना दोषकारी न होगा किन्तु

बहुत ज्ञानी और गुणों की अधिकता होने पर लोक में उन का अश्रोत्रियादि के साथ परिगणन होने पर भी परीक्षक शास्त्रों में यौगिक सामान्यार्थ से वे अश्रोत्रियादि नहीं गिने जावेंगे अर्थात् शास्त्रकार का अभिप्राय निरुद्धों के सङ्ग दोष से बचाने का है सो जहां कोई वेद को साक्षात् न जानने पर भी नाममात्र अविद्वान् हो और संस्कारों की प्रबलता वा शुभ सत्सङ्गादि से सब समझता हो उस के यहां भोजन में दोष न होगा ॥ २०८ ॥

गवाचान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नंचविशेषतः ।

गणान्नंगणिकान्नंच विदुषांचजुगुप्सितम् ॥

स्तेनगायनयोश्चान्नं तद्वर्णोवार्धुषिकस्यच ।

दीक्षितस्यकदर्यस्य बद्धस्यनिगडस्यच ॥

अभिषस्तस्यषण्ढस्य पुंशुचल्यादाग्भिकस्यच ।

शुक्तंपर्युषितंचव शूद्रस्योच्छिष्टमेवच ॥

चिकित्सकस्यमृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ।

उग्रान्नंसूतिकान्नंच पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥

अनर्चितंवृथामांस-मवीरायाश्चयोषितः ।

द्विषदन्नंनगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ॥

पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणास्तथा ।

शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्थान्नमेवच ॥

कर्मारस्यनिषादस्य रङ्गावतारकस्यच ।

सुवर्णकर्तुर्वर्णस्य शस्त्रविक्रयिणास्तथा ॥

श्ववतांशौण्डिकानांच चैलनिर्णोजकस्यच ।

रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ।

अनिर्दशं च प्रेतान्न-मतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥

अ०=घुष्टान्नं=कोभोक्तेत्युद्घुष्य दीयमानम्, दीक्षितस्य यज्ञदीक्षामाप्तस्य, कर्दर्यस्य--कृपणस्य, निगडस्य--अयोमयबन्धेन हस्तादिषु बद्धस्य, अभिशस्तस्य पापाधिक्रयेण लोके निन्दां प्राप्तस्य, शूद्रभोजनानन्तरं यदवशिष्टम्, शूद्रकन्यायां क्षत्रियाज्जात उग्रस्तस्यान्नम्, यत्र केषुचिद् भुज्यमानेष्वन्यः पर्याचामति तदन्नम्, सूतिकान्नं सूतिकोद्देशेन पक्कम्, अनिर्दशं-दशाहाभ्यन्तरे सूतकिगृहान्नम्, अनर्चितमवमानपुरस्सरं दत्तम्, वृथामांसमधर्महिंसादोषदुष्टं मांसम्, अवीरायाः पतिपुत्ररहितायाः स्त्रिया अन्नम् । नगर्यन्नं नगरस्वामिनोऽन्नम्, अवक्षुतं यस्योपरि केनापि, मूल्यमादाय क्रतुफलं यो विक्रीणीते तस्यान्नम्, कर्मारस्य लोहकारस्य, रङ्गावतारकस्य भाण्डादेः, वेणुस्य वेणुपिटकादिजीविनो वेणुवादनशीलस्य वा, मृगयाद्यर्थञ्चपोषिणाम्, शौण्डिकानां मद्यजीविनाम्, चैलनिर्गोजकस्य वासोधावकस्य, नृशंसस्य निर्दयस्य, यस्य च गृहे पत्युरज्ञात उपपतिर्जारस्तस्य, ये च जारं जानन्तोऽपि सहन्ते तेषाम्, स्त्रीभिर्जितानां च पुंसामन्नम्, दशदिनात्पूर्वं प्रेतान्नम्, सुगममन्यत् ॥

भा०--यद्यप्यामान्नेऽपि कथंचित्सङ्गदोषाः प्रविशन्ति तथापि तदपेक्षया पक्वान्ने दोषाणामाधिक्रयेणासञ्जनमिति कृ-

त्वाऽत्र प्रकरणे पक्वान्नप्रतिषेध एव ग्रन्थकर्त्तुरिष्टः । शुक्तमित्यादिसाहचर्याच्च । यथा सुगन्धदुर्गन्धौ सर्वत्र सन्निहितवस्तुनि लगन्ति तद्वद्गवादीनामुपाघ्राणादिसंयोगेन तस्मिंस्तस्मिन्नन्ने तेते दोषा आयान्ति । चन्दनवृक्षसन्निधावन्येऽपि वृक्षाः सङ्गजन्यगुणेन चन्दनवद्भवन्ति । पुरीषागारस्थं मिष्टं शुभमप्यन्नं पुरीषवदेवाशुद्धं सङ्गदोषेण मन्यते धीमद्विस्तथैवात्र पवित्रधर्म्याचरणवता स्नातकेन तत्तत्सङ्गदोषेणाल्पदूषितमप्यन्नमनादेयम् । परिगणनं चात्रोपलक्षणार्थमेव विज्ञेयं नचैषां परिगणितानामेवान्नं त्याज्यमपित्वीदृशानामेभ्यो हीनानां च सर्वेषामेवान्नं न भोक्तव्यं स्नातकेनेति । अन्यत्रवन्मात्राबोधस्त्वत्रापि कर्त्तव्यएव । तथा च सति स्तेनगायनादित्वं कथमपि सर्वत्र भवितुमर्हति न तेन तेनाल्पेन कर्मणा ते ते स्तेनादिपदवाच्या भवन्ति प्रधानार्थं शब्दप्रयोगात् । तस्माद्गवोपाघ्राणादिदोषालोचनानन्तरमेव तस्यतस्यान्नादेर्ग्रहणं त्यागश्च कार्यइति । येनाशयेन कस्यापि प्रतिषेधो विधिर्वा शास्त्रकृता प्रदर्शितस्तदाशयं सम्यग्बुद्धवता क्वचिद्ब्राह्मणादेरप्यन्नादिकं त्याज्यमेवं च क्वचिदाभासमात्रनिकृष्टस्यापि ग्राह्यमिति प्रयोजनस्यैव प्राधान्यम् । तच्चैतन्न लोकवृत्तं वर्त्तत वृत्तिहेतोः कथंचनेत्यनेनसहमतमुपन्यस्तंमयेतिबोधयंतत्त्वालोचनपरैरिति॥२१७॥

भाषार्थः—(गवाचान्नमुपाघ्रातम्) जिस अन्न को गौ आदि पशु ने सूंघलिया हो (घुष्टान्नं च विशेषतः) जिस के लिये ऊंचेस्वर से अनेक मनुष्यों के समक्ष कहा गया हो कि इस को कौन खावेगा ३ ? (गणान्नंगणिकान्नं च) अनेक अच्छे बुरे मनुष्यों के चन्दा से बनाया अन्न तथा वेश्या का अन्न (विदुषांचजुगुप्सितम्)

यह सब विद्वान् ब्राह्मण को खाना विशेष कर निन्दित है (स्तेनगायनयोश्चान्त्रम्) चोर, गवैश्या (तक्षणोवार्धुषिकस्य च) बढई, व्योहरा (दीक्षितस्य कर्दर्यस्य) यज्ञ में दीक्षा को प्राप्त हुए यजमान का यज्ञ समाप्ति से पूर्व, कृपण-कंजूस (बहु-स्यनिगडस्य च) हतकड़ी, बेड़ी डाल बांधे गये [कैदकिये कैदी] (अभिशस्त-स्यषण्डस्य) महापातकादि अधिक पाप करने के कारण लोक में निन्दा को प्राप्त हुए नवकू, नपुंसक, (पुंश्रलया दास्मिकस्य च) व्यभिचारिणी, दम्भी इन सब का अन्न तथा (शुक्तं पर्युषितं चैव) धरे रहने से खटाया, वासी (शूद्रस्यो-च्छिष्टमेव च) शूद्र के खाने पश्चात् बचा अलग भी धरा (चिकित्सकस्य मृगयोः) वैद्य-डाक्टर-हकीम, शिकारी (क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः) क्रूर कुटिल, उच्छिष्ट शेष बचे को खानेवाला रसोइया आदि (उप्रान्नं सूतिकान्नं च) तथा क्षत्रिय पु-रुष से शूद्र की स्त्री में उरपन्न हुए उग्र नामक वर्णसंकर का अन्न सूतिका स्त्री के लिये बनायागया अन्न (पर्याचान्तमनिर्दशम्) जिस भोजन की पांति में किसी ने आचमन कर लिया ही वहां का अन्न तथा जिस घर में सन्तानोत्पत्ति हुई ही उस घर में बना दश दिन से पूर्व का अन्न (अनर्चितं वृथामांसम्) अनादर अपमान के साथ प्राप्त हुआ अन्न तथा हिंसारूप अधर्म दोष से दूषित मांसरूप अन्न (अवीरायाश्च योषितः) जिस के पति वा पुत्र कोई न हो ऐसी विधवा स्त्री का अन्न (द्विषदन्नं नगर्यन्नम्) शत्रु का और नगर के स्वामी कोटपाल वा जमींदार अथवा कलक्टर आदि का अन्न (पतितान्नमवक्षुतम्) जाति आदि से जो कुकर्मी पतित किया गया हो उस का अन्न और जिस पर किसी ने झोंक दिया ही ऐसा अन्न (पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा) चुगली कर-ने और समझ पूर्वक झूठ गवाही देने आदि मिथ्याभाषी तथा मूर्ख लेकर य-ज्ञ के फल को बँचने वाले का अन्न (शैलूषतुन्नवायान्नम्) नट, दर्जी (कृतघ्न, स्यान्नमेव च) और कृतघ्न का अन्न (कर्मारस्य निषादस्य) लुहार तथा जाल के द्वारा जीवों को पकड़ने वाले (रङ्गावतारकस्य च) भांड वा जागा आदि (सु-वर्णकर्तुर्वैणस्य) सुनार, वा वांश की पिटारी आदि बना के जीविका करने वा वांसुरी बजाने के स्वभाववाले (शस्त्रविक्रयिणस्तथा) वाण आदि शस्त्र बनाने बँचने वाले (श्ववतां शौण्डिकानां च) सिकार आदि के लिये कुत्ता पालने वाले, मद्य बनाने बँचने पीने वाले (चैलनिर्णैजकस्य च) कपड़ा धोने वाले धोवी (रञ्जकस्य नशंसस्य) रंगरेज, निर्देयी (यस्यचोपपतिर्गृहे) जिस के घर में

पुरुष के अज्ञान में कोई जार आता ही (मृष्यन्तियेचोपपत्तिम्) जो लोग अपनी स्त्री के पास आते हुए जार की जानते हुए भी सहते हैं उन का (स्त्रीजितानां च सर्वशः) स्त्रियों के वश में रहने वालों का अन्न (अनिर्देशचप्रेतानम्) दश दिन से पूर्व मृत्युहोने वाले घर का अन्न और (अतुष्टिकरमेव च) जिस के भोजन से सन्तोष वा तृप्ति न हो ऐसा शुष्क आदि अन्न को स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खावे ॥

भा०—यद्यपि कच्चे अन्न में भी निकृष्ट वस्तु के संग से कुछ २ दोष प्रविष्ट होते हैं तथापि उस की अपेक्षा पकाये अन्न में अधिक दोष लगते हैं इस कारण इस प्रकरण में पकाये हुए अन्न का खाना विशेष कर निषेध किया गया है किन्तु कच्चे सूखे अन्न को सब से लेने का निषेध नहीं है [इस से यह भी सिद्ध है कि निर्दोषी अन्य शुद्ध वर्णों का भी पकाया भोजन ब्राह्मणादि पूर्व काल में खाते थे] जैसे सुगन्ध दुर्गन्ध समीपस्थ वस्तु में सर्वत्र लगते हैं उसी के तुल्य गौ आदि के सूँघने आदि संयोग से उस २ अन्न में वे २ दोष आते हैं । चन्दनवृक्ष के समीप में अन्य वृक्ष भी सङ्ग से लगे गुण से चन्दन के तुल्य सुगन्धित हो जाते हैं । पाखाने में धरा गया शुद्ध मीठा पकान्न भी विष्टा के तुल्य अपवित्र हुआ बुद्धिमानों में माना जाता है वैसे यहां भी धर्मानुकूल पवित्र आचरण करने वाले स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण को उस २ के अल्पदोष से भी दूषित अन्न को नहीं खाना चाहिये । और यहां त्याज्य अन्नों का परिगणन उपलक्षणार्थ ही है अर्थात् इन परिगणितों का ही अन्न केवल त्याज्य नहीं है किन्तु ऐसे अन्यों का वा इन से भी नीचों का अन्न स्नातक को त्याज्य है । और अन्यत्र के समान यहां भी मात्रा का बोध होना आवश्यक है । ऐसा होने पर चोरी और गाना कुछ न कुछ सर्वत्र हो सकता है परन्तु उस २ छोड़े चोरी आदि कर्म से चोरादि पदवाच्य वे २ सब नहीं होते क्योंकि प्रधानार्थ में शब्दों का प्रयोग सर्वत्र दीखता है कि जो २ अधिककर चोरी आदि काम करता है वही २ चोरादि कहाता है । तिस से गौ आदि के सूँघने आदि दोष का आलोचन करके ही कि किस २ में दोष प्रधान होने से अन्न त्याज्य है । जिस अभिप्राय से किसी का विधि वा निषेध शास्त्रकार ने दिखाया है उसी आशय को सम्यक् जान कर कहीं ब्राह्मणादि का भी [जिन का अन्न त्याज्य नहीं कहा गया] अन्न त्याज्य होगा और कहीं कहनेमात्र वा देखनेमात्र निकृष्ट का भी अन्न ग्राह्य हो सकेगा इस कारण प्रयोजन ही प्रधान है ॥ २१७ ॥

राजान्नन्तेजश्चादत्ते शूद्रान्नब्रह्मवर्चसम् ।
 आयुःसुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्त्तिनः ॥
 कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णैजकस्य च ।
 गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥
 पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्
 विषठावाद्धृषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम्
 यएतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्त्तिताः ।
 तेषां त्वगं स्थिरो माणि वदन्त्यन्नमनीषिणः ॥

[अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयः स्मृतम् ।

वैश्यान्नमन्नमित्याहुः शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम् ॥]

भुक्त्वाऽतो न्यतमस्यान्न-ममत्याक्षपणं न्यहम्
 मत्या भुक्त्वा चरेत्कच्छूं रेतो विणमूत्रमेव च ॥
 नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।
 आददीताममेवास्मा-दवृत्तावेकरात्रिकम् ॥

[चन्द्रसूर्यग्रहो नद्या-दद्यात्स्नात्वा तु मुक्तयोः ।

अमुक्तयोरगतयो-रद्याच्चैव परेऽहनि ॥]

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्द्धुषेः ।
 मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥
 तान् प्रजापतिराहैत्य माकृध्वं विषमंसमम् ।
 श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥-२२५॥

अ०—अतएषां मध्येऽन्यतमस्य कस्यापि ज्ञानमन्त-
रेणान्नं भुक्त्वा त्र्यहं क्षपणमुपवासः कार्यः । जानन् भुक्त्वा
रेतोविण्मूत्रमपि ज्ञानतोऽज्ञानतो वा भुक्त्वा कृच्छ्रनामकं
व्रतं चरेत्कुर्यादिति प्रायश्चित्तम् । अश्राद्धिनः शूद्रस्य प-
क्वान्नं विद्वान् द्विजो नाद्यात् । श्रद्धासम्पन्नशुद्धभावस्य ध-
र्मनिष्ठस्य सच्छूद्रस्य तु पक्वान्नं विद्वानप्यद्यादिति—अवि-
द्वान् द्विजस्तु श्रद्धारहितस्य शूद्रस्य पक्वान्नमद्यादिति चा-
र्थादापन्नं बोध्यम् । श्रद्धारहिताच्छूद्रादन्यतः प्राप्तावसत्याः
मेकाहक्षत्प्रतीकारप्रयोजनमात्रमन्नमेवाददीत द्विजो वि-
द्वान् । कदर्यस्य कृपणस्य श्रोत्रियस्य, वदान्यस्य श्रद्धालो-
र्दानशीलस्य वृद्धिजीविनश्च द्वयोरेतयोरन्नं देवाः पूर्वजा
धर्मपरायणा विज्ञा विप्रा मीमांसित्वा गुणदोषसाम्यात् स-
ममकल्पयन् निरूपितवन्तः । तान् देवान् प्रजापतिः—प्रजा-
पालकः कश्चिद्राजाऽऽगत्याह—यूयं विषमं समं माकृद्व्वम् । व-
दान्यस्य वार्द्धुषेरन्नं श्रद्धया पूतं पवित्रमस्ति । इतरत्कृ-
पणान्नमश्रद्धया हतं विनष्टगुणमधमम् । स्पष्टमन्यत्सर्वम् ॥

भा०—राजपदमत्र यौगिकं सामान्यार्थपरम् । तेन स्वतोऽ-
धिकराजमानस्य ग्रामाधिपादेः प्रभविष्णोरन्नभोजनं तेज
आदत्ते भोक्तुर्ब्राह्मणस्य तेजस्तत्सन्निधौ तिरोभवति । ते-
जःक्षयात्तुच्छत्व आगते धर्म्यकर्मानुष्ठानोत्साहो व्याहन्यते ।
यथा कालिन्ना शुक्लत्वमशुद्धया च शुद्धिरादीयत एवं ब्रह्मव-
र्चसाद्विरुद्धेन शूद्रत्वेन ब्रह्मवर्चसरूपं ब्राह्मण्यं हन्यते । सुवर्ण-
स्तेयं महापातकं तच्च तेनान्यापेक्षयाधिक्येन क्रियते दु-

राचाराश्च सर्वे एवायुषो नाशकाः । महापातकिगतदोषाश्च त-
दन्नभोजनादिसङ्गेनान्यस्मिन्नायान्त्येव, चर्मावकर्त्तिनश्चर्म-
कारस्यान्नं लोकेऽप्यशोहेतुकं स्फुटमेव । कारुकाः शिल्पि-
नो वृक्षादिसन्ततिं निघ्नन्ति तेषामन्नं सङ्गश्च सन्तानोत्पा-
दनशक्तिहासकरम् । निर्गोजकः प्रक्षालनादिकर्मणा वाससां
स्वस्य च बलं विघातयति तस्मात्तदन्नेन साकं भोक्तरि
सएव गुणाः शनैःशनैः प्रविशति । गणागणिकयोरन्नमुत्तम-
स्थानप्राप्तेरधः पातयति यथा क्षौद्रादौ सक्ता मक्षिकोपरिष्ठा-
दुड्ढयितुमशक्ता जायते । चिकित्सकस्य पूयनिस्सारणादि-
कर्मणि लग्नस्य तादृशविचारवतस्तत्तद्भावदुष्टमन्नं पूया-
दिवद् भवतीत्याशयः । वादुषिकः सदा वृद्धिमेव चिन्तयति
वृद्धिश्च मूलापेक्षया मूले शरीरे पुरीषवदेवास्ति । शरीराव-
यवेषु मलमपि शस्त्रविक्रमिणि हिंसादिसहयोगित्वमलव-
देव चिन्त्यम् । तद्वावदूषितं च तदन्नम् । अन्येषां च त्वग-
स्थिरोमाणीवान्नं दूषितं बोध्यम् । अत्रैवैकं पदं पश्चाद् धृ-
तं क्वचित्पुस्तकउपलभ्यते विशिष्टस्तस्यार्थः प्राकृतेऽवलोक्य-
कयः । अप्राद्विनइति महायज्ञादिधर्म्यकर्माभावोपलक्षणार्थं
वचस्तेन यत्रतत्रोच्यमानः शूद्रस्यानधिकारः प्रायकोऽवग-
न्तव्यः । प्रायेणैवच शूद्रपदवाच्या मलिनाचारा मन्दमतयः
शुभं कर्मानुष्ठातुमशक्ताः श्रद्धादिरहिताएव लोकेऽवलोक्य-
न्ते मतिमद्भिः । यस्तु कोऽपि शुद्धाचारो धर्म्यमतिः श्रद्धादि
समन्वितः शुभं कर्मानुष्ठातुमर्हति न तदर्थाऽनधिकारइत्ये-
तदत्राप्राद्विनइति वदतेङ्गितेन सूचितम् । दशमाध्याये चैत-

देव स्पष्टं वक्ष्यति । “धर्मैस्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः । मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च” ॥ अत्र मन्त्रवर्जमिति पदं निकृष्टकुलजन्यदोषेण कथमपि दूषिते सच्छूद्रेऽपि सर्वथा सर्वदा निरतिशयशुद्धवेदाशयावगमाशक्तिद्योतनार्थमितीक्षणीयम् । एवं च विद्यातपोभ्यां हीने शुभाचारवर्जिते च ब्राह्मणे धर्मैस्सौ धर्मज्ञे सद्वृत्तानुष्ठातरि शूद्रे च साम्यं प्रायेणावगन्तव्यम् । क्वचित्तादृशो ब्राह्मणः क्वचिच्च शूद्रे वा गुणकर्मवैशारद्यप्राबल्येन विशिष्टोऽधिकृतो मन्तव्यस्तस्मात्साधारणाग्रजन्मवदेव सच्छूद्रस्यापि पक्वान्नं धर्मनिष्ठब्राह्मणेन भोक्तव्यमित्यश्राद्धिनः पदस्यार्थापत्त्या निस्सृतं बोध्यम् । अस्यग्रेऽप्येकं पद्यंक्वचिदधिकमुपलभ्यते व्याख्यातं चान्तिमवृत्तिकाररामचन्द्रेण । श्रद्धापूतं ~~वदान्प्रस्येति वदता श्रद्धाया धर्ममूलत्वं विज्ञापितं तच्च श्रद्धिति निरन्तरं धारणमेव धर्मइत्यर्थेनान्वर्थमेव । वृद्धिः वनं च वैश्यधर्मा यस्मिन् वृद्धिजीविनि श्रद्धाऽस्ति स श्रद्धारहितान्नास्तिककल्पपाद्वेदविदो विप्रादपि वरइति शास्त्रबोधमात्रापेक्षया दानादिधर्माचरणस्य प्राधान्यमत्र ग्रन्थकृता स्वस्य सिद्धान्तो विज्ञापितः ॥ २२५ ॥~~

भाषार्थः—(राजानं तेज आदत्ते) इन्द्र नामक विद्युत् का तेज सब से अधिक तीव्र वा चञ्चल होता है. उस तेज की प्रधानता राजा में होती है और जिस २ के समीपस्थ वा जिस २ का जो २ वस्तु अन्नदि होता है उस २ में उस २ राजादि का गुण दोष भी संग से लगता है तथा प्रबल सजातीय निर्बल सजातीय को सदा ही दबाता है इस कारण राजा का अन्न खाने से ब्राह्मण का तेज घटेगा वा संकुचित होगा वा राजा का तेज ब्राह्मण के तेज को लेलेगा. (शूद्रानं

ब्रह्मवर्चसम्) शूद्र के मलिनाचार विचार से सम्बन्ध रखने वाले अन्न को खाने से ब्राह्मण का ब्रह्मतेज घटेगा क्योंकि देन लेन व्यवहार में सर्वत्र ही दाता उत्तम उत्तमर्ण और भोक्ता वा प्रतिग्रहीता अधम वा अधमर्ण होता है। इस से शूद्रान्न खाने वाले ब्राह्मणों का तेज शूद्र के मलिन शूद्रपन से घटता दबता प्रत्यक्ष भी लोक में दीखता है (आयुः सुवर्णकारान्नम्) सुनार का अन्न आयु को क्षीण करता और (यशश्चर्मावकर्त्तिनः) चमार का अन्न कीर्त्ति को हटा कर जगत् में अपयश फैलाता है (कारुकान्नं प्रजां हन्ति) कारीगर का अन्न सन्तानोत्पत्ति की शक्ति को नशाता क्षीण करता है (निर्णोजकस्य बलं च) धोबी का अन्न बल को घटाता (गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिक्रन्तति) अनेक नीच ऊँचों के समुदाय का तथा वेश्या नाचने वाली का अन्न उत्तम लोक वा स्थानों की प्राप्ति से हटाता और उन्हीं २ निकृष्टों की ओर ब्राह्मण को गिरता झुकाता है। [अर्थात् ब्राह्मण जिस २ समुदाय का अन्न खाता है प्रायः उसी २ की ओर झुकता वैसे ही उस के आचार विचार होते जाते हैं इसी से धर्मालुकूल उच्च कक्षा को प्राप्त होने का बाधक उस २ का अन्न हो जाता है। और राजादि का अन्न जितने ही अधिक दिनों तक खाता है वा दानादि लेता है उतनी २ अधिक और जितना २ कम खाता लेता है उतने २ कम तेज आदि की हानि होती है। इस के अन्तर्गत राजाहनादि नाना प्रकार का न्यूनाधिक माना जायगा] (पूयं चिकित्सकस्यान्नम्) चिकित्सक-वैद्य डाक्टरादि का अन्न खाना पीव के समान होगा (पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्) व्यभिचारिणी को सदा उपस्थेन्द्रिय का ध्यान रहता इस से उस का अन्न इन्द्रिय के तुल्य दूषित होता (विष्टा वार्धुषिकस्यान्नम्) व्याज सूद लेकर जीविका करने वाले का अन्न विष्टा के तुल्य होता (शस्त्रविक्रयिणो मलम्) शस्त्र बेचने बनाने वाले मनुष्य का अन्न शरीर पर निकलने वाले अन्य मल के तुल्य बुरा होता है (यएतेऽन्येत्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्त्तिताः) जिन का भोजन नहीं करना चाहिये ऐसे जो अन्य क्रम से पूर्व कहे गये हैं (तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः) उन के अन्न को पूर्वज विचारशील विद्वान् लोग त्वचा, हड्डी और लोमों को खाने के तुल्य निकृष्ट कहते हैं [इस से पूर्व विधिवाक्यों और इन अर्थवादों में जहां २ सामान्य अन्न का निषेध और निन्दा दिखायी है वहां २ सर्वत्र ही सजे अन्न के दानों में कम उस से अधिक आटा में और उससे भी अधिक पकाये हुए रोटी आदि अन्नमें

दोष होगा । और दान लेने मात्र से जहां तेज की हानि आदि दिखाना अ-भीष्ट है वहां २ कच्चे अन्न के लेने में भी वैसा पूरा ही दोष लगेगा । अर्थात् हाथ आदि से आटा गूंदने आदि कर्म से लगने वाला दोष कच्चे में कम और पके अन्न में अधिक आवेगा । इसी के अनुसार राजा के रसोइया का बनाया वा कच्चा अन्न धनादि लेना सभी ब्राह्मण के तेज को तिरोभूत करने वाला होगा] (अतोऽन्य-तमस्यामत्यान्नं भुक्त्वा) इन पूर्व कहे राजादि में से किसी का अन्न विना जाने गृहस्थ खाले तो (त्र्यहं क्षपणम्) तीन दिन उपवास रूप प्रायश्चित्त करे (मत्या भुक्त्वा रेतो विण्मूत्रमेव च) और समस्त पूर्वक खालेवे तथा वीर्य, विष्टा और मूत्र को ज्ञान से वा अज्ञान से खालेवे तो (रुच्छं चरेत्) ग्यारहवें अध्याय में कहा रुच्छ नामक सात दिन का व्रत करे (द्विजो विद्वान्) वेद शास्त्र की म-र्यादा को जानता हुआ ब्राह्मण (अत्राद्विनः शूद्रस्य पक्वान्नं नाद्यात्) अद्वार-हित शूद्र के पक्वान्न को न खावे किन्तु (अवृत्तौ) अन्य किसी से प्राप्त न ही और अन्न के विना पीडित हो तो (एकरात्रिकमाममेवास्मादाददीत) एकदिन के भोजनमात्र के लिये कच्चा ही अन्न शूद्र से लेलेवे (ओत्रियस्य कदर्यस्य) कृपण कंजूस अद्वारहित किसी वेदपाठी (वदान्यस्य च वार्दुषेः) और दान शील अद्वालु व्याज सूद लेकर जीविका करने वाला (देवा उभयं मीमांसित्वा) पूर्वज धर्मपरायण विचारशील विद्वान् महर्षियों ने उक्त दोनों के अन्न की स-मालोचना करके (सममन्नमकल्पयन्) अन्न के गुण दोषों की तुल्यता देखकर समान कहा है (प्रजापतिस्तानेत्याह) प्रजापालक न्याय व्यवस्था करने वाला कोई राजा उन देवताओं के निकट आकर बोला कि (विषमं समं मा कृद्वम्) तुम लोग विषम को सम मत करो [अद्वा रहित वेदपाठी का और अद्वालु सूद लेने वाले का अन्न विषम है बराबर नहीं है (अद्वापूतं वदान्यस्य) व्याज लेने वाले अद्वालु दानशील का अन्न अद्धारूप मुख्य धर्माभूत से धोया हुआ पवित्र है (ह-तमश्रद्धयेतरत्) और वेदपाठी का अन्न अश्रद्धारूप नास्तिकता वा मुख्य अधर्म से निकष्ट गुणों वाला विनष्ट अधम है ॥

भा०—यहां राज शब्द यौगिक सामान्यार्थ बोधक लेना चाहिये । इस-कारण अपने से अधिक धनादि संपत्ति वा प्रभुतादि से प्रकाशमान तेजस्वी, जमींदार, सरदार ताल्लुकेदार छोटे वा बड़े राजा रईस कहाने वाले का अन्न भोजन करने वाले ब्राह्मण के तेज को दबाने वाला है । और तेज के क्षीण

होने से तुच्छता आजाने पर धर्मानुकूल निःशुद्ध सत्य बोलने आदि कर्म के अनुष्ठान का उत्साह बिगड़ जाता है। जैसे कालापन से श्वेत वर्ण, वा जैसे अशुद्धि से शुद्धि नष्ट होती उस में मिलके श्वेत और शुद्ध भी काला वा अशुद्ध ही बनजाता इसी के अनुसार ब्रह्मतेज से विरुद्ध शूद्रपन के साथ अधिक फसावट से ब्राह्मणपन अधिक नष्ट होजाता है। सुवर्ण का चुराना महापातक इस कारण है कि तुच्छ वस्तु के चुराने में जैसे स्वामी को कम हानि वा उस को कम दुःख होता इसी से वहां कम अपराध होता और बहु मूल्य वा अत्यन्त प्रिय वस्तु के चुराने नष्ट करने से स्वामी को अधिक दुःख पहुंचता है इसी से वहां चोर को अधिक पाप लगता है सो अन्यों की अपेक्षा स्वर्णकार सुवर्ण को अधिक चुराता इस से वह महापातकी हुआ। और दुराचार सभी आयु के नाशक हैं, दुराचारी का अन्न खाने से चोरी आदि काम में साथ करने वाला होजाता है इस कारण सुवर्णकार का अन्न आयु को हानि पहुंचाने वाला है। अर्थात् महापातक में वर्तमान दोष उस का भोजन करने आदि द्वारा अन्य में आजाते हैं। और चर्मकारों का कच्चा अन्न भी लोक में स्पष्ट ही अपकीर्ति का कारण होता है [जो ब्राह्मण चमार आदि नीचों के पाधा पुरोहित बनते हैं वे नीच निन्दित माने जाते हैं] बड़ई आदि कारीगर वृक्षादि को काट २ उन की सन्तति को नष्ट करते हैं। उन के अन्न को खाने वा सङ्ग करने वाले में भी सन्तति को नष्ट करने वा न रहने देने का स्वाभाविक गुण न्यूनधिक आता है। धोवी वस्त्र धोने आदि कर्म से वस्त्रों के और अपने बल को नष्ट करता है इस से उस के अन्न के साथ वही गुण अन्न खाने वाले में धीरे २ आता है। समुदाय और वेश्याओं का अन्न उत्तम स्थानों वा पदार्थों की प्राप्ति से नीचे २को इस कारण गिराता है कि नीचों के साथ मेल करने से नीच बुद्धि वा संस्कार होते तदनुसार आगे २ नीच काम करके नीचही बनत जाता है उत्तम दशा की ओर नहीं चल पाता। जैसे कि शहद आदि में फसी मक्खी ऊपर को नहीं उड़सकती। पीव निकालने फोड़ा चीरने आदि काम में लगे (वैसे विचार वाले) डाक्टर वैद्य के उस २ भाव से दूषित अन्न पीवादि के तुल्य होता है। सूद लेने वाला सदा व्याज लेने वा धनवृद्धि की चिन्ता करता है और मूल धन की अपेक्षा व्याज सूद, मूल शरीर में विषा के समान ही है। शरीर के अवयवों में निकलने वाले मूल के समान ही शस्त्र वेंचने वाले में हिंसादि संबन्धी मानस मूल भी होता है उस भाव से दूषित उस का भी अन्न

जानो । इसी २२१ श्लोक के आगे एक श्लोक किसी २ पुस्तक में अधिक मिलता है उस का अर्थः (अमृतं ब्रा०) ब्राह्मण अन्न अमृत, क्षत्रिय का अन्न दूध के तुल्य वैश्य का अन्न, अन्न, और शूद्र का अन्न रुधिर के तुल्य होता है] २३ श्लोक में कहा "अत्रादिनः पद" पञ्चमहायज्ञादि धर्मानुकूल कर्मों के अभाव दिखाने के लिये है इस से जो २ शूद्र को वेद वा धर्म का अनधिकार कहा गया है वह २ सब प्रायः अधिकांश के लिये जानो किन्तु सर्वांश में शूद्रमात्र को अनधिकार नहीं है क्योंकि शूद्र कहाने वाले मनुष्य मलिनाचरणी, मन्दमति, शुभ कर्म का अनुष्ठान करने में असमर्थ और अज्ञा विश्वास रहित ही लोक में अन्यो की अपेक्षा अधिक होते वा विद्वानों को दीखते हैं । और जो कोई शूद्राचरणी धर्मानुकूल बुद्धि वाला अज्ञादि युक्त और शुभ कर्मों का सेवन करने योग्य शूद्र होता वा होसकता है उस अधिकारी के लिये यज्ञादि धर्म का अनधिकार नहीं यह विचार अत्रादिनः पद कहते हुए ग्रन्थकार ने इङ्कित चेष्टित से जताया है । और दशमाध्याय में स्पष्ट कहेंगे कि "धर्माभिलाषी, धर्मज्ञ और श्रेष्ठाचरण वाले शूद्र के लिये वेद छोड़ के अन्य सभी धर्म कर्मों का अधिकार है" यहां निकृष्ट कुल के शुक्रशोणित सम्बन्धी दोष से किसी प्रकार दूषित हुए सत् शूद्र में भी सब प्रकार सब काल में अत्यन्त शूद्र वेदाशय को समझने की ठीक शक्ति का न होना "मन्त्रवर्ज" पद से दिखलाया है । इस प्रकार विद्या और धर्म कर्म से रहित तथा पाप कर्म भी न करने वाले ब्राह्मण में तथा धर्मज्ञ सदाचारी धर्माभिलाषी शूद्र में प्रायः समता रहेगी अर्थात् ऐसे ब्राह्मण को भी वेद का अधिकार नहीं होगा । और कहीं वैसे ब्राह्मण वा कहीं सत् शूद्र गुण कर्मों की निर्मल प्रबलता से विशेष अधिकारी मानना चाहिये । इस कारण साधारण ब्राह्मण के समान ही सत् शूद्र का पक्वान्न भी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण को यथावसर खालेना चाहिये यह अत्रादिनः शब्द की अर्थोपपत्ति से निकलता है । इस २२३ श्लोक के आगे भी एक श्लोक किसी २ पुस्तक में प्रक्षिप्त किया मिलता है उस का अर्थः—(चन्द्रसूर्यग्रहे०) सूर्य चन्द्रमा पर ग्रहण पड़ा ही तब न खावे पर ग्रहण हट जावे तब स्नान कर के भोजन करे और ग्रहण का मोक्ष हुए बिना ही सूर्य चन्द्रमा अस्त हो गये हों तो अगले दिन भोजन करे ॥ उक्तपद्य का अर्थ सब से पिछले टीकाकार पं० रामचन्द्र ने भी किया है । अदुलु का अन्न अज्ञा से पवित्र है ऐसा कहते हुए ग्रन्थकार ने अज्ञा को धर्म का मूल जताया है सो निरन्तर धारण का नाम अज्ञा होने से अज्ञा का परिष्ठा-

स ही धर्म है। व्याज लेके जीविका करना वैश्य का धर्म है। जिस सूद लेके जीविका करने वाले में अद्वा होती वह अद्धारहित नास्तिक के तुल्य वेदज्ञानी ब्राह्मण से भी बड़ा वाश्रेष्ठ है इस प्रकार केवल शास्त्र का बोधमात्र होने की अपेक्षा दानादि धर्म के सेवन की श्रेष्ठता और प्रधानता है यह सिद्धान्त जानो ॥२२५॥

अद्दुयेष्टं च पूर्त्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।

अद्दुाकृते ह्यक्षयते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥२२६॥

अ०-इष्टं श्रौतं दर्शपौर्णमासादियागं, पूर्त्तं दानधर्मादिकं सर्वं धर्मं कर्मातन्द्रितः अद्दुया नित्यं कुर्यात् स्वागतैर्धर्म्योपायेनागतैर्धनैः अद्दुया कृते ते कर्मणी अक्षये भवतः सम्यक् चेतसि योगात् ॥

भा०-यत्किमपि निरन्तरमविचलं स्थाप्यते तदेव चिरस्थायि सद्वहुकालावधि शुभफलं प्रयच्छति। यच्च अद्दुारहितेनान्यमनस्केन किमपि क्रियते तच्च संस्कारवासनादिरूपेण न चिरं दृढं तिष्ठति कुतः पुनः फलं प्रयच्छेत् ॥२२६॥

भाषार्थः-(अतन्द्रितः) निरालस हुआ गृहस्थ पुरुष (इष्टं च पूर्त्तं च नित्यं अद्दुया कुर्यात्) दर्शपौर्णमासादि श्रौत कर्म और दान धर्मादि स्मार्त्त सब धर्मानुकूल कर्म नित्य ही अद्दुा के साथ लग के करे (हि स्वागतैर्धनैस्ते अद्दुाकृते अक्षये भवतः) क्योंकि धर्मानुकूल उपाय से उपार्जन किये अन्न धनादि से अद्दुा के साथ किये वे दोनों प्रकार के कर्म चित्त के साथ ठीक मेल करलेने से चिरस्थायी दीर्घकाल तक फल देने वाले होते हैं ॥

भा०- जो कुछ निरन्तर तथा दृढता से स्थापित किया जाता है वही चिरस्थायी हुआ बहुत काल तक शुभ फल देता है। और जो अद्दुा रहित अन्यत्र मन लगाने वाला कुछ काम करता है वह संस्कार वासनादिरूप से चिर काल तक दृढता से नहीं ठहरता तब फल कहां से देवे ! ॥ २२६ ॥

दानधर्मनिषेवेत नित्यमैष्टिपौर्त्तिकम् ।

परितुष्टेनभावेन पात्रमासाद्यशक्तित् ॥

[पात्रभूतोहियोविप्रः प्रतिगृह्यप्रतिग्रहम् ।

असत्सुविनियुञ्जीत तस्मैदेयंनकिञ्चन ॥१॥

संचयंकुरुतेयस्तु प्रतिगृह्यसमन्ततः ।

धर्मार्थेनोपयुङ्क्तेच नतंतस्करमर्चयेत् ॥२॥]

यत्किंचिदपिदातव्यं याचितेनानसूयया ।

उत्पत्स्यतेहितत्पात्रं यत्तारयतिसर्वतः ॥

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः ।

तिलप्रदःप्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥

भूमिदोभूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ।

गृहदोऽश्याणिवेश्मानि रूप्यदोरूपमुत्तमम् ॥

वासोदश्चन्द्रसालोक्य-सशिवसालोक्यमश्वदः ।

अनडुहूःश्रियंपुष्टां गोदोब्रध्नस्यविष्टपम् ॥

यानशय्याप्रदोभार्या-मैश्वर्यमभयप्रदः ।

धान्यदःशाश्वतंसौख्यं--ब्रह्मदोब्रह्मसाष्टिताम

सर्वेषामेवदानानां-ब्रह्मदानंविशिष्यते ।

वार्यन्नगोमहीवास-स्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥

येनयेनतुभावेन-यद्यद्दानंप्रयच्छति ।

तत्तत्तेनैवभावेन-प्राप्नोतिप्रतिपूजितः ॥२३४॥

अ०—ऐष्टिकमिष्टिसंबद्धं दानधर्मं पौर्त्तिकं च ततोऽन्य-
त्रापि स्नातकः परितुष्टेन भावेन शक्तितो यथाशक्ति नित्यं

सेवेत । अत्रैव पद्मद्वयं पश्चात्केनापि धृतम् (पात्रभूत०) इत्यादिकमुपलभ्यते । यत्किञ्चिदन्नवसनादिकं याचितेनानसूयया अद्भुयैव दातव्यम् । तच्च धर्मरूपं दानं दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितं दृढतरं बहुमूलं सत् पात्रं पालकमेवोत्पत्स्यते यत्सर्वतो दुःखसागरात्तारयति । उदकादीनां दानशीलस्तस्यतस्य समुचितमेव तृप्त्यादिकं फलमाप्नोतीति सर्वत्र योज्यम् । येनयेन भावेन सत्त्वादिस्थेन चेतसा यद्यद्दाति तेनतेन भावेन तादृशेनैव चित्तेन तत्तत्फलमाप्नोति ॥

भा०-अत्र सादृशकपद्ये विधिः शेषे चार्थवादाः । त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । तस्य दानस्य च गृहाश्रमे प्राधान्यमन्यत्र देयवस्तुसंग्रहाभावात् । वारिणि पीते तृप्तिरेव जायते तेन पिपासयाऽपीडनमेवोदकदानस्य प्रधानं फलं तृप्तिरेव । अन्नस्योपयोगात्क्षुधार्त्तस्य यः परः प्रसादस्तत्रैव विशेषेण सुखपदस्य व्यवहारः । सुखायैव सर्वे प्राणिनोऽहर्निशं यतन्ते । विशिष्टं च सुखमन्नाधीनमिति कृत्वाऽन्यापेक्षयाऽन्नाप्रयएवाधिक्येन सर्वे धावन्ति । अतएव व्यतिरेकेऽन्नाभावे यादृशं दुःखं न तादृशमन्यालाभे केऽपि मन्यन्ते । भुक्तमन्नं च रसादिधातुरूपेण परिणतं सद्ग्यावज्जीवं शरीराङ्गं भूत्वा तिष्ठतीदमेवान्नस्याक्षय्यं सौख्यं फलमवसेयम् । तिलेषु च प्रजननशक्तिः प्रधाना यत्र वामानामृतुकाली निरुध्यते सन्तत्यभावश्च दृश्यते तत्रायुर्वेदिकाः स्त्रियास्तिलखादनमादिशन्ति । तिलखादनेनार्त्तवं प्रवर्त्तते सन्तानोत्पत्तिश्च तदा सम्भवत्येव मात्राबोधस्तु दाने खा-

दनादौ च सर्वत्रैव कार्यएव । स्नेहप्रधानास्तिलाः स्निग्धं
 प्रियं चापत्यं सर्वस्येष्टम् । सर्वत्रैव सति कारणे कार्यमुत्प-
 द्यते तिलाश्चान्यापेक्षया सन्ततेः प्रधानं कारणम् । दृश्यद-
 र्शने प्रदीपोद्गमत्तएव केवलेन चक्षुषा प्रदीपेन वा रूपं नोप-
 लभ्यते । सूर्यादयश्च योगार्थेन भवन्त्येव प्रदीपपदवाच्यास्तेन
 यः प्रकाशं दर्शनाङ्गं ददाति स प्रकाशमेव लभते यथा गा-
 लिप्रदातारोऽन्येभ्यो गालिमेवाप्नुवन्ति प्रियवादिनश्च प्रियमेव
 शृण्वन्त्यन्येभ्यः । हिरण्यं चायुषो बर्द्धकमायुर्वेदे प्रसिद्धम् ।
 “वचाघृतं सुवर्णं च विल्वचूर्णमिति त्रयम् । मेध्यमायुष्य-
 मारोग्यं पुष्टिसौभाग्यवर्द्धनम् ॥ ” यथा कूपो जलं ददाति
 तत्रान्यमुदकमितस्तत् प्रागत्य संचीयते तथैव यो यद्दा-
 ति तदभ्याशे तदेवाधिक्येनायाति स तदेवाकर्षति च संस-
 र्गश्च तेन सह तस्याधिकएव जायते संसर्गेण च तत्तद्गुणाः
 सङ्गिन्याविशन्त्येव । येन यस्मै यद्दीयते स स्वभावेनैव त-
 स्मै तदेव दातुमुत्सहते । यथा कृषिजीविनो वपनकाले पृ-
 थिव्या अन्नं ददति सा च ततोऽधिकतरं तदेवान्नमुत्पाद्य
 ददाति कृषीबलाय, एवं च यो जनः कमपि प्रियं यादृशमन्नं
 भोजयति स तादृशमेव स्वस्य भोजयितारं भोजयितुं मनः
 कुरुतइति चराचरे संसारे नियमएव दृश्यते । तद्वदत्रापि
 सुवर्णदात्रे सुवर्णमेवेह जन्मान्तरे चान्ये सूक्ष्मसंस्कारसंस्कृ-
 ता ददति । रूपप्राधान्यादेव रूप्यत्वम् । चन्द्रमसि च यद्गुरूपं
 तच्च मुख्यं रूपपदवाच्यम् । अतएव चन्द्रमुखीणामेवाधि-
 क्येन रूपवतीत्वं ऋग्यो भणन्ति । चन्द्ररूपं सोमतत्त्वमेव

रूप्ये मुद्रारूपेऽपि प्रधानमतः सामान्येन रूपप्रधानवस्तुदानशीलो दातोत्तमं रूपमाप्नोति । वाससां शुक्लत्वं प्रधानं स्वाभाविकं कर्पासतूलजत्वादेव । शुक्लत्वं च सोमस्यैकान्तिको गुणोऽतस्तादृशशीलश्चन्द्रलोकसुखमश्नुते । अश्वदश्चाश्वस्य देवताद्वन्द्वप्रधानत्वात्तल्लोकजं सुखं परत्राप्नोति । अनडुहि वृष्यरूपा पुष्टिः प्रधाना श्रीश्रान्नाद्युत्पादनद्वारेण । गोदश्च गवि सूर्यतत्त्वप्रधानत्वत्तादृशलोकसुखं सोऽश्नुते । ब्रह्मदो वेदस्याध्यापकः स्वयमन्येन वा ब्रह्मणः समान-ऋष्टितां गतिं शुद्धत्वमुक्तत्वादिरूपमाप्नोति । ब्रह्मदानस्यैव सर्वदुःखमात्राद्विमुक्तिः सर्वस्मादुत्तमं फलमतोऽन्यदानापेक्षया ब्रह्मदानं विशिष्टमवगन्तव्यम् । येनयेन दृढेन शुद्धेन, मध्यमेनाधमेन वा सत्त्वादिगुणस्थेन चेतसा दाता यद्यद्वस्तु ददाति तस्य तादृशमेवोत्तमं मध्यममधमं वा फलमवसेयम् । मात्राबोधः संसर्गजन्यफलावाप्तिश्च पूर्ववदत्र सर्वत्रैव धर्मशास्त्रतत्त्वं जिज्ञासुभिर्याज्या ॥ २३४ ॥

भाषार्थः—(ऐष्टिकपौर्त्तिकम्) इष्टि यज्ञ वा होमसम्बन्धी और सदावर्त्त लगाने आदि द्वारा अन्न, जल धन वस्त्रादि के (दानधर्मम्) दान धर्म का (प-रितुष्टेन भावेन) शुद्धं सन्तुष्ट चित्त से (पात्रमासाद्य शक्तितो नित्यं निषेवेत) सुपात्र को अन्वेषण द्वारा प्राप्त कर यथाशक्ति स्नातक गृहस्थ नित्य सेवन करे । इसी के आगे दो श्लोक पीछे किसी ने प्रक्षिप्त किये हैं जिनका अर्थः—[(यो हि विप्रः पात्रभूतः प्रतिग्रहं प्रतिगृह्य) जो ब्राह्मण सुपात्र होने पर भी दान लेकर (असत्सु विनियुञ्जीत) निरुष्ट मनुष्यों को देवे वा नीच कामों में लगावे (तस्मै देयं न किञ्चन) ऐसे पुरुष को दान कुछ भी कभी न देवे । (यस्तु समन्ततः प्रतिगृह्य संवयं कुरुते) जो पुरुष सब प्रकार सब किसी नीच ऊंच से दान ले कर

धनादि पदार्थ जोड़ता है (धर्मार्थं च नोपयुङ्क्ते) और दान लिये हुए धनादि को धर्म कार्यों में नहीं लगाता (तं तस्करं नार्थयेत्) उस चोर सुपात्र विद्वान् का भी दान द्वारा पूजन न करे] (याचितेन यत्किञ्चिदप्यनसूयया दातव्यम्) किसी अन्य ब्राह्मण सुपात्र के मांगने पर जो कुछ समीप हो उस में से थोड़ा भी अन्न वस्त्रादि अपमान न कर के प्रसन्नता के साथ आदर से देवे किन्तु दयाहीन बन के सर्वथा नकार न करे (तरपात्रं ह्युत्पत्स्यते) वह दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार से सेवन किया थोड़ा २ भी दानधर्म दाता का रक्षक पालक भविष्यत् में शुभफल रूप से अवश्य प्रकट होगा (यत्सर्वतस्तारयति) जो सब ओर से आनेवाले दुःख सागर से पार कर देता है (वारिदस्तृप्तिमाप्नोति) प्याऊ आदि द्वारा जल का दान करने वाला जल से होने वाली तृप्ति को प्राप्त होता (अन्नदोऽक्षयं सुखम्) अन्न नाम बने पके भोजन वा आटा सीधादि का प्रायः दान देनेवाला अविनाशी सुख को पाता (तिलप्रद इष्टं प्रजाम्) तिलों का दान बार २ देने वाला अभीष्ट सन्तानों को (दीपद उत्तमम् चक्षुः) दीपकादि के प्रकाश द्वारा अनेकों को सुख पहुंचाने वाला उत्तम चक्षु को (भूमिदो भूमिमाप्नोति) भूमि को देने वा ठहरने के लिये धर्मशालादि बनवाने वाला भूमि को वा अश्वे २ स्थानों ठाहरों को प्राप्त होता है (हिरण्यदो दीर्घमायुः) सुवर्ण का दान देनेवाला दीर्घायु को पाता (गृहदोऽरयाणि वेश्मानि) घरों का दान करनेवाला उत्तम २ घरों सहलों को पाता (रूप्यद उत्तमं रूपम्) रूपयों का दान करने वाला उत्तम रूप को प्राप्त होता (वासीदश्चन्द्रसालोक्यम्) वस्त्रों का दान करने वाला चन्द्र लोक सम्बन्धी सुख को प्राप्त होता (अश्विसालोक्यमश्वदः) घोड़ों का दान करने वाला सूर्यचन्द्रमा, स्वर्ग पृथिवी, वा दिन राति आदि दो २ के दोनों सुखों को साथ ही प्राप्त होता (अनडुदः पुष्टं श्रियम्) वैलों का दान करने वाला पुष्ट दूह स्थायिनी लक्ष्मी वा शोभा को (गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम्) गौ का दान करने वाला सूर्य लोक के सुख को प्राप्त होता (यानशय्याप्रदो भार्याम्) सवारी रथ आदि तथा उत्तम खट्वादि शय्या का दान करने वाला उत्तम स्त्री को प्राप्त होता (अभयप्रद ऐश्वर्यम्) अभय दान देने वाला ऐश्वर्य को पाता (धान्यदः श्वाश्वतं सौख्यम्) दानरूप धान्यान्न का राशि आदिरूप से दान करने वाला निरन्तर सनातन सुख को (ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम्) ब्रह्म नाम वेद का निष्कारण दान देने सम्यक् पढ़ाने सत्य २ वेदाशय का उपदेश करनेवाला पुरुष परमात्मा के लुप्त्य शत्रुबुद्धमुक्तरूप होता है (सर्वेषामेव दानानां वार्य-

जगोमहीवासस्ति लकाञ्जनसर्पिषाम्, ब्रह्मदानं विशिष्यते) पूर्व कहे जल अन्न, गौ, वस्त्र, तिल, सुवर्ण, घृत आदि वस्तुओं के सब दानों में वेदविद्या का दान सब से उत्तम है (येनयेन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति) जिस २ प्रकार की भावना विचार वा चिन्त से जिस २ वस्तु का दान गृहस्थ देता है (तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः) उस २को उसी भाव से स्तुकार पूर्वक प्राप्त हो जाता है ॥

भा०—यहां डेढ़ श्लोक में विधिवाक्य और शेष पद्यों में दान संबन्धी प्रशंसा रूप अर्थवाद हैं। छान्दोग्यब्राह्मणोपनिषद् में लिखा है कि “यज्ञ, वेदाध्ययन, और दान देना ये मुख्य कर धर्म के तीन बड़े २ भाग हैं” और उस दान धर्म की गृहाश्रम में प्रधानता इस से है कि अन्याश्रम में देने योग्य अन्न धनादि वस्तुओं का संग्रह ही नहीं होता। जल की प्यास लगी हो तब जल के पीने वा मिलने पर जो सुख होता वही तृप्ति कहाती है। इस कारण जल मिलने के बिना पीड़ित न होना ही जल दान का प्रधान फल तृप्ति ही है। जल का दान करने वाले के समीप जल का आवागमन अवश्य ही रहेगा और समीप रहने से उस के अभाव में होने वाला दुःख भी उस को न होगा। तथा जल देने के स्वभाव वाले के अन्य लोग भी जल के द्वारा ही तृप्त करने की चेष्टा स्वयमेव करेंगे यह एक स्वाभाविक नियम है। क्षुधार्त्त-भूख से दुःखित पुरुषको अन्न मिलने से जो अधिक प्रसन्नता होती है उसी में विशेष कर सुख पद का व्यवहार होता है। सुख के लिये ही सब प्राणी दिन रात प्रयत्न करते हैं और सुख का अधिक भाग अन्न के आधीन है ऐसा मानकर अन्य वस्तु प्राप्त करने की अपेक्षा अन्नप्राप्ति के लिये ही अधिकता से सब प्राणी वा अप्राणी दौड़ते वा चेष्टा करते हैं। इसी कारण अन्न के न मिलने पर जैसा दुःख प्राणियों को होता वा वे मानते हैं वैसा अन्य वस्तु के न मिलने पर नहीं मानते। और खाया हुआ अन्न रसादि धातुओं के रूप से परिणाम को प्राप्त हुआ शरीर का भाग बन के जीवन पर्यन्त ठहरता है वही अन्न का अक्षय सुख फल होना जानो। और तिलों में प्रजनन शक्ति मुख्य है। इसी से जहां स्त्रियों का ऋतुमती होना रुकता है और इसी से सन्तान भी नहीं होते वहां सुश्रुतादि आयुर्वेदी लोग स्त्री को तिल खिलाने की आज्ञा देते हैं। प्रधान चिकित्सा ग्रन्थों में ऐसा लेख स्पष्ट मिलता है। तिल खिलाने से ऋतुकाल होता यह अनुभूत विषय है और तब ऋतुकाल होने पर सन्तानोत्पत्ति भी प्रायः अन्य किसी प्रबल रुकावट के न होने पर होती ही है। परन्तु दान देने और तिल खाने आदि प्रत्येक काम में मात्रा का बोध तो

होना ही चाहिये । जैसे पैसा भर अन्न का खाना भी कुछ भी न खाने की अपेक्षा खाना माना जायगा । परन्तु सेर भर खाने वाले को पैसा भर अन्न इतनी कम क्षुधा की शान्ति करेगा जो न खाया माना जाय । इसी के अनुसार तिलों का थोड़ा कभी कहीं दान और कभी पैसा धेला भर तिलों का खालेना वैसा उपकारी न होगा जिस को सफल हुआ कहा जाय । तिलों में चिकनाई स्नेह गुण प्रधान है । और स्निग्ध प्रिय लावण्यादि गुण युक्त ललित दर्शनीय सन्तान सब को इष्ट होता है । चिकनाई स्निग्धता ही दर्शनीय होने का कारण है । कारण गुण कार्य में आता और कारण के ठीक होने पर ही कार्य होता है और अन्य कारणों की अपेक्षा सन्तानोत्पत्ति के प्रधान कारण तिल हैं । इस प्रकार तिलदाता में तिलों का प्रधान गुण धीरे २ बढ़ता वा अन्यो के द्वारा आता है जिस का परिणाम अभीष्ट सन्तति होती है । घटपटादि दृश्य को देखने में प्रदीप अङ्ग वा रूप बोध के साधन का एक भाग है । इसी कारण केवल चक्षु वा केवल दीपक से रूप का बोध नहीं होता । सूर्यादि भी यौगिक अर्थ से प्रदीप पदवाच्य माने ही जायेंगे इस कारण जो देखने के अङ्ग प्रकाश को देता है उस को प्रकाशरूप उत्तम चक्षु ही मिलते हैं । जिस से देखें वह चक्षु इस अर्थ से दीपक को भी चक्षु और जो दिखावे जतावे प्रदीप प्रसिद्ध करे वह दीपक इस अर्थ से चक्षु को भी दीपक मान सकते हैं क्योंकि दोनों तेजस हैं । जैसे गाली देने वाले लोग अन्य से गाली ही पाते हैं और प्रिय कोमल सत्य हित बोलने वाले भी अन्यो से वैसा ही वचन सुनते वा अन्य भी उन से वैसा ही बोलते हैं । सुवर्ण आयु को बढ़ाने वाला आयुर्वेद में प्रसिद्ध है कि « वचासाधितधी, सुवर्ण और विल्वचूर्ण ये तीनों बुद्धि, आयु, आरोग्य पुष्टि और सौभाग्य को बढ़ाने वाले हैं » सुवर्ण सार होने से स्वयं भी विरस्थायी वा दीर्घायु है इसी कारण खाने वा पास रखने से आयु को बढ़ाता है । जिस में जो गुण होता उस के सङ्ग से वही गुण सङ्गी में आया करता है । जैसे कुआ जल को देता तो उस में इधर उधर से आकर अन्य जल संचित होजाता वैसा ही जो जिस वस्तु का दान लोभादि त्याग के धर्म बुद्धि से करता है उस के समीप अधिकता से वही वस्तु आता अथवा वह उसी को खेंचता है इस कारण उस के साथ उस का मेल भी अधिक ही होता है और मेल से उस २ के गुण सङ्ग करने वाले में प्रविष्ट होते ही हैं । जो जिस को जिस वस्तु का दान करता वह स्वभाव से ही उस दाता को वही वस्तु देने का उत्साह करता है । जैसे किसान

लोग वीने के समय पृथिवी को अन्न देते और वह पृथिवी उसी अन्न को दिये से भी बहुत अधिक उरपन्न करके किसान को देती है। इसी प्रकार जो मनुष्य जिस को जैसा अन्न भोजन कराता है वह जैसे ही अन्न से अपने भोजन कराने वाले को भोजन कराने के लिये चेष्टा करते इस प्रकार चराचर संसार में यह नियम ही दीखता है। उसी के अनुसार यहां भी सुवर्ण दाता के लिये इस जन्म और जन्मान्तर में सूक्ष्म संस्कारों से संस्कृत प्रतिग्रहीता लोग सुवर्ण ही देते हैं। रूप की प्रधानता से ही रूप्य-रूपया कहाता, चन्द्रमा में जो रूप है वही मुख्यरूप शब्द का वाच्यार्थ है। इसी कारण चन्द्रमुखी सुन्दरी स्त्रियों को ही मुख्य कर कवि लोग रूपवती कहते मानते हैं क्योंकि वेद में लिखा है कि «सोमो गौरी अधिश्रितः» सोमतरव रूप चन्द्रमा गौरी स्त्रियों में अधिक ठहरा है। चन्द्रमा रूप सोमतरव ही रूपया में प्रधान है इस से सामान्य कर रूपप्रधान रूपया-दि वस्तुओं का दान शील दाता पुरुष उत्तम रूप को प्राप्त होता है। कपास और रुई से उरपन्न होने के कारण वस्त्रों में शुक्लता रूप प्रधान वा स्वाभाविक है। अन्य कृत्रिम रंग छूटने पर पुनरपि वस्त्र श्वेत ही निकल आते। और शुक्लता सोम का ऐकान्तिक गुण है इस से रूप प्रधान वस्तुओं का दान शील पुरुष चन्द्र लोक सखन्धी सुख का भागी होता। अश्वनाम घोड़े में देवताद्वन्द्व प्रधान है इस से अश्व को देने वाला देवताद्वन्द्व लोक सखन्धी सुख को पाता। कामासक्ति की अधिक प्रबलता घोड़े में चन्द्रमा का और शीघ्रगामी होना तथा रक्त-लाल वर्ण सूर्य का प्रधान गुण है इस प्रकार अश्व में देवताद्वन्द्व है और अश्वि भी देवताद्वन्द्व हैं। वैल में पुष्टि प्रधान है। और अन्नादि को उरपन्न करने द्वारा श्री-लक्ष्मी भी है। गौ में सूर्य तरव प्रधान है इस से गोदान शील जैसे सूर्यलोक के सुख को प्राप्त होता है। स्वयं वा अन्य के द्वारा वेद को पढ़ाने वा पढ़वाने वाला ब्राह्मण नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वरूपतादि रूप ब्रह्मनाम ईश्वर की तुल्यता को प्राप्त होता। विद्यारूप वेद के दान काही सब दुःखमात्र से छूटना सब से उत्तम फल है। इस कारण अन्य दानों की अपेक्षा ब्रह्मदान का विशेष उत्तम फल जानो। जिस २ प्रकार के दूढ़ शुद्ध उत्तम मध्यम निकृष्ट भाव से दाता जिस २ वस्तु को देता है उस का वैसा ही उत्तम मध्यम निकृष्ट फल भी होता जानो। मात्रा का बोध और तदनुसार सङ्ग से होने वाले फल की प्राप्ति पूर्व के तुल्य यहां भी सर्वत्र धर्मशास्त्र के तरव जिज्ञासुओं को लगा-लेनी चाहिये ॥ २३४ ॥

योर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च ।
 तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकन्तु विपर्यये ॥
 न विस्मयेत् तपसा वदेद्दिष्टाचनानृतम् ।
 नार्त्तोऽप्यपवदेद्विप्रान् नदत्त्वापरिकीर्तयेत् ॥
 यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
 आयुर्विप्रापवादेन—दानं च परिकीर्तनात् ॥२३७॥

अ०—यः सत्कारपुरस्सरं ददाति यस्तथा प्रतिगृह्णाति
 च तावुभौ शुभवासनासंचयाद्यथोचितं सुखविशेषमामृतो
 विपर्यये तु दुःखविशेषम् । तपसा सह वर्त्तमानो न वि-
 स्मयेत् सन्देहं भयं च न कुर्यात् किं भविष्यतीति । यज्ञं
 कुर्वाण आदौ मध्येऽन्त्ये चानृतं न वदेत् । आर्त्तो दुःखि-
 तोऽपि विप्रान्मेधाविनो ब्राह्मणान्नापवदेत् । दानं दत्त्वा च
 न परिकीर्तयेत् । यज्ञस्य मनसा प्रधानः सम्बन्धो मनश्चान-
 नृतभाषणेन दुष्यति तेनैव यज्ञः क्षरति । तपसः परिणामः
 शुद्धिः, सन्देहेन भयेन चाभ्यन्तरा शुद्धिर्नश्यति । शुद्धविप्रा-
 णां सङ्गेनायुर्वर्धते विप्रापवादी दुःसङ्गदोषात्क्षीणायुः सम्प-
 द्यते । दानस्य फलं कालान्तरे स्वोपकारस्तच्च परिकीर्त्त-
 नेन कीर्त्तिरेव सद्यः फलमापद्यते ॥

भा०—अत्र पूर्वं पद्यमुक्तदानविधौ दानग्रहणयोः स-
 म्यक्प्रकारबोधनार्थम् । द्वितीये विधिचतुष्टयमन्त्ये च नि-
 न्दार्थवादः । व्रतोपायनमेव यज्ञे प्रधानमिति कृत्वा शतप-

यत्राह्नणारम्भएव व्रतोपायनमुक्तम् । तच्च-अग्ने व्रतपते
 व्रतं चरिष्यामि तच्छक्रेयमित्यादिरूपं सत्याचरणप्रतिज्ञान-
 म् । सर्वेष्वेव साध्यकार्येषु प्रधानाङ्गापाये तस्य कार्यस्यासि-
 द्विरेव जायते । यज्ञे च बाह्याभ्यन्तरशुद्धिरूपं सत्यमेव प्र-
 धानमङ्गं तदभावे स नष्टकल्पएव बोध्यः । तपसि सहन-
 शीलत्वं प्रधानं तस्मिन्सति निर्विकल्पं चेतः समाधीयते।
 विस्मयेन च समाधानं व्याहन्यते तेन तपोवैयर्थ्यं स्फुट-
 मेव । सत्सङ्गेन सत्कर्मसु प्रवृत्तिर्वर्धते विप्रापवादी च वि-
 प्रकर्माण्यप्यपवदत्येव न च तदा स शुभकर्मानुष्ठातुं शक्नो-
 ति प्रत्युत दुःसङ्गेनाशुभं कर्मानुष्ठातुं प्रवर्तते तेनायुर्नश्य-
 ति । दानस्य च हृदि सन्तोषादिरूपेण संचिताः शुभसंस्का-
 रा बहुमूलाः कालेन महान्ति फलान्युत्पादयन्ति । कीर्त्ति-
 रूपफलस्य च सद्योभोगागतत्वाद् दानपरिणामस्तदैव न-
 श्यति । तस्माद्यथोद्दिष्टफलावाप्तये यज्ञादय उक्तप्रकारेणै-
 व साध्याः ॥ २३७ ॥

भाषार्थः—(योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति) जो आदर सत्कार प्रसन्नता वा श्रद्धा पूर्वक
 दिये पदार्थ का ही दान लेता किन्तु अश्रद्धा वा अनादर से दिये को नहीं लेता
 (ददात्यर्चितमेव च) और जो श्रद्धा वा आदर प्रसन्नता से ही दान देता है अ-
 श्रद्धा से नहीं (तावुभौ स्वर्गं गच्छतः) वे दोनों शुद्ध वासनाओं के संचयरूप धर्म
 से यथोचित सुख विशेष स्वर्ग को ही प्राप्त होते हैं (विपर्यये तु नरकम्) और
 इस से उलटा अश्रद्धा अनादर के साथ दान लेने देने से नरक को प्राप्त होते हैं
 (तपसा न विस्मयेत) तप करता हुआ पुरुष सन्देह वा भय न करे किन्तु धैर्य
 तथा साहस और विश्वास के साथ दृढ रहे । ऐसा होजाय तो क्या होगा ?
 इत्यादि प्रकार सन्देह न किया करे (इष्ट्वा चानृतं न वदेत्) यज्ञ करता हुआ
 मिथ्या वा असंबद्ध अशुद्ध अनुचितादि वचन कदापि न बोले (आर्त्तौऽपि वि-

प्रान्नापवदेन्) अथ्छे श्रेष्ठ धर्मात्मा विद्वान् प्राज्ञ ब्राह्मणों से अपने को कुछ दुःख पहुंचने पर भी उन की निन्दा न करे (दत्त्वा न परिकीर्त्तयेत्) दान देकर अपनी ओर से स्वयं प्रसिद्धि करने कराने का उद्योग न करे (अनृतेन यज्ञः क्षरति) मिथ्या भाषण से यज्ञ नष्ट होजाता है क्योंकि मन के साथ यज्ञ का मुख्य सम्बन्ध है "मनो यजुर्वेदः" यह शतपथ ब्राह्मण में लिखा है यजु, यज्ञ, मन, उपासना, सङ्गति, ये सब एकही के नाम हैं और मिथ्याभाषणादि से मन दूषित होता इसी कारण यज्ञ क्षीण होता है (विस्मयात्तपः क्षरति) विस्मय करने से तप क्षीण होजाता है क्योंकि तप का परिणाम वा उद्देश शुद्धि है सो सन्देह वा भय से भीतरी शुद्धि वा प्रसन्नता नष्ट होजाती (विप्रापवादेनायुः) ब्राह्मणों की निन्दा से आयु घटता क्योंकि शुद्ध विद्वान् बुद्धिमान् धर्मनिष्ठों के सङ्ग से शुभ गुण आने द्वारा आयु बढ़ता है इसी कारण विपरीताचरण से आयु का नाश होता है (दानं च परिकीर्त्तनात्) कीर्त्ति की चाहना से किया दान भी नष्ट हो जाता क्योंकि कालान्तर में अपना यथोचित उपकारक होना ही दान का मुख्य फल है । सो वह कीर्त्तन से वहीं समाप्त हो जाता है ॥

भा०—इन में पहिला श्लोक पूर्वोक्त दानविधि विषयक देने लेने के सम्यक् प्रकार को जताने के लिये है । द्वितीय श्लोक में चार विधिवाक्य हैं और अन्त्य में अर्थवाद है । यज्ञरूप कर्म में व्रतोपायन प्रधानाङ्ग मानकर शतपथ ब्राह्मण के आरम्भ में ही व्रतोपायन कहा है सो (अग्ने व्रतपते०) हे व्रतपति अग्नि मैं सत्याचरण रूप व्रत करूंगा उस को ठीक कर सकूं इत्यादि प्रकार सत्याचरण की प्रतिज्ञा करना ही व्रतोपायन कहाता है । सभी साध्य कार्यों में प्रधान अङ्ग के न होने पर उस कार्य का न होना ही माना जाता है । जैसे ईंधन, चौका चूल्हा वर्त्तन पानी, पाचकादि सभी के होने पर भी केवल एक प्रधानाङ्ग आटा, चाबल दाल के न होने पर भोजन नहीं बन सकता । और यज्ञ में बाह्याभ्यन्तर शुद्धिरूप सत्य ही प्रधान अङ्ग है उस के न होने पर यज्ञ को नष्टप्राय ही जानो । तप में सहन शीलता होना प्रधान इस कारण है कि शीतोष्णादि दृग्द्रसहन का ही नाम तप है । शीतोष्णादि को सहलेने पर निस्सन्देह चित्त समाधिस्थ हो जाता है । और सन्देह होने से चित्त की एकाग्रता बिगड़ जाती है तिससे स्पष्ट ही तप व्यर्थ वा नष्ट हो जाता है । सरसङ्ग से सत्कर्मा में प्रवृत्ति बढ़ती है । और ब्राह्मणों का निन्दक उन के सन्ध्यादि कर्मा की भी निन्दा क-

रता ही है तब वह शुभ कर्मों का सेवन भी नहीं करसकता प्रत्युत दुष्ट सङ्गद्वारा अशुभ कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता उस से आयुक्षीणहीता जाता है। और संतोषादिरूप से हृदय में संचित हुए दान धर्म के शुभ संस्कार काल पाकर दृढ़ बहुमूल ही के बड़े २ शुभ फलों को उत्पन्न करते हैं। और दान का कीर्तिरूप फल शीघ्र भोग में आजाने से दान का परिणाम वहीं नष्ट हो जता है। इस कारण पूर्वोक्त उत्तम फल प्राप्ति के लिये यज्ञादि उक्त प्रकार से ही करने चाहिये। ॥ २३७ ॥

धर्मज्ञानैः संचिनुयाद्—वल्मीकमिवपुत्तिकाः ।

परलोकसहायार्थं—सर्वभूतान्यपीडयन् ॥

नामुत्रहिसहायार्थं—पितामाताचतिष्ठतः ।

नपुत्रदारानज्ञाति—धर्मस्तिष्ठतिकेवलः ॥

एकः प्रजायते जन्तु—रेकएव प्रलीयते ।

एकोऽनुभुङ्क्ते सकृत्—मेकएव च दुष्कृतम् ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य—काष्ठलोष्टसंक्षितौ ।

विमुखावान्धवायान्ति—धर्मस्तमनुगच्छति ॥

तस्माद्धर्मसहायार्थं—नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।

धर्मैर्णहिसहायेन तमस्तरतिदुस्तरम् ॥

धर्मप्रधानंपुरुषं तपसाहत्किल्बिषम् ।

परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥२४३॥

अ०—नित्यं नित्यं यज्ञाध्ययनदानान्यल्पाल्पान्यपि सेवमानो महान्तं धर्मसंचयं करोति । यश्च भूतानि मनो-

वाक्कायैः पीडयति स यज्ञादिकं प्रत्यहं सेवमानोऽपि धर्म-
संचयं नाप्नोत्येव । जन्मान्तरे सहायार्थं पिता माता पुत्रो
दारा ज्ञातयश्च नहि तिष्ठन्ति किन्त्वेको धर्मएव तिष्ठति ।
तस्मात्पित्रादिपालनपोषणप्रसादाद्यर्थमप्यधर्ममकुर्वन् धर्म-
मेवाचरेत् । सर्वा जन्तुर्जीवः प्रसवकाले एकएवोत्पद्यते
एकएव च म्रियते न कोऽपि तेन सह जायते म्रियते वा त-
थाचैकएव स्वनिष्पादितसुकृतदुष्कृतयोः शुभमशुभं च फलं
भुङ्क्ते यः कुपथ्यमन्नं भुङ्क्ते तस्यैवोदरं पीड्यते नान्यस्य
तस्माद्दुःखफलभोगभयेनाधर्मं हित्वा धर्मः सेव्यः । मृतं श-
रीरं श्मशानादिषूत्सृज्य बान्धवाः प्रत्यावर्त्तन्ते न तु देहा-
न्निस्सृतजीवेन सह बान्धवा गन्तुं शक्ताः, धर्मश्च सूक्ष्मत्वा-
ज्जीवेन सह गच्छत्येव । तस्मात्पूर्वतः शनैः संचितं सहा-
यार्थं प्रदीपमिव धर्ममुपादाय गच्छन्देहान्निःसरन् दुस्तर-
मन्यप्रकारेण तर्त्तुमशक्यं तमस्तरति । धर्मपरायणां तपसा
शोधनप्रकारेण हतकल्मषमलं भास्वन्तं शुद्धं स्वशरीरिणा-
माकाशवन्निर्लिप्तं पुरुषं पुंस्त्वविशिष्टं जीवात्मानं शनैः
संचितो धर्म आश्वेव परलोकं नयति ॥

भा०—सर्वाण्येव कार्याणि शनैः संचितानि बद्धमूला-
नि बृहदुत्तमफलानि च भवन्त्येव । यथामहानपि वृक्षः
कुतश्चिदुत्थापितोन्यत्र धृतोऽप्यबद्धमूलत्वाच्छुष्यति । तत्रै-
व शनैः संचितो बद्धमूलश्चैकदा जलादिसाधनाभविऽपि ति-
ष्ठत्येव । शनैः क्रियमाणां कालेन प्रत्यङ्गं व्याप्नोति । प्रत्य-

द्वय्याप्तिरेव विशिष्टदाह्यस्य कारणम् । यः कोऽपि यज्ञा-
ध्ययनदानादिरूपं धर्ममारचन्नपि हिंसाद्यधर्मं न जहाति
नासौ सम्यगुचितं धर्मफलं लभते । अत्र प्रथमपक्षे वि-
धिरन्येषु च प्रशंसार्थवादाएव सन्ति । ते च सम्यगालोच-
नेन सत्याएव प्रतीयन्ते ॥२४३॥

भाषार्थः—(परलोकसहायार्थम्) जन्मान्तर, देशान्तर लोकान्तर में सहायता मिलने दुःख से बचने के लिये (सर्वभूतान्यपीडयन्) सब प्राणियों को पीड़ा वा दुःख न देता हिंसारूप अधर्म को बचाता हुआ ब्राह्मणादि पुरुष (पुस्तिका वस्मीकमिव) चीटी आदि जन्तु जैसे एक २ छोटा २ दाना जोड़ २ अपने विल [मिले] रूप घर को भर लेती वैसे (शनैर्धर्मं संचिनुयात्) धीरे २ धर्म का संचय करे अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ और दानरूप तीनों प्रकार के धर्म को थोड़ा २ यथाशक्ति नित्य करता हुआ जन्म भर में बहुतसा धर्म संचित कर लेता है और अन्य प्राणियों को दुःख पहुंचाने वाला ब्रह्मयज्ञादि करता हुआ भी धर्म संचय नहीं करपाता (अमुत्र सहायार्थं पिता माता च न तिष्ठतः) जन्मान्तर वा लोकान्तर में सहायता देने के लिये पिता माता नहीं पहुंचते (न पुत्र दारा न ज्ञातिः) न स्त्री न पुत्र न कुटुम्बी पहुंचते हैं किन्तु (केवलो धर्मस्तिष्ठति) एक धर्म ही वहां सहायता कर सकता है (जन्तुरेकः प्रजायतएकएव प्रलीयते) प्रत्येक जीव प्रसव के समय अकेला उत्पन्न होता और मृत्युकाल में अकेला ही मरता है उस के साथ कोई भी स्त्री पुत्रादि जन्मता मरता नहीं तथा (एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्) अकेला ही अपने किये शुभ कर्म का अच्छा फल भोगता और अकेला ही दुष्कर्म का बुरा फल भोगता है । जो कुपश्य अन्न को खाता उसी का पेट पिड़ाता स्त्री पुत्रादि पीड़ा को नहीं ले सकते । तिस से पितादि के पालन पोषण और प्रसन्नतादि के लिये भी अधर्म को न करता हुआ धर्म करे और दुःख फल भोग के भय से भी अधर्म को छोड़ के धर्म का सेवन करे (काष्ठलोष्ट समं मृतं शरीरं क्षितावुरमृज्य) लकड़ी ढेलादि के समान मरे हुए मुर्दा शरीर को श्मशानादि भूमि में छोड़ वा जलाके (बान्धवा विमुखा यान्ति) कुटुम्बी लोग मुख फेर के लौट आते हैं (धर्मस्तमनुगच्छति) परन्तु धर्म उस मृतक जीव के पीछे २

साथ जाता ही है (तस्मात्सहायार्थं धर्मं शनैर्नित्यं संचिनुयात्) तिस से बहुत काल तक धीरे २ संचित किये दीपक के तुल्य प्रकाश स्वरूप शुद्ध धर्म का सहायता के लिये नित्य संचय करता रहे क्योंकि (धर्मैण हि सहायेन दुस्तरं तमस्तरति) धर्म की सहायता से ही अज्ञानान्धकाररूप अगाध पाप समुद्र के पार हो सकता है (धर्मप्रधानं पुरुषम्) धर्मपरायण धर्मनिष्ठ (तपसा हतकिल्बिषम्) शोधनार्थं किये तपाने रूप तप से नष्ट हुआ है पाप रूप मल जिस का ऐसे (भास्वन्तं स्वशरीरिणम्) आकाश के तुल्य निर्लिप्त प्रकाशमय शुद्ध सूक्ष्म शरीर वाले पुरुष नाम पुंस्त्व शक्ति प्रधान जीवात्मा को धीरे २ संचित किया धर्म (परलोकमाशु नयति) शीघ्र ही उत्तम लोक वा उत्तम दशा में पहुंचाता है ॥

भा०—सभी संसार के कार्य धीरे २ किये जिन की मूल वा जड़ ठीकटूढ़ बंध गयी ऐसे हुए बड़े उत्तम फल वाले होते हैं। जैसे बड़ा और अच्छा भी वृक्ष कहीं से खांदकर कहीं अन्यत्र लगाया जाय तो जड़ न बंधने से जलादि सामान मिलने पर भी सूख जाता और वहाँ धीरे २ बढ़ा जड़ पकड़ा एकसमय नैमित्तिक जलादि साधन के न मिलने पर भी हरियाता रहता है। जो काम धीरे २ किया जाता है वह अधिक काल में सर्वांश में व्याप्त हो जाता और प्रत्यङ्ग व्याप्ति ही सर्वत्र अधिक दृढ़ता का कारण है। जो कोई वेदाध्ययन, यज्ञ और दानादिरूप धर्म का आचरण करता हुआ भी हिंसादि अधर्म को नहीं त्यागता उसको धर्म का उचित सम्यक् फल नहीं मिलता यदि कुछ मिलता है तो वह इतना कम जो न मिलने में गिनाजाय। यहां पहिले एक श्लोक में विधिवाक्य है तथा आगले सब श्लोकों में धर्म संचय के प्रशंसार्थवादे हैं। वे सब प्रशंसा विचार पूर्वक शोचने से सत्य ही हैं ॥ २४३ ॥

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह ।

निनीषुःकुलमुत्कर्ष मधमानधनांस्त्यजेत् ॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान्हीनांश्चवर्जयन्।

ब्राह्मणःश्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेनशूद्रताम् ॥

दृढकारीमृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।

अहिंसोदमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गतथाव्रतः॥२४६॥

अ०-कुलमुत्कर्षं निनीषुर्ब्राह्मणादिर्द्विजः स्नातक उत्तमैरुत्तमैः सहैव नित्यं ब्राह्मणान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेदधमानधमांश्च त्यजेत्तद्द्वयं कुर्वन् सत्सङ्गेन श्रेष्ठतां दुःसङ्गेन च शूद्रतामेति । यथा शुद्धं भोज्यमप्यन्नं मलसङ्गेन दूषितं त्याज्यं सम्पद्यते । यथा वा कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः । दृढकारी दृढमेव कर्म कर्तुं तच्छीलो मृदुरनिष्ठुरो दान्तो जितेन्द्रियः क्रूराचारैस्त्यक्तसङ्गोऽहिंसो हिंसातो निवृत्तो दमेन मनोनिग्रहेण दानेन च युक्तस्तथाव्रतः सर्वेष्वेव तत्परस्तच्छीलस्तन्निष्ठः स्वर्गं जयेद्विशिष्टं सुखमाप्तुं शक्तः स्यात् ॥

भा०-सर्वधर्माङ्गेषु द्वयमेव प्रधानं निकृष्टचराचरतो निवृत्तिरुत्कृष्टसङ्गश्च तेन सहैव दृढकारित्वादिकं च॥२४६॥

भाषार्थः—(कुलमुत्कर्षं निनीषुः) कुल की उत्तमता वा प्रशंसा चाहता हुआ ब्राह्मणादि स्नातक द्विज (उत्तमैरुत्तमैः सह नित्यं सम्बन्धानाचरेत्) उत्तमों उत्तमों के साथ नित्य ही विद्या, धर्म विषयक वा विवाहादि नामक सम्बन्धों का आचरण करे अर्थात् अपने से उत्तमों के साथ सदा मेल करता रहे और (अधमानधमांस्त्यजेत्) अपने से विद्या कुल, वा प्रतिष्ठा में छोटीं २ के साथ सम्बन्ध त्यागता रहे (उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान्हीनांश्च वर्जयन्) उत्तम उत्तमों से मेल करता हुआ और छोटीं २ को छोड़ता हुआ (ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति) ब्राह्मण श्रेष्ठता को प्राप्त होता और (प्रत्यवायेन शूद्रताम्) इस से उलटा करता अर्थात् उत्तमों से मेल न करके नीचीं २ का संग करता हुआ नीचता वा शूद्रभाव को प्राप्त होता है । जैसे भोजन करने योग्य शुद्ध भी अन्न मल के समीप धरने से दूषित हुआ त्याज्य हो जाता है अथवा जैसे अति नीच कीड़ा भी

फूलों के साथ मेल करके अच्छे श्रेष्ठ पुरुषों के शिर पर पहुंचता है वैसे प्रत्येक मनुष्य सङ्ग के गुण दोषों से बढ़ता-घटता है (दूढकारी मृदुर्दान्तः) दूढता के साथ कर्म करने, कठोरता निष्ठुरता से रहित जितेन्द्रिय (क्रूराचारैरसंवसन्) दुष्ट दुराचरणी लोगों का सङ्ग न करता हुआ (अहिंसो दमदानाभ्याम्) हिंसादोष से पृथक् वर्तमान तथा मन के वशीकरण और दानधर्म से युक्त (तथाव्रतः स्वर्गं जयेत्) सब दूढकारित्वादि गुणों में तत्पर तत्स्वभाव और तन्निष्ठ हुआ स्वर्ग नाम विशेष सुख को प्राप्त कर सकता है ॥

भा०-धर्म के सब अङ्गों वा अंशों में दो बातें प्रधान हैं-जड़, चेतन-सब नीचों का सङ्ग छोड़ना और अच्छे शुद्धों का सङ्ग करना अर्थात् कुसङ्ग से वचना और सत्सङ्ग करना इस के साथ ही दूढकारी, कोमल, क्षमाशील, जितेन्द्रिय होना, मन को वश में करना हिंसा का त्याग और दानशील परोपकारी होना इतने में अधिकांश धर्म का सेवन आ जाता है ॥ २४३ ॥

एधोदकंमूलफल-मन्नमभ्युद्यतंचयत् ।

सर्वतःप्रतिगृह्णीयान्-सध्वथाभयदक्षिणाम् ॥

आहताभ्युद्यतांभिक्षां-पुरस्तादप्रचोदिताम्

मेनेप्रजापतिर्ग्राह्या-सपिदुष्कृतकर्मणः ॥

नाश्नन्तिपितरस्तस्य-दशवर्षाणिपञ्चच ।

नचहव्यंवहत्यग्नि-र्यस्तामभ्यवसन्यते ॥

[चिकित्सककृतघ्नानां शिल्पकर्तुश्चवाहुषेः ।

पणदस्यकुलटायाश्च उद्यतामपिवर्जयेत् ॥

नविद्यमानमेवंवै प्रतिग्राह्यंविजानता ।

विकल्प्याविद्यमानेतु धर्महीनःप्रकीर्तितः ॥ २ ॥]

शय्यांगृहान्कुशान्गन्धा-नपःपुष्पंमणीन्हृदि ।

धानामत्स्थान्पयोमांसं प्राकंचैवनिर्णुहेत् ॥

गुरून्मृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्-नर्चिष्यन्देवताति-
थीन् । सर्वतःप्रतिगृह्णीयान्नतुतृप्येत्स्वयंततः ॥

गुरुषुत्वभ्यतीतेषु-विनावातैर्गृहेवसन् ।

आत्मनोवृत्तिमन्विच्छन्-गृह्णीयात्साधुतःसदा
॥ २५२ ॥

अ०-इन्धनमुदकं मूलं फलमन्नं मधु च यदभ्युद्यत-
मयाचितेन स्वयमेव श्रद्धया दीयमानमथाभयदक्षिणां च
सर्वतो निकृष्टान्निषिद्धादपि प्रतिगृह्णीयात् । आहूता चासा-
वभ्युद्यता तां दात्रा दूरतो दातुमानीतां सम्मुखे कृत्वा गृह्णा-
त्विति प्रार्थनया दीयमानां पूर्वं प्रतिग्रहीत्रा स्वयमन्यद्वारा
वाऽयाचितामेवं भूतां दुष्कृतकर्मणोऽपि जनस्य भिक्षामन्न-
वस्त्रधनादिरूपां प्रजापतिः प्रजापालकः प्रामाणिकानामु-
त्तमकोटिमाप्तो मनुर्ग्राह्यां मेने स्वीकृतवानिति भृगुराह ।
पूर्वपद्यस्यैव स्पष्टार्थोऽयमनुवादः । यद्दृशां तां भिक्षामभ्य-
वमन्यते तिरस्करोति नादत्ते तस्य पञ्चदशवर्षाणि पितरः
कव्यं नाशनन्ति देवेषु प्रधानोऽग्निर्हव्यं च न वहति । पूर्व-
पद्यस्यार्थं निन्दार्थवादः । अस्यैवाग्रे चिकित्सकस्येत्यादि
पद्यद्वयं केषुचिदेव पुस्तकेषूपलभ्यते तस्यार्थविशेषः प्राकृते
द्रष्टव्यः । शंख्यां गृहान् कुशान्कर्पूरादिगन्धप्रधानद्रव्याणि
जलं पुष्पं मणीन्दिधि धाना भृष्टमन्नं मत्स्यान् पयः क्षीरं
मांसं शाकं चैव न निर्गुदेत्प्राप्तमयाचितमागतं नैव निरा-
कुर्यादपितु गृह्णीयादेव । गुरून् पित्राचार्यादीन्मृत्यान्पुत्र-
कलत्रादींश्चोज्जिहीर्षन् क्षत्पीडातउद्धर्त्तुमिच्छन् देवताति-

थींश्चाचिष्यन्सर्वतः शूद्रातिशूद्रेभ्योऽपि धनान्नादिकं प्रतिगृ-
ह्णीयात्तेनान्नधनादिना स्वयं न तृप्येत्तेषामेवार्चनं पालनं च
कुर्यात् । गुरुषु पित्रादिष्वभ्यतीतेषु मृतेषु तेषां जीवत्कालेऽपि तैर्विना गृहे वसन् स्नातकः स्वस्यैवोपजीवनमन्वि-
च्छन्सदा साधुत एव गृह्णीयान्नतु सर्वतइति ॥

भा०—प्रथमपद्येभ्युद्यतमिति पदं प्रत्येकैधादिना संबद्धं
बोध्यम् । अन्नं चात्रानापद्याममेव विज्ञेयमापदि तु पक्क-
स्यापि सर्वतो ग्रहणं नानुचितम् । अमृतं स्यादयाचितमिति
पूर्वमुक्तं याचितापेक्षया तस्योत्तमत्वं नतु शिलोज्झापेक्ष-
याऽतोऽयाचितवृत्तेरेवायं सर्वः प्रपञ्चो बोध्यः । अत्र २४९ ।
२५० पद्ये चिन्त्ये, तत्र पूर्वपद्योर्यो विधिस्तेनादानविधा-
नादेवानादाननिषेधोऽर्थापत्तितएव सिद्धः । तथापि कश्चि-
न्नाददीत चेन्नासौ पापभाग् भवति । प्रापणात्सर्वकामानां
परित्यागी विशिष्यतइति मनुनैवोक्तत्वादादानापेक्षयाऽना-
दानं श्रेष्ठमेव । याचनापुरस्सरनीचादितन्नादानापेक्षया
चायाचितादानमाधिक्येन धर्मसम्बद्धं सन्तोषरक्षणदिति
ग्रन्थकाराशयः । द्वितीयं च शय्यामिति पद्यं निरर्थकमिव
भाति । एधोदकमित्यादौ श्लोकएधादीनामुपलक्षणार्थत्वा-
च्छय्यादीनामप्ययाचितानामादानमागतमेवेति पुनरुक्तम् ।
मत्स्यमांसघोरभक्ष्यत्वं च यक्षरक्षःपिशाचान्नमित्यादिनै-
कादशे वक्ष्यति । तयोरादानं भक्षणार्थं चेच्छास्त्राशयवि-
रुद्धम् । कश्चिद्गृहीत्वा मांसभक्षिश्वादिजन्तुभ्यो दद्यात्तदा-
नायं दोषः । शिलोज्झवृत्त्यपेक्षयाऽयाचितप्रतिग्रहो निकृ-

ष्टोऽपि गुर्वादिक्षुत्पीडनापेक्षया वरएवेति गुरुनित्यादिना प्रदर्शितम् । अथाचितादानेऽप्युत्कृष्टधर्म्यवृत्त्यपेक्षया यो दोषस्तस्य गुर्वाद्यर्थस्वीकारे दोषापेक्षया गुर्वादिसेवनपालनयोः पुण्याधिक्यमिति सूचितम् । कर्त्ता दोषेण लिप्यतइति कथनाद्गुर्वादीनां दोषाभावएव बोध्यः । शिलोज्ज्वल्युत्त्या चाल्पएवान्नलाभस्तेन बहूनां पालनमसंभवम् । भिक्षादिवृत्त्यापि पूर्ववृत्त्यभावे गुर्वादयः सेव्याइति सर्वं शास्त्रेण व्यवस्थितमेव बोध्यम् ॥ ५२ ॥

भाषार्थः—(एधोदकं मूलफलमन्नं मधु) ईंधन समिधादि, जल, मूल, फल, अन्न और मधु—शहद इत्यादि पदार्थों को (अभ्युद्यतं च यत्) कोई अट्टालु दाता विना मांगे देने के लिये सामने उपस्थित करके कहे कि लीजिये (अथाभयदक्षिणाम्) और अभय—निर्भयतारूप दान को (सर्वतः प्रतिगृहणीयात्) गृहस्थ ब्राह्मण सब किसी नीच वा निषिद्ध शूद्र वा अन्त्यज से भी लेलेवे (पुरस्तादप्रचोदितामाहृताभ्युताम्) पहले से लेने वाले ने स्वयं वा अन्य द्वारा प्रसिद्ध वा संकेतमात्र भी जिस की चाहना प्रकट नहीं की हो ऐसी दूरसे दाता ने लाई सामने करके लीजिये इस प्रकार प्रार्थना पूर्वक दी हुई (दुष्कृतकर्मणोपि भिक्षाम्) दुष्ट कर्मों वाले की भी अन्न धन वस्त्रादिरूप भिक्षा को (प्रजापतिर्ग्राह्यां मेने) प्रामाणिक पुरुषों में उत्तम कोटि को प्राप्त प्रजारक्षक मनु नामक ब्रह्मा जी ने ग्रहण करने योग्यमानी स्वीकार की है यह भृगु जी श्रोता ऋषि लोगों से कहते हैं। पूर्व श्लोक का ही आशय स्पष्ट खोलने के लिये द्वितीय श्लोक में अनुवादमात्र कथन किया है (यस्तामभ्यवमन्यते) जो उस भिक्षा का अपमान तिरस्कार करता अर्थात् स्वीकार नहीं करता (दश वर्षाणि पञ्च च) पन्द्रह वर्ष तक (तस्य पितरो नाश्नन्ति न चाग्निर्हव्यं वहति) उस के यहां पितर नहीं खाते और न अग्नि हविष्य को पहुंचाता है प्रयोजन यह कि विना मांगे अट्टा से दी हुई भिक्षा के अनानादर में अट्टा का ही अनानादर होता है और अट्टा का अनानादर करने वाले में अट्टा के हट जाने से देवयज्ञ पितृयज्ञ भी फिर उस से नहीं हो सकते । इस दश में पन्द्रह वर्ष कहना उपलक्षणार्थ माना जायगा कि पांच दश पन्द्रह बीस

आदि वर्षांतक जैसा अद्वा का विघात करेगा वैसी ही पितृयज्ञादि धर्म की हानि होगी । पितर उस के यहां नहीं खाते इस का अभिप्राय यह हो सकता है कि अद्वा के न रहने से वह पितरों को खिलाता ही नहीं इसी से नहीं खाते इत्यादि । पूर्व श्लोकों में कहे विधिवाक्य का यह अर्थवाद है [इसी के आगे चिकित्सककृतघ्नानाम्) चिकित्सक वैद्य, कृतघ्न (शिल्पकर्तुश्च वादुषेः) कारीगर राज, मिस्त्री आदि (षण्डस्य कुलटायाश्च) नपुंसक और व्यभिचारिणी स्त्री इन सब की (उद्यतामपि वर्जयेत्) विना मांगे अद्वा पूर्वक लाई हुई भिक्षा की भी त्याग देवे स्वीकार न करे (विजानतैवं विद्यमानं न वै प्रतिग्राह्यम्) समझदार मनुष्य को उचित है कि इस प्रकार चिकित्सकादि नीच के विद्यमान वस्तु का भी ग्रहण कदापि न करे (अविद्यमाने तु विकल्प्य) और जैसे नीच का पदार्थ न हो तो विकल्प वा अनादर करने से (धर्महीनः) धर्म से हीन (प्रकीर्तितः) कहा जाता है] (शय्यां गृहान् कुशान् गन्धान्) शय्या स्त्री कन्या कुश और कपूरादि गन्धद्रव्यों (अपः पुष्पं मणीन् दधि) जल, फूल, मणि, दही, (धाना मत्स्यान् पयो मांसम्) चबेना, मछली, दूध, मांस (शाकं चैव न निर्णुदेत्) और शाक को भी अकस्मात् अद्वा से प्राप्त हुए का नकार वा अनादर न करे (गुरुन् भृत्याञ्चोज्जिहीर्षन्) आचार्य पितादि गुरुलोगों की सेवा तथा स्त्री पुत्रादि भरणपोषण योग्यों का पालनादि द्वारा क्षुधादि की पीड़ा से उद्धार चाहता और (देवतातिथीनर्चिष्यन्) अतिथि देवताओं का पूजनसत्कार आदर करना चाहता हुआ गृहस्थ पुरुष (सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्) सब शूद्र वा अतिशूद्र से भी अन्न धनादि का दान ले लेवे (ततः स्वयं न च तृप्येत्) उस से स्वयं अपनी तृप्ति न करे किन्तु उस लिये दान से उन्हीं गुरु-आदि का पूजन और पोषण करे (गुरुषु त्वभ्यतीतिषु) गुरु पितादि वा स्त्री आदि न रहे हों अर्थात् मरगये हों (विना वा तैर्गृहे वसन्) अथवा वे भिन्न देश में हों तब घर में वसता हुआ पुरुष (आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्सदा साधुतो गृह्णीयात्) अपने ही लिये जीविका खोजता हुआ रनातक सदा श्रेष्ठ पुरुषों से ही दान लेवे अर्थात् साधुनाम सच्चे परोपकारी अद्वालु सर्व वर्णस्थ धर्मात्माओं से ही ले कर निर्वाह करे असाधुओं से नहीं ॥

भा०—यहां प्रथम श्लोक में कहे अभ्युद्यत पदका एधादि प्रत्येक के साथ स-
म्बन्ध जानो । अन्न कहने से आपत्काल न होने पर कच्चे अन्न का ही ग्रहण

जानो पर आपत्काल में पके हुए रोटी पूरी आदि अन्न का भी सब से ग्रहणकरना अनुचित नहीं। विन मांगे मिले को पूर्व अमृत कह चुके हैं। मांगे हुए भिक्षान्न की अपेक्षा उस की उत्तमता अपेक्षित है किन्तु शिलोऽन्नवृत्ति की अपेक्षा से अयाचित उत्तम नहीं किन्तु उस से निकृष्ट है। इस से अयाचित वृत्ति का ही यह सत्र विशेष व्याख्यान है। यहां २४९। २५० ये दो श्लोक विचार साध्य हैं। इन से पूर्व के दो श्लोकों में जो विधिवाक्य है उसी से दान के स्वीकार का विधान आजाने से स्वीकार न करने का निषेध अर्थात्पत्ति से ही सिद्ध है। तो भी यदि कोई दान न ले वा लेने की आवश्यकता ही जिसने मेट दी हो वह न लेने से पापी नहीं होता «सब कामनाओं की प्राप्ति से उन का परित्याग करना विशेष है», इस प्रकार मनु जी के ही कहने से लेने की अपेक्षा न लेना अच्छा अवश्य है। और मांगने पूर्वक नीच शूद्रादि से दान लेने की अपेक्षा विन मांगे मिलने पर लेना अधिक कर धर्म से सम्बन्ध रखने वाला है क्योंकि सन्तोष के साथ धैर्यरूप धर्म के विद्यमान रहने से, यह ग्रन्थकार का आशय है। और द्वितीय (शरयां०) यह श्लोक निरर्थकसा इस कारण दीखता है कि (एथोदकं०) इत्यादि श्लोक में इत्यनादि का ग्रहण उपलक्षणार्थ होने से विना मांगे शरयादि का स्वीकार भी आ ही गया इस से पुनरुक्त दोष है। मछली और मांस का अभक्ष्य होना “मद्य मांस, यक्ष राक्षस पिशाचों का अन्न है ब्राह्मणादि आर्या का नहीं”, इत्यादि प्रकार अ० ११ में कहा है उन मछली मांसों का ग्रहण यदि भक्षण के लिये है तो शास्त्र के सिद्धान्त से विरुद्ध है। और यदि कोई मांसादि को लेकर मांसभक्षी कुत्ते आदि जन्तुओं को देदेवे तब यह दोष नहीं है। शिलोऽन्नवृत्ति की अपेक्षा विन मांगे मिलने वाले वस्तु का लेना निकृष्ट भी है पर गुरु आदि भूखे रहने की अपेक्षा उत्तम ही है यह आशय—गुरुन० इत्यादि कथन द्वारा दिखाया है। विन मांगे लेने पर भी धर्मानुकूल उत्तम शिलोऽन्नवृत्ति की अपेक्षा जो दोष है उस को गुरु आदि के लिये स्वीकार करने में दोष की अपेक्षा गुरु आदि के सेवन पालन में पुण्य का अधिक होना सूचित किया गया “कर्त्ता को दोष लगता” इस कथन से भोगने वाले गुरु आदि को दोष नहीं लगता जानो। शिलोऽन्नवृत्ति से थोड़ा अन्न मिल सकता उस से बहुतों का पालन होना असम्भव है। पहिली २ अच्छी वृत्ति के अभाव में पर २ भिक्षादि वृत्ति से भी गुरु आदि की सेवा करनी चाहिये यह सब शास्त्र से व्यवस्थित ही जानो ॥ २५२ ॥

आर्द्धिकःकुलमित्रं च-गोपालोदासनापितौ ।
 एतेशूद्रेषु भोज्यान्ना-यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥
 यादृशोऽस्य भवेदात्मा--यादृशं च चिकीर्षितम् ।
 यथाचोपचरेद्देनं--तथात्मानं निवेदयेत् ॥
 योऽन्यथा सन्तमानं--मन्यथा सत्सुभाषते ।
 स पापकृत्तमो लोके--स्तेन आत्मापहारकः ॥
 वाच्यर्थान्निघताः सर्वे-वाङ्मूलावाग्विनिःसृताः ।
 तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं--स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥

अ०-आर्द्धिकोऽर्द्धभागी कृषिगोरक्षवाणिज्यादि वृत्तिक-
 र्मणि येन सहार्द्धभागो यस्य यश्च स्वस्य कुलस्य पारम्पर्य-
 ण मित्रं गोपालआभीरो दासः स्वसेवकउदकहारो नापि-
 तश्चैते शूद्रेषु भोज्यान्ना भोज्यं भोक्तुमुचितमन्नमेषामिति
 भोज्यान्नाः । यश्च शूद्र आत्मानं निवेदयेच्छूद्रभावेन स्व-
 स्य शरणागतः स्यात्सोऽपि भोज्यान्न एव । अस्य शूद्रस्य
 यादृश आत्माऽन्तःकरणं यो यो भावो मनसि वर्तते यादृशं
 चास्य चिकीर्षितमिष्टं कर्तव्यं यथाचायमेनं द्विजं सेवयितुं
 प्रतिजानीत तथा तादृशरीत्यैव य आत्मानं निवेदयेत्स
 सम्यक्शरणागतो बोध्यः । योऽन्यथाऽऽत्मानं सन्तं सत्स्व-
 न्यथा भाषते मनसि यद्वर्तते ततो विरुद्धं यो वाचा वदति
 स आत्मापहारक आत्मानं निकृष्टदशायां नेता स्तेनो लोके
 पापकृत्तमो गणयते । पापं करोतीति पापकृत् ततोऽधिकः पा-

पी पापकृत्तरस्ततोऽप्याधिक्येन पापिष्ठः पापकृत्तमः । सर्वेऽर्था वाचि नियताः सर्वाणीष्टानि प्रयोजनानि वस्तूनि च तत्तन्नामजन्यवाग्भ्यापारसाध्यानि बुभुक्षितोऽहं पिपासितोऽहमिति सर्वं शब्देनैवावसीयते वागेव सर्वेषां मूलं सर्वथा सत्या वेदवागेव सर्वस्य मूलमस्ति । वेदशब्देभ्यएवादौ दिवं भूमिं च निर्ममद्वत्युक्तपूर्वम् । अतएव मूलादङ्कुरद्वयं सर्वं वाचो निस्सरति । तामीदृशीं वाचं यो निवेदकः शूद्रादिः स्तेनयेत्स सर्वस्तेयकृन्नरो विज्ञेयो यथा मत्स्यादः सर्वमांसादो भवति ॥

भा०—नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्ममित्युक्तमामन्त्वतिशूद्रादेरपि ग्राह्यमुक्तमामेन सह शूद्रसहचरितदोषाणां न्यूनागमनसम्भवात् । अत्र त्वार्द्धिकादिशूद्राणां पक्वमप्यन्नं भोज्यमिति विधिः । अर्द्धिकादिशूद्राणां ब्राह्मणादिसान्निध्येन केचिद्दोषाः सद्गादेवापयन्ति ब्राह्मणादीनां च केचिद्गुणानश्यन्ति । एवं सद्गजन्यगुणदोषैरुभयोर्बहुंशे साम्यं जायते तस्मात्तेषामन्नं भोज्यं तेन सद्भिना नतु सर्वेणेति । गोपालश्च वैश्यकल्पः संकरोऽपि बीजोत्कर्षात्कथमपि द्विजत्वं धारयत्येव तस्मात्स कुलमैत्र्यादिसद्गाभावेऽपि भोज्यान्नो भवत्येव । अत्र भोज्यपदेन घृतपक्वं विशेषेण भोज्यमिति गम्यते तदपेक्षया रोटिकादीनां च भक्ष्यत्वमवगन्तव्यम् । यश्चात्मानं यथार्थतया निवेदयति सत्यमेव सर्वं हार्दं भावं प्रकाशयति स सत्यभाषणपरीक्षायामुत्तीर्णः कर्मणा ब्राह्मणत्वं प्राप्तउत्तमकोटिस्थो भोज्यान्नो जायते । अर्द्धिकगोपा-

लादिपदेनात्र सर्वे सदाचारिणः शौचधर्मपरायणाः शूद्रा
 अवगन्तव्याः सत्यभाषणप्रशंसया मिथ्याभाषणनिन्दया च
 निवेदकसत्यभाषिणः शरणागतशूद्रस्य च प्राशस्त्यप्रबोध-
 नपुरस्सरं भोज्यान्नत्वमुच्यते गुणैरेव सर्वउत्तमा निकृष्टा-
 श्रावगुणैर्जायन्ते । सत्यं दानं क्षमा शौचमानृशंस्यं तपो
 घृणा । विद्यन्ते यत्र राजेन्द्र स ब्राह्मणइति स्मृतः । इति
 महाभारते वनपर्वणि । तस्माच्छूद्रस्य तादृशस्य शरणागत-
 त्वेन सत्यभाषणादिधर्मपरायणस्य पक्वान्नं भोज्यम् ॥२५६॥

भाषार्थः—(आर्द्धिकः कुलमित्रं च) खेती गोरक्षा वा वाणिज्य दुकान आदि
 जीविका सम्बन्धी काम में आधे भाग का साक्षी, परस्पर से कुल के साथ
 जिसका मित्रभाव चला आता हो (गोपालो दासनापितौ) गोपाल नाम अहीर दा-
 स नाम सेवक—कहार और नाई (एते शूद्रेषु भोज्यान्नाः) शूद्रों में से इन पांचों का कुआ
 बनाया अन्न भोजन करने योग्य होता है (यश्चात्मानं निवेदयेत्) और जो शूद्र शुद्ध-
 भाव से स्वयं आकर अपने शरणागत हुआ हो अर्थात् जिस ने अपना तन मन सभी
 स्वामी के अर्पण कर दिया हो ऐसे सहयोगी शूद्र का भी बनाया पकाया स्पर्श
 किया अन्न ब्राह्मणादि को खा लेना चाहिये (यादृशोऽस्य भवेदात्मा) इस शूद्र
 का जैसा आत्मा नाम अन्तःकरण हो—जो २ भाव उस के मन में संकल्पमात्र गुप्त
 भी हो (यादृशं च चिकीर्षितम्) शरणागत होने में जो इस का अभीष्ट प्रयोजन
 साध्य हो और (यथा चोपचरेदेनम्) और वह जिस प्रकार सेवा कर सकता हो
 (तथात्मानं निवेदयेत्) उसी प्रकार अपने को स्वामी के समक्ष अर्पण करे (यो-
 न्यथा सन्तमात्मानमन्यथा ससु भाषते) जो शूद्रादि पुरुष अपने अन्तःकरण में
 अन्य कुछ रहने पर भी वाणी से और कुछ मिथ्या ही वचन सज्जन लोगों में
 कहता है (स आत्मापहारकः स्तेनो लोके पापकृत्तमः) वह आत्मा का अपहरण करने
 अपने को निकृष्ट दशा में ले जाने वाला चोर लोक में अत्यन्त पापी माना-
 जाता है अर्थात् समझ पूर्वक स्वार्थ के लिये मिथ्याबोलने वाला ही सर्वोपरि
 पापी है । पहिला पापी पापकृत्—उस से बड़ा पापी पापकृत्तर और उस से भी
 बड़ा पापी पापकृत्तम माना जाता है (वाचि सर्वेऽर्था नियताः) वाणी में सब

प्रयोजन नियत हैं अर्थात् सब इष्ट प्रयोजन और वस्तु उस २ वाचक शब्द से सम्बन्ध रखने वाली वाणी के व्यापार से सिद्ध होते हैं। मैं भूखा हूँ-मैं प्यासा हूँ। इत्यादि सब शब्दोच्चारण से ही सुन के जाना जाता वा निश्चय किया जाता है (वाङ्मूला वाग्भिस्सृताः) सर्वथा सत्यस्वरूप वेद वाणी ही सब का मूल है "वेद के शब्दों से ही सर्गारम्भ में द्युलोक भूर्लोक आदि बनाये गये" यह पूर्ण कह चुके हैं। इसी कारण मूल बीज से अङ्कुरों के समान वाणी से सब निकलता है (यस्तु तां वाचं स्तेनयेत्) जो निवेदन करनेवाला शूद्रादि पुरुष उस ऐसी वाणी को चुरावे आत्मा से विरुद्ध बोले (स नरः सर्दस्तेयकृत्) वह पुरुष सब प्रकार की चोरी करने वाला माना जायगा। जैसे कि जखली खाने वाला सब का मांस खाने वाला होता है वैसे अन्तःकरण से विरुद्ध विद्या भाषण करने रूप वाणी को चुराने वाला भी सब प्रकार की चोरी करने वाला माना जायगा अर्थात् मिथ्या भाषण सब अधर्मों का मूल है ॥

भा०-इसी अध्याय में पूर्व कह चुके हैं कि-“शूद्र का पकाया अन्न न खावे” यह सामान्य कथन है। और कच्चा अन्न तो शूद्र से भी नीच का लेना पीछे कह आये हैं क्योंकि कच्चे अन्न के साथ शूद्र में रहने वाले अपवित्रतादि दोष कम आसकने सम्भव हैं। परन्तु यहां संकृत आदि शूद्रों का पकाया अन्न भी भोजन कर लेना चाहिये यह विधान किया है। क्योंकि आर्द्रिक आधेसांक्षी आदि शूद्रों के कोई २ दोष ब्राह्मणादि के साथ विशेष सङ्ग से छूटते नष्ट होते और उन में पवित्राचरणादि गुण भी कुछ आते हैं तथा वैसे ही ब्राह्मणादि के कोई गुण सङ्ग से नष्ट होते हैं इस प्रकार सङ्गजन्य गुण दोषों से दोनों में अधिकांश समता आजाती है। इस से उस सङ्गी ब्राह्मणादि को उन २ अपने सहयोगी विशेष मेली शूद्रों का पकाया अन्न खा लेना चाहिये किन्तु सब शूद्रों का सब को नहीं खाना चाहिये। गोपाल नाम आभीर-अहीर गोरक्षा वैश्य का काम करने वाला होने से कर्म से वैश्य वा वैश्य के तुल्य है। यद्यपि गोपाल नामक-अहीर-वर्णसंकरों में गिनाया गया है तथापि बीज की उत्तमता से द्विजातिपन उस जाति में अवश्य होता है। इस कारण कुल मैत्री आदि सत्सङ्ग न होने पर भी उस का पकाया अन्न भोजन करने योग्य होता ही है। पर उन का सदाचारी पवित्राचरणी होना अत्यावश्यक है कि जिन का अन्न ब्राह्मणादि खावें। इस से यह भी सिद्ध है कि इन गिनाये दूजों में कोई भूष्ठाचारी मद्य मांसादि भक्षी

स्लेष्मसङ्गी हों तो उन का अन्न न खावे और इन से भिन्न भी शुद्धाचारी सत् शूद्र का पकाया अन्न खा सकते हैं । यद्यपि रोटी पूरी दोनों ही पकाया अन्न है तथापि यहां भोज्यपद से घृत में पकाया विशेष कर भोज्य इस से मानाजायगा कि रोटी आदि की अपेक्षा घृतपक्क अधिक कोमल होता और कोमल ही भोज्य कहाता है । पूरी आदि की अपेक्षा रोटी आदि भक्ष्य मानाजायगा । और जो यथार्थरूप से अपने हृदय के सब भीतरी अभिप्राय को प्रकाशित कर देता वह सत्यभाषण की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ कर्म से उत्तम कोटिस्थ ब्राह्मणपन को प्राप्त हुआ भोज्य है अन्न जिस का ऐसा होता है । आर्द्रिकादि, सत्सङ्गशुद्ध, गोपाल-वैश्य के तुल्य होने से और शरणागत आनेवाले सत्यभाषी निवेदक शूद्र की उत्तमता जताने पूर्वक अन्न खाना कहा गया है सो यदि उस में सत्यभाषण की प्रशंसा और मिथ्याभाषण की निन्दा विद्यमान हो । गुणों से ही सब कोई उत्तम होते और अवगुणों से ही निकृष्ट होते हैं । महाभारत वनपर्व में लिखा है कि "सत्यभाषण, दानशीलता, क्षमा, शौच, कटुभाषण का त्याग, तपनाम शीतोष्णादि का सहन, बुराई से घृणा ये सब जिस में विद्यमान हों वह ब्राह्मण कहाता है । इस से वैसे शूद्र का पकाया अन्न भोजन करने योग्य है ॥ २५६ ॥

महर्षिपितृद्देवानां--गत्वानृश्यंयथाविधि ॥

पुत्रेसर्वं समासज्य--वसेन्माद्यस्यमाश्रितः ॥

एकाकीचिन्तयेन्नित्यं--विविक्तोहितमात्मनः ।

एकाकीचिन्तयानोहि--परंश्रेयोऽधिगच्छति ॥

एषोदितागृहस्थस्य--वृत्तिर्विप्रस्यशाश्वती ।

रुनातकव्रतकल्पश्च--सत्ववृद्धिकरःशुभः ॥

अनेनविप्रोवृत्तेन--वर्त्तयन्वेदशास्त्रवित् ।

व्यपेतकल्मषोन्नित्यं--ब्रह्मलोकेमहीयते ॥२६०॥

इतिश्रीमानवेधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्था-

ऽध्यायः समाप्तः ॥

अ०-ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायेन महर्षिऋणं, देवयज्ञेन देवर्षिं पितृयज्ञेन च पितृणं चापाकृत्य शास्त्रविहितानुकूलमनुष्णो भूत्वा पुत्रे सर्वं गृहप्रबन्धाधिकारं समासज्य नियोज्य माध्यस्थं कामक्रोधलोभादीनां मध्यदशामाश्रितः कामाद्यासक्तिं विहाय निर्ममो निरहङ्कारो वसेत् । विविक्तएकान्तदेशएकाकी स्थित्वा नित्यमात्मनः स्वस्य हितं चिन्तयेत्-हियतएकाकी चिन्तयानः परं श्रेयोऽधिगच्छत्याप्नोति । गृहस्थस्य विप्रस्यैषा शाश्वती वृत्तिरुदिता । च पुनः सत्त्ववृद्धिकरः शुभः स्नातकव्रतकल्पोऽप्युदितः । वेदशास्त्रविद्विप्रो मेधावी गृहस्थोऽनेन वृत्तेन पूर्वाक्तेन वर्त्तयन्व्यवहरन्नित्यं व्यपेतकल्मषो नित्यं त्यक्तदुराचरणो ब्रह्मलोके ब्रह्मैव लोकोऽवलोकनीयस्तस्मिन् महीयते निर्बाधो निरामयस्तिष्ठति ॥

भा०-एतदध्यायोक्तसर्वविषयस्यात्र पद्यचतुष्टयेनोपसंहारः प्रदर्शयते । ऋणरूपं बन्धनं चात्र हार्दं विज्ञेयम् । तदेव हार्दं बन्धनं हृदयग्रन्थिपदेनाप्युच्यते-«भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः» तस्य चर्णात्रयस्यास्मिन् शास्त्रे वेदानुगामिनि यादृशः स्पष्टोऽपाकरणप्रकार उच्यते न तादृशोऽन्यत्र दृश्यते । तत्र विशेषेण द्वितीयाध्याये ब्रह्मचर्येण साकमिन्द्रियग्रामं वशेकृत्वा स्वाध्यायाभ्यासो जपयज्ञः सन्धयोपासनं गुरुशुश्रूषणादिकमखिलं कृत्यमृषिऋणापाकरणाद्योक्तम् । उद्धेत द्विजो भार्यामित्यादिकथनेन तृतीयाध्याये विवाहभार्यागमनपितृयज्ञादिकृत्यस्य साङ्गोपाङ्गवर्णनं पि-

तृणापाकरणार्थम् । चतुर्थाध्याये च विप्रवृत्तिनियमाः स्ना-
तकव्रतरूपा आचारनियमाश्च दानादानादिरूपा हस्तक्रिया-
यासाध्या देवयज्ञाङ्गभूता देवर्णापाकरणार्था वर्णिताः । एवं
चाध्यायत्रयोक्तं सर्वमपि कर्म यः सम्यक्सेवते स ऋणात्र-
यमपाकरोत्येव स एवानृणी भूत्वा यथा मुक्तो भवति न
तथाऽन्यः । एवमृणात्रयापाकरणेन दृढीकृतपरमार्थसाधनः
परमपुरुषार्थसिद्धेर्वैशारद्यमपेक्षमाण एकान्तस्थितिशीलो
ध्यानपरः स्यात् । एवं कुर्वाण एव गृहस्थो ब्राह्मणो निःश्रे-
यसप्राप्त्यधिकारी भवति नान्यथा । विप्रपदस्य यौगिका-
र्थेन क्षत्रियादिगृहिणामप्युपादानं सम्भवति तथापि प्रक-
र्षगत्या मेधावित्वं यत्र दृश्यते विद्यते वा तत्रैव विशेषेण
विप्रत्वम् । अतः क्षत्रियादेरपि निःश्रेयसावाप्तिर्विप्रत्वावि-
र्भावकाल एव सम्भाव्या ॥२६०॥

भाषार्थः—(महर्षिपितृदेवानां यथाविधानृत्यं गत्वा) वेदाध्ययनरूप स्वा-
ध्याय से ऋषिऋण को, अग्निहोत्रादि देवयज्ञ से देव ऋण को और पितृयज्ञ
तथा धर्मानुकूल विवाह कर सन्तानोत्पत्ति से पितृ ऋण को चुकाकर शास्त्र में
विधान किये अनुसार उऋण ही कर (पुत्रे सर्व समासुय) घर के प्रबन्ध का
सब अधिकार पुत्र को सौंप कर (माध्यस्थमाश्रितो वसेत्) काम क्रोध लो-
भादि की मध्य दशा का आश्रय ले के अर्थात् कामादि में आसक्ति नाम चि-
त्त की फसावट को छोड़ा के समता और अहङ्कार को छोड़ के मध्यस्थ दशा में
रहे अर्थात् हानि लाभ, मानापमानादि के बीच में रहता हुआ समय व्यतीत
करे (विविक्तएकाकी नित्यमात्मनो हितं चिन्तयेत्) शुद्ध एकान्तस्थान में अ-
केला बैठ २ कर नित्य अपना हित चिन्तन किया करे अर्थात् मैं अकेला उत्पन्न
हुआ अकेला ही मरूंगा बीच में अनेक स्त्री पुत्रादि का सम्बन्ध ही गया पर
साथ कोई नहीं चलेगा अपने २ किये शुभाशुभ कर्म का सभी को फल भोगना है

इत्यादि प्रकार एकान्त में चित्त को एकाग्र कर के शौचा करे क्योंकि (एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति) अकेला बैठ २ चिन्तन करता हुआ ही धीरे २ बन्धनरूप सङ्ग छूटने से परम कल्याण को प्राप्त होता है (गृहस्थस्य विप्रस्यैषा शाश्वती वृत्तिरुदिता) गृहस्थ बुद्धिमान् ब्राह्मण की यह सनातन शिलोञ्ज, अयाचित दान लेनादि वृत्ति नाम-जीविका कही गयी (सस्ववृत्तिकरः शुभः स्नातकव्रतकल्पश्च) सस्ववृत्ति करने अर्थात् शुद्धसस्वगुणमय बुद्धि को बढ़ाने वाले स्नातक के व्रत नाम आचरण भी कहे (वेदशास्त्रविद् विप्रोऽनेन वृत्तेन वर्त्तयन्) वेदरूप अतिपवित्र शास्त्र को जानने वाला विचारशील ब्राह्मण इस पूर्व कहे प्रकार आचार विचार व्यवहार करता अर्थात् तीनों अध्याय में कहे अनुसार उन २ कामों को करता हुआ (नित्यं व्यपेतकस्मषो ब्रह्मलोके महीयते) नित्य दुराचरणों को छोड़ने वाला अवलोकन करने योग्य ब्रह्म परमात्मा में आनन्द से रहता है ॥

भा०-इस अध्याय में कहे सब विषय का इन चार श्लोकों से उपसंहार दिखाया है और ऋणरूप बन्धन हृदय सस्वन्धी जानो वही हृदय ग्रन्थि भी कहाता है „ हृदय की गांठ छूट जाती सब शंसय छिन्न हो जाते तभी रुक्ति होती है ” इस वेदानुकूल धर्मशास्त्र में उस तीन प्रकार के ऋण को चुकाने की जैसी स्पष्ट रीति कही है वैसी अन्यत्र नहीं दीखती । उन में से विशेष कर द्वितीयाध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम के साथ इन्द्रियों को बशीभूत कर के वेद का अभ्यास जपयज्ञ, सन्ध्योपासन और गुरुशुश्रूषादि सब कर्त्य ऋषि ऋण को चुकाने के लिये कहा । ब्रह्मचर्य पूरा कर सुलक्षण स्त्री से विवाह करे इत्यादि कथन से तृतीयाध्याय में विवाह, ऋतुकालाभिगमन और पितृयज्ञ, वैश्वदेव, अतिथियज्ञ तथा आहुति कर्त्य का साङ्गोपाङ्ग वर्णन पितृयज्ञ की पूर्त्त है अर्थात् स्त्री सस्वन्ध, सन्तानोत्पत्ति, वैश्वदेव अतिथिपूजनादि भी पितृयज्ञ के अवान्तर भेद हैं । इसी कारण पुत्रोत्पत्ति होते ही शास्त्रकारों ने पितृऋण का चुक जाना माना है । और चतुर्थाध्याय में जीविका के नियम स्नातक के व्रतरूप आचार के नियम तथा दान देने लेनेरूप हस्तक्रियासाध्य देवयज्ञ के अङ्गरूप देवऋण चुकाने के लिये कहे गये हैं । इस प्रकार तीनों अध्याय में कहे सभी कर्म का जो ठीक २ सेवन करता है वह तीनों ऋण से छूटता ही है वही उऋण हो कर जैसा मुक्त होता है वैसा अन्य नहीं । ऐसे तीनों ऋण चुकाने पूर्वक दृढ़ किये हैं परमा-

र्थ के साधन जिसने ऐसा हुआ परम पुरुषार्थ नाम मोक्ष की सिद्धि वा शुद्धता प्र-
 वलता चाहता हुआ एकान्त में स्थितिशील ध्यान में तत्पर रहे। गृहस्थ ब्राह्मण
 ऐसा करता हुआ ही निश्रेयस सुख पाने का अधिकारी होता अन्यथा नहीं।
 विप्रशब्द के धौगिकार्थ से क्षत्रियादि गृहस्थों का भी ग्रहण होना सम्भव है तो
 भी प्रधान मेधावी होना जहां दीखता वा विद्यमान है विशेष कर वहीं विप्र-
 पन जानो। इस से क्षत्रियादि कहाने वाले को भी विप्रत्व के आविर्भाव काल
 में ही परम कल्याणरूप मुक्ति हो सकती है ॥ २६० ॥

इति भीमसेनशर्म्मनिर्मितमानवधर्ममीमांसाभाष्ये स्नातक

व्रतवर्णनो नाम चतुर्थाध्यायः समाप्तः ॥



अथ पञ्चमाध्यायारम्भः ॥

श्रुत्वैतानृषयोधर्मान्-स्नातकस्ययथोदितान् ।
 इदमूचुर्महात्मान-मनलप्रभवंभृगुम् ॥
 एवंयथोक्तंविप्राणां-स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
 कथंमृत्युःप्रभवति-वेदशास्त्रविदांप्रभो ! ॥२॥

अ०-चतुर्थाध्याये यथोक्तान् स्नातकस्यैतान् धर्मान्
 श्रुत्वाऽनलप्रभवमग्निवंशं ब्रह्मत्वप्रधानं ब्राह्मणं महात्मा-
 नं महत्यात्मा बुद्धिरस्य तादृशं भृगुमृषयइदं वक्ष्यमाणं व-
 चञ्चुः । हे प्रभो ज्ञातुं शक्त भृगो एवमुक्तप्रकारेण यथोक्तं
 स्वधर्ममनुतिष्ठतां वेदशास्त्रविदां विप्राणां मारणाय मृत्युः
 कथं केन कारणेन प्रभवति ? ॥

भा०-अत्रानलप्रभवमिति महात्मत्वे हेतुगर्भविशेष-
 णम् । आग्नेयो वै ब्राह्मणइति वेदानुसारिब्राह्मणग्रन्थेषूप-
 लभ्यते । यथा सूर्यवंशाश्चन्द्रवंशाश्च क्षत्रिया एवमग्निवंशा
 ब्राह्मणा भवन्ति । तेजस्विनः क्षत्रियाः सूर्यवंशिनो मृदवस्तु
 चन्द्रवंशिनः सूर्यचन्द्रतत्त्वे च तयोरुत्पत्तौ विशेषतया का-
 रणभूते भवतएवं सूक्ष्ममग्नितत्त्वं येषामुत्पत्तौ कारणं ते
 ब्राह्मणा अग्निप्रभवा अग्निवंशाइत्युच्यन्ते । यत्राग्निः का-
 रणं तत्रैव ज्ञानाधिक्यं ज्ञानाधिक्यमेव च ब्राह्मणत्वम् ।
 अनलप्रभवविशेषणं चात्र भृगुनाम्नो राजर्ष्यादिर्वारणार्थम् ।

**स्वधर्मानुष्ठानं वेदज्ञानं चात्र मध्यकक्षास्थमेवापेक्षितं न
चोत्तमकक्षास्थम् ॥ २ ॥**

भाषार्थः—(यथोक्ताः स्नातककर्मैतान्धर्मान् श्रुत्वा) पूर्व चतुर्थाध्याय में कहे अनुसार स्नातक गृहस्य के इन नियमों धर्मों को सुन कर (अनलप्रभवं महा-
त्मानं भृगुम्) अग्निवंश नाम ब्राह्मणपन को प्रधानता से धारण करने वाले, महती
बुद्धि से युक्त ब्रह्म तेजधारी भृगुजी से (ऋषय इदमूचुः) ऋषियों ने यह वक्ष्य-
माण वचन कहा कि हे (प्रभो) धर्म का मर्म जानने में समर्थ भृगुजी ! (एवं
यथोक्तं स्वधर्ममनुतिष्ठतां वेदशास्त्रविदां विप्राणाम्) ऐसे आप के कहे अनुसार
अपने २ धर्म का सेवन करने और वेदरूप शास्त्र के जानने वाले विद्वान् गृहस्य
ब्राह्मणादि को (कथं मृत्युः प्रभवति) किस प्रकार मृत्यु घेर लेता वा दबा लेता है ? ॥

भा०—यहां अनलप्रभव कहना महात्मा होने में हेतुरूप विशेषण है । वे-
दानुगामी ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है कि ब्राह्मण आग्नेय नाम अग्नि तत्त्व प्र-
धान है । जैसे सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रिय होते हैं इसी प्रकार अग्निवंश
ब्राह्मण कहाते हैं । तेजस्वी क्षत्रियों का नाम पूर्वकाल से सूर्यवंशी और कोमल
शान्तिशील क्षत्रियों का नाम चन्द्रवंशी सार्थक माना गया था । क्षत्रियों में ते-
जस्वी की विशेष प्रशंसा होने से सूर्यवंशी उत्तम क्षत्रिय कहाते हैं । उन २ की
उत्पत्ति में सूर्य और चन्द्र तत्त्व प्रधानता से कारण होते इस से वे २ सार्थक
सूर्यवंशी चन्द्रवंशी कहाते इसी प्रकार सूक्ष्म-शुद्ध अग्नि तत्त्व जिन की उत्पत्ति
में पिता माता के तपस्वी होने आदि के कारण विशेषता से कारण होता है वे
ब्राह्मण अनलप्रभव वा अग्निवंशी कहाते हैं । और जहां शुद्ध अग्नि तत्त्व कारण होता
वहीं ज्ञान वा बुद्धि की अधिकता होती और ज्ञान की अधिकता ही मुख्य ब्रा-
ह्मणपन का स्वरूप है । क्योंकि सूक्ष्म शुद्ध अग्नि तत्त्व का ही कार्य ज्ञान है ।
और यहां अनलप्रभव भृगु का विशेषण किसी राजर्षि क्षत्रिय भृगु की व्यावृत्ति
के लिये है । अपने २ धर्म का सेवन और वेद का ज्ञान यहां मध्य कक्षा का ही
लेना अपेक्षित है किन्तु उत्तम कक्षा का नहीं ॥ २ ॥

सतानुवाच धर्मात्मा—महर्षिन्मानवो भृगुः ।

श्रूयतां येन दोषेण—मृत्युर्विप्रास्त्रिधांसति ॥

अनभ्यासेनवेदाना-माचारस्यचवर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च--मृत्युर्विप्रान्जिघांसति४

अ०-स मनोः सुतो धर्मात्मा भृगुस्तान् महर्षीनिदमु-
वाच येन दोषेण विप्रान्मृत्युर्जिघांसति स युष्माभिः श्रूयता-
म् । वेदानामविरतानभ्यासेन सदाचारस्य च वर्जनादाल-
स्याश्रयाद् भक्ष्यान्नदोषाच्च विप्रान् मृत्युर्मध्ये जिघांसति ॥

भा०-धर्मात्मत्वसदाचरणादिशीलानां यादृशेनायुषा भा-
व्यं तादृशाभावे कारणाच्चतुष्टमत्रोच्यते । उत्पत्तिधर्मकमनि-
त्यमिति कृत्वा सत्यपि वेदाभ्यासादौ कर्मणि मृत्युरागच्छ-
त्येव । तदा च मृत्युभयापगमात्स्वयमेवान्ते जर्जरीभूतं क-
लेवरं जिहासन्ति विप्रा न तदानीं मृत्युर्जिघांसतीति वक्तुं
युज्यते । नियमेन श्रद्धया निष्कारणो वेदाभ्यासो वेदार्था-
वगमश्च सर्वापेक्षया विशेषेणायुषः स्थापकः । वेदाभ्यासेन
वाचिका मानसाश्च मृत्योः सहकारिणो सूक्ष्मा दोषाः प्रही-
यन्ते । एवमाचारनिरालस्यत्वसात्त्विकाहारा अपि मृत्यो-
र्बाधका-अायुषः स्थापकाश्च । यथा सद्भवसनादीनां सुर-
क्षणं शुद्धिकरणं च तेषामायुषो वर्धकमेवं वेदाभ्यासादिकम-
पि सयुक्तिकमेवायुषो वर्धकम् ॥४॥

भाषार्थः-(स मानवो धर्मात्मा भृगुः) उन मनुजी के पुत्र धर्मात्मा भृगुजी
ने (तान्महर्षीनुवाच) उन श्रोता महर्षि लोगों से कहा कि (ये दोषेण
विप्रान् मृत्युर्जिघांसति) जिस दोष से धर्मनिष्ठ स्नातक ब्राह्मणों के मृत्यु मार
डालना चाहता है (श्रूयताम्) उसको तुम लोग सुनो (वेदानामनभ्यासेनाचा-
रस्य च वर्जनात्) निरन्तर नियमानुसार वेद का अभ्यास न करने और सदा-
चार का सेवन छोड़ देने वा ठीक न करने से (आलस्यादन्नदोषाच्च) आलस्य

के आधीन निरुत्साह पड़े रहने और भक्ष्यान्न के दोष अर्थात् अभक्ष्य भक्षण इन चार दोषों से (विप्रान्मृत्युर्जिघांसति) ब्राह्मणों को मृत्यु बीज में मारडालना चाहता है ॥

भा०-धर्मात्मताशील और सदाचारशील पुरुषों का जैसा वा जितना आयु होना चाहिये वैसा आयु न होने में यहां चार कारण कहे हैं। उत्पत्ति धर्म वाले सब पदार्थ अनित्य होते हैं इस न्यायनियम के अनुसार वेदाभ्यासादि कर्म के ठीक होने पर भी मृत्यु एक दिन आता ही है। परन्तु उस दशा में मृत्यु का भय छूटजाने पर जीर्ण हुए मलिन अनित्य शरीर को स्वयमेव छोड़ना चाहते हैं। उस समय में मृत्यु मारडालना चाहता है ऐसा नहीं कह सकते। नियम के साथ ऋद्धा से किया निष्कारण वेदाभ्यास और वेदार्थ का बोध सब की अपेक्षा अधिक आयु का स्थापक-रक्षक है क्योंकि वेदाभ्यास से मृत्यु के सहायकारी-मानस और वाचिक दोष छूटजाते हैं इसी के अनुसार सदाचार का सेवन आलस्य का त्याग और शुद्ध सत्त्वगुणी भोजन भी मृत्यु के बाधक और आयु के स्थापक हैं। जैसे घर वा वस्त्रादि को शुद्ध करना अच्छा रखना उन २ के अधिक ठहरने का अधिक हेतु होता ऐसे ही वेदाभ्यासादि द्वारा शरीर का ठीक रखना युक्ति पूर्वक आयु का रक्षक वर्धक है ॥ ४ ॥

लशुनंगृञ्जनंचैव पलाण्डुकवकानिच ।

अभक्ष्याणिद्विजातीना-समेधयप्रभवाणिच ॥

लोहितान् वृक्षनिर्यासान्-ब्रह्मचनप्रभवांस्तथा ।

शोलुंगव्यंचयेयूषं-प्रयत्नेनविवर्जयेत् ॥

वृथाकूसरसंयावं-पायसापूपमेवच ।

अनुपाकृतमांसानि-देवान्नानिहवींषिच ॥

अनिदशायागोःक्षीर-मौष्ट्रमैकशफंतथा ।

आविकंसन्धिनीक्षीरं-विवत्सायाश्चगोःपयः ॥

[क्षीराणियान्यभक्ष्याणि-तद्विकाराशनेबुधः ।

सप्तरात्रव्रतंकुर्यात्-प्रयत्नेनसमाहितः ॥]

आरगधानांचसर्वेषां-मृगाणांमाहिषंविना ।

इत्रीक्षीरंचैववर्ज्यानि-सर्वशुक्तानिचैवहि ॥

दधिभक्ष्यंचशुक्तेषु--सर्वचदधिसम्भवम् ।

यानिचैवाभिषूयन्ते-पुष्पमूलफलैःशुभैः ॥१०॥

अ०-लशुनादीनि प्रसिद्धानि, कवकं छत्राकं छत्राकारेण वर्षासु प्रायेण भूमौ जायमानं, अमेध्यप्रभवाणि विष्टामूत्रादिसंसर्गेणोत्पद्यमानानि कन्दमूलादीनि द्विजातीनामभक्ष्याणि । लोहितान् रक्तवर्णान्वृक्षनिर्यासान् ब्रश्चनप्रभवानलोहितानपि वृक्षनिर्यासान्वृक्षेभ्यो निर्गतान् शेलुं श्लेष्मातकफलं, गव्यं पेयूषं यत्क्षीरं शृतं सत्पिण्डीभवति तत्पेयूषपदवाच्यं तच्च दशाहानन्तरमपि कथंचित्स्यात्तदापि वर्ज्यम् । यद्वा नवप्रसूताया गोः क्षीरं दशाहावधि सामान्येन त्याज्यं विशेषतस्तु पेयूषमिति तथा च सति दशाहानन्तरं गोः क्षीरं पेयं सम्पद्यतइति विवेकः । तिलतण्डुलमुद्गमाषसंसर्गेण पक्वः कृसरः । घृतक्षीरगुडगोधूमचूर्णमिश्रीकरणेन पक्वः संयावः, पायसोऽपूपश्च प्रसिद्धान्वृथा पक्वान् वैश्वदेवोद्देशराहित्येन स्विदरपूरणायैव संपादितान्, रुधिरजत्वादनुपाकृतानि मलिनान्यसंस्कृतान्यशुद्धानि च तानि मांसानि [नच क्वापि मांसानि शुद्धानि भवन्ति किन्तु सर्वाण्येवाशुद्धानि तस्मादनुपाकृतविशेषणं तस्य हेयत्वे हे-

तुभूतमत्रमन्तव्यम् । हिंसादोषेण वर्ज्यत्वन्त्वग्रे वक्ष्यति] दे-
वान्नानि होमार्थमुद्दिष्टान्यन्नान्यपिष्टानि पक्वानि च हवींषि
धर्मविधातादभक्ष्याणि । अनिर्दशाया गोरुष्ट्रस्त्रिया एकश-
फाया बडवागर्दभ्यादेरवीनां सन्धिन्या गर्भवत्या विवत्सा-
या मृतवत्सायाश्च गोः पयो वर्जयेत् । महिष्याः क्षीरं वर्ज-
यित्वा सर्वेषामारण्यानां मृगपशूनां क्षीरं स्त्रिया मानुष्याः
सर्वशुक्तान्यस्त्रीभूतानि विकृतानि च वस्तूनि भक्षणे वर्ज्या-
नि । विकृतशुक्तेषु सर्वं दधिसम्भवं केवलं दधि च भक्ष्यम् ।
शुभैर्निर्दोषैः सात्त्विकैर्मध्यप्रभवैः पुष्पमूलफलैश्च यान्यभि-
पूयन्ते तादृशपुष्पमूलफलांशप्रधानमिश्रणेन यानि सम्पा-
द्यन्ते तान्यपि धृतानि वस्तूनि भक्ष्याणि ॥

भा०-इतः पूर्वमन्नदोषादपि सद्यो मध्ये वा मृत्युः प्र-
भवतीत्युक्तम् । वेदाभ्याससदाचारानुष्ठानालस्यत्यागादिकृ-
त्यन्तु द्वितीयादिषु सर्वत्रोक्तं वक्ष्यति च विशेषतस्तु चतुर्थे
वेदाभ्याससदाचरणयोः कर्तव्यत्वमुक्तम् । तदेव कृत्यं श्र-
द्धावीर्यसमाधिप्रज्ञापूर्वकमधिमात्रतीव्रसंवेगेन क्रियमाणं दृष्टे
जन्मन्येव मृत्योर्बाधकं सम्पद्यते । अन्नानि च दूषितानि
मृत्योरन्तरागमनहेतून्यत्र विशेषेण परिगणयन्ते । अन्नपदेन
च योगार्थत्वात्सर्वमेव खाद्यं पेयं लेह्यं चूष्यं च सामान्येन
गृह्यते । सर्वाण्येव लशुनादीन्यभक्ष्येषु परिगणितानि का-
निचिद्वाजसानि कानिचित्तामसानि कानिचिच्चोभयविधा-
नीति । सात्त्विकानि तु सर्वाण्येवान्नानि भक्ष्याणि, यथा
लशुनादीनि राजसानि कवकान्यमेध्यप्रभवाणि च ताम-

सानि रजस्तमसी वर्धयन्ति तेन च सर्वथैव धर्महानिर्मृत्योः प्राबल्यं चाहरहर्जायते । तस्माद्दुर्ममभीप्सुरन्यधर्म्यकृत्या-चरणेन सहैवाभक्ष्यमपि सर्वं वर्जयेदेव । केचिल्लशुनादि वस्तूनां निरन्तरं भक्षका अपि जरावस्थावधि जीवन्तो दृश्यन्ते तदर्थं चेदमवसेयम्-न केवलीन्द्रदोषएव मृत्योः कारणमपि तु यत्रतत्रोच्यमानानि बहूनि कारणान्येकैकमृत्यवादीनां भवन्ति तत्राल्पेषु कारणेषु सत्स्वपि केषुचित्प्रबलेषु जीवनरक्षणहेतुषु घुणाक्षरन्यायेनापि जायमानेषु यथासम्भवं जीवनं रक्ष्यतएव तैः । नच केपि लशुनादिभक्षकाजितेन्द्रियाः सम्भवन्त्यतएव नच केपि शतं वर्षाण्यपि जीवन्तो दृश्यन्ते । ग्रन्थकारस्य तु नायमाशयो यत्षष्टिः सप्ततिर्वा वर्षाणि ये यथाकथंचिद्यौवनादेव जीर्णाः सन्तो जीवन्ति तेषां मृत्युर्न प्रभवतीति । अपितु ये कारणचतुष्टयं यन्मृत्युसहयोगिकमुक्तं ततो विरुद्धं वेदाभ्यासादिकं साङ्गोपाङ्गं दीर्घकालावधि नैरन्तर्येण सत्कारेण श्रद्धया चानुतिष्ठन्ति तेषां शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकं द्विशतं त्रिशतं वा वर्षाण्यायुः सम्भवति तावत्कालं विशिष्टविघ्नाभावे मृत्युस्तान्नाक्रामति । विशिष्टदुराचरणैर्ये वाल्ये यौवने वा म्रियन्ते तदपेक्षया ये पञ्चाशद्वर्षाण्यपि जीवन्ति तेषामपि कथंचिच्छुभाचरणान्यनुमेयान्येव । केचिदन्यदुराचरणानि प्रबलानि मृत्युसहकारीणि हित्वा केवलान्यभक्ष्यभक्षणानि कुर्वन्ति तेषु कियत्कालं जीवन्तु न तेन शास्त्रे दोषः ॥ १० ॥

भाषार्थः-(लशुनं गुड्डनं चैव पलाण्डुं कवकानि च) सहस्रं गाजरं प्याजं, वर्षा ऋतुं में प्रायः छाता के समान भूमि में उगने वाले कठफूल (अमेध्य-

प्रभवाणि च) और मल मूत्रादि की अधिकता में उत्पन्न होने वाले कन्द मूल शाक आलू गोभी मूली आदि सभी वस्तु (द्विजातीनामभक्ष्याणि) द्विजाति नाम ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों को अभक्ष्य हैं खाने योग्य नहीं हैं (लोहितान् वृक्षनिर्यासान्) वृक्षों से स्वयं निकले लाल गोद (तथा ब्रश्चनप्रभवान्) और वृक्षों को गोदने से निकले अन्य रङ्ग के भी गोदों को (शैलुं गव्यं च पेयूषम्) लसीडा—लभेरा के फलों और गौ के दूध का फटा वा गिजरी को [जो दूध औटने पर फट कर कुछ जमजाता और कुछ पानी सा हो जाता है उस को पेयूष कहते हैं] (प्रयत्नेन विवर्जयेत्) विचारपूर्वक छोड़ देवे (वृथा रुसरसंयावं पायसापूपमेव च) तिल, चावल, दाल की खिचड़ी, घी, दूध, मीठा और गेहूँका आटा मिला कर बनाया—शीरा वा दूधलक्ष्मी, खीर और पुआ वा मालपुआ इन सब को वैश्वदेवादि होम का उद्देश छोड़ कर केवल अपना पेट भरने के लिये किसी ने बनाया हो तो ये सब अभक्ष्य हैं (अनुपाकृतमांसानि) अशुद्ध घृणित रुधिर से बना होने के कारण मांस सभी त्याज्य है [मांस कहीं भी शुद्ध नहीं होते किन्तु सभी अशुद्ध हैं । इस कारण अनुपाकृत मांस का विशेषण उस के त्याज्य होने में हेतुरूप मानना चाहिये । और हिंसा दोष से मांस का वर्जित होना आगे कहेंगे] (देवान्नानि हवींषि च) होम के लिये सम्हाले शीधे विना पिसे अन्नों और पिसान से पकाये हुए हविष्यान्नों को धर्म की हानि होने के कारण से न खावे (अनिर्दशाया गोः क्षीरम्) तत्काल की व्यानी गौ के दश दिन भीतर के दूध को (औष्ट्रमैकशफन्तथा) उंटिनी तथा जुड़े खुरों वाली घोड़ी गधी के दूध को (आविकं सन्धिनीक्षीरम्) भेड़ी के दूध को तथा गाभिन गौ के दूध को (विवर्सायाश्च गोः पयः) और जिस का वच्चा मर गया हो ऐसी गौ के दूध को न खावे । इसी आठवें श्लोक से आगे किसी २ पुस्तक में पीछेसे मिलीया एक श्लोक मिलता है जिस का अर्थ यह है कि [(क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः) जिस २ पशु का दूध अभक्ष्य ठहराया गया है उसर से बने खीर खोया, रबड़ी आदि को खाने वाला द्विज (समाहितः) सावधान रहता हुआ (प्रयत्नेन सप्तरात्रव्रतं कुर्यात्) प्रयत्न के साथ सप्तरात्र का सात दिन-रात में पूरा होने वाला व्रत करे] (माहिषं विना सर्वेषामारण्यानां सृगाणाम्) भैंस के दूध को छोड़ के सब वन के सृगजातिस्थ पशुओं का (स्त्रीक्षीरं चैव बर्ज्यानि) और मनुष्य स्त्री का दूध वात्यावस्था से भिन्न समय में खाना वर्जित

है (सर्वशुक्तानि चैवहि) और धरे रहने से खटाये वुसे विगड़े अन्य सभी वस्तु नहीं खाने चाहिये (शुक्तेषु दधि च वर्ज्यं सर्वदधिसम्भवं च) विगड़े खटाये वासे पदार्थों में दही और दही से बने कढ़ी आदि पदार्थ भी भक्ष्य हैं त्याज्य नहीं हैं (यानि चैवाभिषूयन्ते शाकमूलफलैः शुभैः) तथा पवित्र स्थान खेत में उत्पन्न हुए शुद्ध निर्दोष सत्त्वगुणी पुष्प मूल फलों के मेल से बने वा ऐसे पुष्पादि के आसवादि रूप में रस, शरवत आदि नाम से प्रसिद्ध धरे हुए वासे पदार्थ भी भक्ष्य हैं त्याज्य नहीं ॥

भा०— इस से पूर्व कह चुके हैं कि अन्न दोष से भी शीघ्र वा बीव में मृत्यु दबाता है। जिस के लिये वेद का अभ्यास, सदाचार और आलस्यत्यागादि के लिये जो कुछ कर्त्तव्य है वह द्वितीयाध्यायादि में सर्वत्र कहा और आगे भी कहेंगे और वेदाभ्यास तथा सदाचार की कर्त्तव्यता चतुर्थाध्याय में अनेक प्रकार से कही है। वही कर्त्तव्य अद्वा, उत्साह, सावधानता और विचारशीलता के साथ अत्यन्त लाग के साथ किया हुआ इसी जन्म में मृत्यु को रोक देनेवाला शुभफल का हेतु प्रत्यक्ष हो जाता है। और बीच में मृत्यु को बुझाने वाले दूषित अन्नों का इस प्रकरण में विशेष कर परिगणन किया है। और यौगिकार्थ मान कर अन्न पद से सामान्य कर खाने, चाबने, चूषने, चाटने, और पीने योग्य सभी अच्छे बुरों का यहां ग्रहण है इसी से अन्न के भक्ष्याभक्ष्य में मांस का विचार भी अन्तर्गत हो जाता है। लहसुन आदि अभक्ष्यों में गिनाये सभी वस्तु कोई रजोगुणी कोई तमोगुणी तथा कोई दोनों गुण वाले होते हैं। जैसे लहसुन आदि रजोगुणी और कठफूल तथा अशुद्धि में उत्पन्न हुए शाक मूलादि प्रायः तमोगुणी होते इसी से खाने वाले में रजोगुण तमोगुण को बढ़ाते हैं। तिस से सर्वथा ही धर्म की हानि और मृत्यु की प्रबलता दिन दिन होती जाती है। और सत्त्वगुणी सभी अन्न आयु के रक्षक भक्ष्य माने जाते हैं इस से धर्म चाहने वाला पुरुष अन्य धर्म सम्बन्धी आचरणों के साथ ही सब अभक्ष्यों का भी त्याग अवश्य करे। कोई लशुनादि वस्तुओं को निरन्तर सदा खाने वाले यवनादि वृद्धावस्था तक जीवित रहते दीखते हैं उन के विषय में निम्नलिखित उत्तर जानो कि केवल अन्नदोष ही मृत्यु का कारण नहीं किन्तु जहां तहां कहे दुराचरण व्यभिचारादि बहुत मृत्यु के कारण हैं उन में से थोड़े कारणों के होने पर भी घुणाक्षरन्याय से भी होने वाले जीवन की रक्षा के किन्हीं प्रबल साधनों के बन जाने पर उन से यथासम्भव जीवन की रक्षा होती ही है। लशुनादि अभक्ष्य पदार्थों

को अधिकांश खाने वाले कोई पुरुष जितेन्द्रिय नहीं हो सकते क्योंकि लक्षुना-दि कामासक्ति के उत्तेजक तथा वर्धक हैं। इसी से वैसे मनुष्य सौ वर्ष भी जीवित रहते नहीं देखते। और ग्रन्थकार का आशय यह नहीं है कि जो लोग यौवना-स्था में ही वृद्धतुल्य निर्बल होते २ जैसे तैसे साठ वा सत्तर वर्ष तक जीवित रहते हैं उन को मृत्यु नहीं दबाता किन्तु ग्रन्थ का आशय यह है कि मृत्यु के सहयोगी जो चार कारण कहे हैं उस से विरुद्ध जो लोग दीर्घकाल तक निरन्तर आ-दर अद्वा विश्वास के साथ साङ्गोपाङ्ग वेदाभ्यासादि का जिस कक्षा तक जैसा सेवन करते हैं उन का सौ वर्ष से भी अधिक दो सौ वा तीन सौ आदि वर्ष का भी आयु हो सकता अर्थात् उतने काल तक विशेष विघ्नों के न होने पर उन को मृत्यु नहीं दबा पाता परन्तु विशेष दुराचरणों की अधिकता से जो मनुष्य वात्स्यावस्था वा यौवनावस्था में ही मरजाते हैं उन की अपेक्षा पचास साठ वा सत्तर वर्ष भी जीवित रहते उन के भी कुछ शुभाचरण अनुमान से माने ही जावेंगे। तथा कोई लोग मृत्यु के सहायकारी अन्य प्रबल दुराचरणों को त्याग के केवल अभक्ष्य भक्षणमात्र करते हैं उन का जीवन किसी नियत काल तक बना रहे तो शास्त्र में कोई दोष नहीं आता ॥ १० ॥

[क्रव्यादान्शकुनीन्सर्वान् तथाग्रामनिवासिनः ।

अनिर्दिष्टांश्चैकशफां-ष्टिदिभंचविवर्जयेत् ॥

कलविड्कंप्लवंहंसं चक्राह्वंग्रामकुक्कुटम् ।

सारसंरज्जुवालंच दात्यूहंशुकसारिके ॥

प्रतुदान्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।

निमज्जतश्चमत्स्यादान् सौनवल्लूरमेवच ॥

वक्रंचैववलाकांच काकोलंखञ्जरीटकम् ।

मत्स्यादान्किडूवराहांश्च मत्स्यानेवचसर्वशः ॥

यीयस्यमांसमश्नाति सतन्मांसादुच्यते ।

मत्स्यादःसर्वमांसाद स्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौहव्यकव्ययोः ।

राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैवसर्वशः ॥
 नभक्षयेदेकचरा-नज्ञातांश्चमृगद्विजान् ।
 भक्षयेष्वपिसमुद्दिष्टान् सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥
 श्चाविधंशल्यकंगोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
 भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाम्बु-रनुष्टांश्चैकतोदतः ॥
 क्षत्राकंविड्वराहं च, लशुनंग्रामकुक्कुटम् ।
 पलाण्डुगृञ्जनंचैव मत्याजग्धवापतेद्द्विजः ॥
 अमत्यैतानिषड्जग्धवा कृच्छ्रं सान्तपनंचरेत् ।
 यतिचान्द्रायणांवापि शेषेषूपवसेदहः ॥
 संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।
 अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्यतुविशेषतः ॥
 यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्तामृगपक्षिणाः ।
 भृत्यानांचैववृत्त्यर्थं-मगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥
 बभूवुर्हिपुरोडाशा भक्ष्याणांमृगपक्षिणाम् ।
 पुराणेष्वृषियज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसत्रेषु च ॥ २३ ॥]

भा०-पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याइत्युक्ते गम्यतएतदतोऽन्येऽ-
 भक्ष्याइत्यादिवचसां महाभाष्यादिप्रामाणिकनिबन्धेषु वि-
 द्यमानत्वान्मन्यन्तएवान्ये-ऋव्यादप्रभृतिपशुपक्ष्यादीनां भ-
 क्ष्यप्रतिषेधकथनादर्थापत्याऽन्येषां भक्ष्यत्वं सिध्यत्येवेति ।
 तत्रापि-पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या-इत्यादिष्वप्राप्तेरभावान्नायं
 विधिरपितु संकीचोऽयमिति कैयटः । ये सर्वमांसभक्षणे र-
 तास्ते केषांचिदेवान्यापेक्षया शुद्धावयवप्राणिनां मांसानि
 भक्षयेयुरिति सर्वभक्षकापेक्षया तेषां प्राशस्त्यं युक्तमेवेति

मन्यन्ते । एतच्च कथनं मांसभक्षणप्रचुरप्रचारकाले कथमपि
 युक्तियुक्तमिव प्रतिभाति । तथापि ये स्वार्थसाधनाद्यध-
 र्मरताच्छलप्रपञ्चादिनापि स्वकार्यसाधनासक्तास्तेषामधर्म-
 सेवनायावलम्बरूपं कथनमिदं सम्पद्यते । तादृशाश्चार्थिनः
 सदैव मिषमन्वेषयन्ति तेनाप्यधर्ममाचरन्त्येव । तस्मात्त-
 त्संकोचपरं कथनं कथंचित्कदाचिदन्यधर्मस्य प्रचुरप्रचारा-
 वसरे केषांचिद्धर्मभीरूणामुपकारकमस्त्वित्येकदेशित्वं तस्य
 स्फुटम् । साम्प्रतं तु न कस्याप्युपकारकम् । पाठीनरोहि-
 तावाद्यौ हव्यकव्ययोर्नियुक्ताविति मत्स्यजातिद्वयस्य य-
 ज्ञमिषेण कृतापि प्रशंसा चिकित्साग्रन्थेभ्यो विरुद्धैव । तत्र
 च मांसवर्गं स्पष्टमुपलभ्यते । पाठीनः—कुष्ठरोगं करोत्यसा-
 विति । तेन स्वार्थिकृता पाठीनादीनां प्रशंसैत्यनुमीयते ।
 प्रकरणमप्येतद्विच्छद्यते । दशमपद्ये धृतविकृतवस्तुषु दध्या-
 देर्भक्ष्यत्वमुक्तं तदेष चतुर्विंशतितमपद्ये यत्किंचित्स्नेहसं-
 युक्तमित्यादिनोपसंहृतमित्येकरथैव विषयस्य व्यवहितयो-
 रपि वर्णनमुपलभ्यते । मध्ये चैकादशपद्यात् त्रयोविंशति-
 तमावध्यप्रासङ्गिकं कथनं स्पष्टमेव प्रतीयते यदि च ११-
 २३ पद्यानि निस्सार्य कश्चिद्दशमेन चतुर्विंशतितमं पद्यं
 योजयेत्तदा न किमपि निस्सृतं प्रतीयते । एवं चैषां पद्यानां
 पूर्वपक्षरूपेण धृतत्वादन्तेचोत्तरपक्षे सर्वथैव मांसस्याभक्ष्य-
 त्वप्रतिपादनात्, संकोचस्य च मांसभक्षणगर्हिनां भक्षण-
 मिषभावात्, प्रशंसितपाठीनादीनां कुष्ठादिरोगहेतुत्वात्,
 प्रकरणविच्छेदस्य स्फुटतयैव दृष्टत्वात् । इत्येवं कारण-

चतुष्टयेनैषां पद्यानां सम्यक्त्वं दुःसाध्यमनुमीयते । यदि कश्चित्संकोचार्थं मन्येत तर्हि तेन क्वचित्संकोचः कर्त्तव्यः कारयितव्यो वा । न केनापि क्रियते कार्यते वा कथनमात्रं ये मन्यन्ते तैः सर्वेषु धर्मः कथनमात्रेणोपकारकः साध्यितुमशक्य एव । अस्य च मांसभोजनविचारखण्डनस्य द्वितीयभागे मयाऽन्योऽपि निर्णयः कृतः ॥ २३ ॥

भावार्थः—(क्रव्यादान्शकुनीन्सर्वान्) कच्चा मांस खाने वाले सब पक्षियों (तथा—ग्रामनिवासिनः) तथा गांव में बसने वाले सब पक्षियों (अनिर्दिष्टां-शैकधाफान्) भक्ष्यों में न गिनाये हुए जुड़े खुरों वाले घोड़ा गधा आदि पशुओं (टिट्टिभं च विवर्जयेत्) और टिट्टिभ नाम [टिट्टुइया] टिटहरी नामक पक्षी को न खावे ॥ ११ ॥ (कलविड्कं ह्रवं हंसम्) चटक—चिड़िया, जलकौवा, हंस (चक्रा-ह्रवं ग्रामकुक्कुटम्) चकवा ग्राम वा नगर का मुर्गा (सारसं रज्जुवालं च) सारस, बड़ी गुदी (गर्दन) वाला जल के समीप रहने वाला पक्षी (दात्यूहं शुकसारिके) पपीहा, तोता और मैना को भी न खावे ॥ १२ ॥ (प्रतुदान् जालपादांश्च) चींच से तोड़ २ छोटे जीवों को खाने वाले पक्षियों उड़ते २ पड़जों से जीवों को पकड़ लेजाने वाले (कोयष्टिनखविष्करान्) कोयष्टि नामक चील्ह आदि पक्षियों नखों से खोद २ जीवों को खाने वाले पक्षियों, (निमज्जतश्च मत्स्यादान्) जल में डूब कर मछली आदि को पकड़ने खाने वाले पक्षियों (क्षीनं वहलूरमेव च) कस्सावखाने में मारे जीवों के मांस को और सूखे मांस को न खावे ॥ १३ ॥ (व-कं चैव वलाकां च) बगुला, बतक (काकोलं खञ्जरीटकम्) काकोल नामक पक्षी, खञ्जन (मत्स्यादान् विड्वराहांश्च) मछली खाने वाले पक्षियों तथा विष्ठा खाने वाले ग्राम के शूकरों (मत्स्यानेव च सर्वशः) और संपूर्ण मछलियों को न खावे ॥ १४ ॥ (यो यस्य मांसमश्नाति) जो जीव जिस के मांस को खाता (स-तन्मांसाद् उच्यते) वह तन्मांसाद् कहाता [जैसे अश्व को खाने वाला —अश्ववाद् तथा शूकर को खाने वाला शूकराद् आदि] (मत्स्याद्ः सर्वमांसाद्ः) पर मछली के मांस को खानेवाला सब के मांस का खाने वाला इस कारण है कि जल में पड़ने वाले मुर्दा, विष्ठादि सभी को मछली खाती है (तस्मान्मत्स्यान् विवर्जयेत्) तिस से मछलियों को कभी न खावे ॥ १५ ॥ (पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ)

हव्यकव्ययोः) पाठीन, रोहू (राजीवान् सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः) राजीवनासक, सिंह के से मुख वाली और त्वचा वाली मखलियां होम तथा आहु में उपयुक्त की गई हैं इस कारण भक्षण करने योग्य हैं ॥१६॥ (भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्) सामान्य कर भक्ष्यों में गिनाये भी (एकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान्) अकेले विचरने वाले सर्पादि तथा अज्ञात मृगों और पक्षियों (तथा सर्वान् पञ्चनखान् न भक्षयेत्) तथा सब पांच नख वाले वानर आदि जीवों को भी न खावे ॥१७॥ (श्वविधं शल्यकं गोधाम्) सेही, कांटे के तुल्य रोमों वाले जीवों, गोह (खड्गकूर्मशशांस्तथा) गेंडा, कछुआ और खरहा (पञ्चनखेषु भक्षयानाहुः) पांच नख वालों में उक्त सेही आदि को पूर्वजों ने भक्षण करने योग्य कहा है (अनुष्टुप्त्रैकतोदतः) तथा एक जंठ की छोड़ के एक और दांतों वाले अन्य पशु भी भक्ष्य हैं ॥ १८ ॥ (छत्राकं विड्वराहं च) कठफूल विष्टाभक्षी शूकर (लशुनं ग्रामकुक्कुटम्) लहसुन, ग्राम वा नगर का मुर्गा (पलाण्डुं गृञ्जनं चैव) प्याज और गाजर इन सब को (मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः) समझपूर्वक खाने से द्विज पतित हो जाता है ॥ १९ ॥ (अमत्यैतानि षड्जग्ध्वा) इन कठफूल आदि जड़ों को भूल से खाले तो (कृच्छ्रं सान्तपनं यतिचान्द्रायणं वापि चरेत्) द्विज पुरुष ग्यारहवें अध्याय में कहे अनुसार कृच्छ्र सान्तपन वा यतिचान्द्रायणव्रत शुद्धि के लिये करे (शेषेषूपवसेदहः) शेष छः से भिन्न अभक्ष्यों के भूल से खा लेने में केवल एक दिन उपवास करे ॥२०॥ (संवत्सरस्यैकमपि चरेत् कृच्छ्रं द्विजोत्तमः) ब्राह्मणादि द्विजों में उत्तम धर्मनिष्ठ पुरुष को वर्ष भर में न्यूनसे न्यून एक कृच्छ्रसान्तपन व्रत (अज्ञानभुक्तशुद्ध्यर्थम्) भूल से अभक्ष्य भक्षण किये की शुद्धि के लिये करना चाहिये और (ज्ञातस्य तु विशेषतः) जान कर अभक्ष्य का भक्षण किया हो तब तो अवश्य ही प्रायश्चित्त करे ॥ २१ ॥ (प्रशस्ता मृगपक्षिणो ब्राह्मणैर्यज्ञार्थं वध्याः) यज्ञ के लिये ब्राह्मणों को अच्छे २ मृग और पक्षी मारने चाहिये क्योंकि (भृत्यानां चैव वृत्यर्थं पुराणस्त्यो ह्याचरत्) स्त्री पुत्रादि तथा अपने पालन पोषणार्थं अगस्त्य ऋषि ने भी पूर्वकाल में मृग और पक्षी मारे थे ॥२२॥ (पुराणेष्वपियज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च) पूर्वकाल में हुए ऋषियों के यज्ञों तथा ब्राह्मणपन क्षत्रियपन प्रकट करने वाले बड़े २ यज्ञों में (भक्ष्याणां मृगपक्षिणां पुरोडाशा बभूवुर्हि) भक्षण करने योग्य मृग और पक्षियों के पुरोडाश नाम यज्ञ में चढ़ाये जाने योग्य हविष्य विशेष हुए हैं । इस से अच्छे २ मृगपक्षी ब्राह्मणों को मारने खाने चाहिये ॥२३॥

भा०—“पांच नखों वाले पांच भक्ष्य हैं ऐसा कहने पर जाना जाता है कि इन से अन्य अभक्ष्य हैं” महाभाष्यादि प्रामाणिक पुस्तकों में इत्यादि वचनों के विद्यमान होने से अन्य लोग ऐसा ही मानते हैं कि क्रव्यादों से लेकर पशुपक्षी आदि के अभक्ष्य परिगणन की अर्थापत्ति से अन्यो का भक्ष्य होना सिद्ध ही है। उस में भी पांच नख वाले पांच भक्ष्य हैं इत्यादि कथन में अप्राप्ति का अभाव होनेसे [अर्थात् मांस भक्षणादि दुराचार स्वभाव से ही प्राप्त हैं और प्राप्ति में विधि होता नहीं किन्तु अप्राप्ति में विधि और प्राप्ति में निषेध होता है] विधि नहीं है किन्तु यह संकोच है कि जिन २ का निषेध किया गया उन २ का मांस खाने से बचेगा तो कम अपराधी होगा तो अधर्मसंकुचित होगया। अर्थात् जो सब का मांस खाने में तत्पर हैं वे अन्यों की अपेक्षा शुद्ध अवयवों वाले किन्ही प्राणियों का मांस खावें तो सर्वभक्षकों की अपेक्षा से उन की प्रशंसा होना युक्त ही है ऐसा मानते हैं। यह कहना मांस भक्षण का अधिक प्रचार होने के समय किसी प्रकार युक्तियुक्तसा प्रतीत होता है। तथापि जो लोग स्वार्थसाधनादि अधर्म में रत होते और छलप्रपञ्चादि के द्वारा भी अपना कार्य साधने में लगे होते हैं उन को अधर्म सेवन के लिये यह संकोच सम्बन्धी कथन सहारा होजाता है वैसे स्वार्थी लोग सदा ही मांस भक्षणादि अनर्थ के लिये बहाना खोजते और उस बहाने से भी दुराचरण करते ही हैं। तिस से वह संकोचपरक कथन कैसे ही कभी अन्य धर्म के अधिक प्रचार के समय किन्हीं धर्मभीरु पुरुषों का उपकारक हो तो भी एकदेशी होता है परन्तु अब वर्तमान में वैसे विचार किसी का उपकारी नहीं है। पाठीन और रोहू दो मछली जाति हव्य कव्य में नियुक्त होने से भक्ष्य हैं यहां यज्ञ के बहाने से प्रशंसा की भी गई पर चिकित्सा ग्रन्थों से विरुद्ध ही है क्योंकि सुश्रुत के मांसवर्ग में लिखा है कि पाठीन मछली का मांस कुष्ठ रोग को उत्पन्न करता है। तिस से सिद्ध होता है कि स्वार्थी लोगों ने मत्स्यमांसादि की प्रशंसा लिखदी है।

और इस क्रव्यादादि जन्तुओं के निषेध से प्रकरण भी विगड़ता है क्योंकि दशवें श्लोक में, धरे रहे खटाये विगड़े वस्तुओं में दही आदि को भक्ष्य कहा और वही विषय चौबीसवें पद्य में (यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं०) इत्यादि कथन से समाप्त किया इस प्रकार १० तथा २४ में एकही विषय का वर्णन मिलता है। पर बीच में ग्यारहवें श्लोक तक अप्रसङ्ग का कथन स्पष्ट ही प्रतीत होता है। यदि कोई ११—२३ तक श्लोकों को निकाल वा छोड़ कर दशवें के साथ चौबीसवें श्लोक

को जोड़े तब निकला कुछ भी नहीं जान पड़ता । इस प्रकार इन श्लोकों को ग्रन्थकारने पूर्वपक्ष रूप से रक्खा, उत्तर पक्ष में आगे सर्वथा ही मांस का अभक्ष्य होना प्रतिपादन किया, संकोच भी मांसभक्षियों का बहाना होने से, प्रशंसा किये पाठीनादि कुष्ठादि रोगों के हेतु होने और प्रकरण विरोध के स्पष्ट दीख पड़ने से इन चारों कारणों से इन ११-२३ तक श्लोकों का सम्यक् ठहरना दुःसाध्य जान पड़ता है किन्तु प्रक्षिप्त होना सिद्ध हो जाता है । यदि कोई इन श्लोकों को संकोचार्थ माने तो उस को कहीं संकोच स्वयं कर वा करा के दिखाना चाहिये । जब करता कराता कोई कुछ नहीं केवल कथन मात्र मानते हैं उन का सभी धर्म कथनमात्र उपकारक सिद्ध करना धर्म के खण्डनार्थ हो जायगा । मांस भोजन विचार खण्डन के द्वितीय भाग (मेरे बनाये) में और भी अधिक निर्णय इन श्लोकों के विषय में लिखा गया है ॥ २३ ॥

यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं-भक्ष्यंभोज्यमगर्हितम् ।

तेत्पर्युषितमप्याद्यं-हविःशेषंचयद्भवेत् ॥

चिरस्थितमपित्वाद्य-मस्नेहाक्तंद्विजातिभिः ।

यवगोधूमजंसर्वं-पयसश्चैवविक्रिया ॥

एतदुक्तंद्विजातीनां-भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।

मांसस्यातःप्रवक्ष्यामि-विधिंभक्षणवर्जने ॥२६॥

अ०—यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं स्नेहसंयोगेन पक्वमगर्हितं केशकीटश्वादिभिरदूषितत्वादिनिन्दितं भक्ष्यं भोज्यं वा भवेद्दुःहविःशेषं वा यद् भवेत्तत्पर्युषितमपि सर्वमाद्यं न तद्भक्षणो कापि धर्महानिरस्ति । द्विजातिभिर्यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया तद्द्वयमस्नेहाक्तं चिरस्थितमपि त्वाद्यं भोज्यं कदाचिच्छीतादिकाले नतु ग्रीष्मवर्षासु तदप्यगर्हितं चेत् । द्विजातीनामेतद्भक्ष्याभक्ष्यमशेषत उक्तम् । अतः परं भक्षणवर्जने मांसस्य विधिं प्रवक्ष्यामि । भक्षणस्य वर्जनं भक्षणवर्जनमिति तत्पुरुषो नतु द्वन्द्वः ॥

भा०—हविःशेषमल्पस्नेहयुक्तमपि पर्युषितं भक्ष्यं स्नेहसंयुक्तमन्यत्तु विशेषतः स्नेहेन व्याप्तमेवाद्यम् । अयं तु पर्युषिते प्रधानोऽपवादः । मध्यदशायां तु यवगोधूमजं स्नेहरहितमपि तादृशं तक्रादिकं च कदाचित्ततो निकृष्टाभक्ष्यापेक्षया मध्यस्थैर्भक्ष्यं यावता कालेनान्यानन्नविकारो यादृशो विक्रियतेऽभक्ष्यो जायते न तावता तादृशं यवगोधूमजं विकृतं भवत्यतोऽन्याननापेक्षया तस्य कदाचित्कस्यचिद्भक्ष्यत्वमुक्तम् । न सद्यः पक्वापेक्षया तस्य प्राशस्त्यं साम्यं वात्र ग्रन्थकृता विवक्षितम् । अत्रावधिद्विजातीनां भक्ष्यमभक्ष्यं चोक्तमग्रे मांसभक्षणस्य वर्जनेविधिं प्रवक्ष्यामीतिप्रतिज्ञा, द्वन्द्वसमासे द्विवचनेन भाव्यं प्रथमाद्वितीययोर्द्विवचनार्थ एव नास्ति सप्तमी चात्र निमित्तार्थेऽवगन्तव्या । मांसभक्षणस्य वर्जनार्थं विधिं वक्ष्यामि, एवं पूर्वाक्तानां ११—२३ पद्यानां वक्ष्यमाणानां २७—४४ पद्यानां च प्रक्षिप्तत्वसिद्धावितः पूर्वं नास्ति मांसभक्षणविषयको विचारोऽग्रेऽपि पूर्वपक्षस्थो विचारः सर्वः खण्डित एवातो मांसभक्षणवर्जनस्यैव विधानं नतु क्वापि भक्षणस्येति ॥ २६ ॥

भाषार्थः—(यत्किञ्चिद्गर्हितं स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यम्) जो कुछ बाल, कीड़ा पड़ने वा कुत्ता आदि से दूषित न होने के कारण लौक वा शास्त्रानुकूल निन्दित न हो ऐसा घी आदि चिकनाई के संयोग से पकाया सेव, पापड़ आदि कड़ा भक्ष्य और मोहनभोग आदि कोमल भोज्य (तत्पर्युषितमप्याद्यम्) ऐसा वासी धरा हुआ भी अन्न भक्ष्य खाने योग्य है (हविःशेषं च यद्भवेत्) और यज्ञ करने से वचा शेष हविष्यान्न थोड़ी चिकनाई से युक्त ही तो भी भक्ष्य है (द्विजातिभिर्यवगोधूमजं सर्वमस्नेहाक्तं चिरस्थितमपि त्वाद्यम्) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों को गेहूं

जौ से बना चिकनाई से रहित अधिककाल का धरा हुआ वासी भी सब अन्न खा लेना चाहिये (पयसश्चैव विक्रिया) और दूध से बना खीर आदि धरा हुआ अन्न भी भक्ष्य है । परन्तु कभी २ शीतकालादि में ऐसा धरा अन्न खावे किन्तु ग्रीष्म और वर्षा में वह भी शीघ्र विकारी होजाने से अभक्ष्य है । तथा पूर्व से अग्रहित पद की भी अनुवृत्ति इस में माननी चाहिये कि जो दूषित न हुआ हो (द्विजातीनामेतद् भक्ष्याभक्ष्यमशेषतउक्तम्) द्विजातियों के लिये यह पूर्वोक्त भक्ष्याभक्ष्य सब कहा गया (अतः परं भक्षणवर्जने विधिं प्रवक्ष्यामि) इस से आगे मांस खाने के निषेध में विधि कहेंगे कि मांस खाना क्यों निषिद्ध है ॥

भा०—अल्पस्नेह युक्त वा सर्वथा स्नेहरहित भी वासी धरा शेष हविष्यान्न भक्ष्य है यही जताने के लिये हविः को यहां पृथक् कहा है । इसी के अनुसार हविष्य से भिन्न अन्न विशेष कर स्नेह से व्याप्त होने पर भक्ष्य माना जायगा । वासी अन्न न खाने के उत्सर्गरूप निषेध का यह तो मुख्य अपवाद है सो भी तत्काल पकाये घृतयुक्त पूरी आदि की अपेक्षा धरा हुआ स्नेहयुक्त अन्न भी निकृष्ट वा अभक्ष्य ही माना जायगा पर चिकनाई रहित धरे अन्न की अपेक्षा अच्छा और भक्ष्य होगा । परन्तु जौ गेहूं से बना रोटी आदि स्नेह रहित भी धरा अन्न मध्य कक्षा में भक्ष्य है क्योंकि अन्य अन्नों की अपेक्षा इन में स्वाभाविक भी चिकनाई अधिक है इसी कारण धरे रहने पर भी अन्यो के समान गेहूं जौ की रोटी आदि नहीं बिगड़ते पर तत्काल पकाये की अपेक्षा तो धरे निकृष्ट ही माने जावेंगे । और धरे चावल दाल आदि की अपेक्षा बीच की कक्षा में भक्ष्य भी माने जायेंगे । इस लिये अन्य धरे हुए अन्नों की अपेक्षा गेहूं जौ का बना कोई २ रोटी आदि अन्न कभी २ शीतकालादि में किसी मध्यम के लिये भक्ष्य है जिस को सद्यः पक्व प्राप्त न होसके किन्तु सब को सब समय सब अन्न भक्ष्य नहीं । यहां तक द्विजातियों का भक्ष्याभक्ष्य कहा । अब आगे मांस खाने के निषेध में विधि कहेंगे । यदि यहां भक्षण वर्जन शब्दों का द्वन्द्व समास करें तो द्विवचन विभक्ति होनी चाहिये । और प्रथमा द्वितीया विभक्ति के द्विवचन का अर्थ यहां घटता नहीं इस लिये निमित्तार्थ में सप्तमी विभक्ति माननी चाहिये कि भक्षण के वर्जनार्थ विधि कहेंगे । इस प्रकार पूर्व कहे ११ से २३ तक और आगे कहे २७ से ४४ तक श्लोकों के प्रक्षिप्त ठहर जाने पर इस से पूर्व मांसविषयक विचार जानी है ही नहीं इसी से (अब मांस के विषय में कहेंगे ऐसी प्रतिज्ञा करना बन सकता है और यदि पूर्व से ही मांस के विषय में विचार चला मानें तो (अब क-

हेंगे) ऐसा कथन प्रमत्तवाक्य के समान होजावे । और आगे भी पूर्वपक्षस्य विचार का उत्तरपक्ष में स्वयं खण्डन करेंगे इस कारण निषेध का ही विधान है भक्षण का नहीं ॥ २६ ॥

[प्रोक्षितंभक्षयेन्मांसं-ब्राह्मणानांचकाम्यथा ।
यथाविधिनियुक्तस्तु-प्राणानामेवचात्यये ॥
प्राणस्यान्नमिदंसर्वं-प्रजापतिरकल्पयत् ।
स्थावरंजङ्गमंचैव-सर्वंप्राणस्यभोजनम् ॥
चराणामन्नमचरा-दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्रसहस्तानां-शूराणांचैवभीरवः ॥
नात्तादुष्यत्यदन्नाद्यान्-प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैवसृष्टाह्याद्याश्र-प्राणिनोऽत्तारएवच ॥
यज्ञायजग्धिर्मांसस्ये-त्येषदैवोविधिःस्मृतः ।
अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तु-राक्षसोविधिरुच्यते ॥
क्रीत्वास्वयंवाप्युत्पाद्य-परोपकृतमेववा ।
देवान्पितृंश्चार्चयित्वा-खादन्मांसंनदुष्यति ॥
नाद्यादविधिनामांसं-विधिज्ञोऽनापदिद्विजः ।
जग्ध्वाह्यविधिनामांसं-प्रेत्यतैरद्यतेऽवशः ॥
नतादृशंभवत्येनो-मृगहन्तुर्धनार्थिनः ।
यादृशंभवतिप्रेत्य-वृथामांसानिखादतः ॥
नियुक्तस्तुयथान्यायं-योमांसंनान्तिमानवः ।
सप्रेत्यपशुतांयाति-संभवानेकविंशतिम् ॥
असंस्कृतान्पशून्मन्त्रै-र्नाद्याद्विप्रःकदाचन ।
मन्त्रैस्तुसंस्कृतानद्या-च्छाश्वतंविधिमास्थितः ॥

कुर्याद्दघृतपशुसङ्गे-कुर्यात्पिपष्टपशुतथा ।
 नत्वैवतुवृथाहन्तुं-पशुमिच्छेत्कदाचन ॥
 यावन्तिपशुरोमाणि-तावत्कृत्वोहमारणम् ।
 वृथापशुघ्नःप्राप्नोति-प्रेत्यजन्मनिजन्मनि ॥
 यज्ञार्थंपशवःसृष्टाः-स्वयमेवस्वयंभुवा ।
 यज्ञस्यभूत्यैसर्वस्य-तस्माद्यज्ञेवधोऽवधः ॥
 ओषधयःपशवोवृक्षा-स्तिर्यञ्चःपक्षिणस्तथा ।
 यज्ञार्थंनिधनंप्राप्ताः-प्राप्नुवन्त्युच्छ्रुतीःपुनः ॥
 मधुपर्कंचयज्ञेच-पितृदैवतकर्माणि ।
 अत्रैवपशवोहिंस्या-नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥
 एष्वर्थेषुपशून्हिंसन्-वेदतत्त्वार्थविद्द्विजः ।
 आत्मानंचपशुंचैव-गमयत्युत्तमांगतिम् ॥
 गृहेगुरावरण्येवा-निवसन्नात्मवान्द्विजः ।
 नावेदविहितांहिंसा-मापद्यपिसमाचरेत् ॥
 यावेदविहितांहिंसा-नियतास्मिंश्चराचरे ।
 अहिंसामेवतांविद्याद्-वेदाद्गर्माहिनिर्वभौ ॥ ४४ ॥]
 अ०-प्रोक्षितं यज्ञे मन्त्रैः पूतम्, नियुक्तः शास्त्रतः ।
 प्राप्नानुज्ञः, अत्यये-भक्ष्येऽनुपलब्धे प्राणेषु निःसरत्सु-च-
 राणां मनुष्यादीनामचराः स्थावरा वृक्षादयोऽन्नम्, दंष्ट्रि-
 णामतिशयेन छेदनसाधना दशना येषां विद्यन्ते तेन सामा-
 न्यदशनवतां हरिणादीनां व्यावृत्तिः सिंहादीनां चोपादानम्,
 अदंष्ट्रिणी हरिणादयः, सहस्तानां मनुष्यादीनामहस्ता म-
 त्स्यादयोऽन्नम् । अन्ताऽऽद्यान् प्राणिनोऽहन्यहन्यप्यदन्नं दु-

प्यति यतोऽत्तार आद्याश्च धात्रैव सृष्टाः । परोपकृतं परे-
 णान्येनानीय प्रत्तम्, विधिज्ञो द्विजोऽनापद्यविधिनामांसं ना-
 द्यादपि त्वनापदि विधिनाऽद्यादापदि चाविधिनाप्यद्यादित्ये-
 तद्द्वयमर्थादापद्यते । वृथा यज्ञमन्तरेण खादतो हन्तुरपेक्ष-
 यापि पापाधिक्यम् । नियुक्तस्तु यथान्यायमित्ययं निन्दा-
 र्थवादः । सङ्गे यज्ञे घृतपशुं कुर्यात्पशुविकारभूतं घृतमेव
 पशुस्तं पिष्टमेव पशुरूपं वा कुर्यात् । वृथा पशुं हन्तुमन्य-
 था सिद्धेऽपि प्रयोजने कदापि न त्वैव त्विच्छेत् । वृथा प-
 शुव्रः प्रेत्य जन्मनि जन्मनि यावन्ति म्रियमाणस्य पशोरो-
 माणि भवन्ति तावत्कृत्वस्तावद्वारं मारणं हावश्यं प्राप्नोति ।
 निधनं मरणमुच्छ्रतीरुत्कृष्टा जातीः । अवेदविहितां हिंसां
 नाचरेदपितु वेदविहितां कामं समाचरेदित्यर्थापत्तिः । सु-
 खेन ज्ञातुं शक्यमन्यत् ॥

भा०-इमान्यष्टादश पद्यानि केषामप्यन्येषां मतप्रका-
 शनपराणि पूर्वपक्षत्वेन ग्रन्थकृता धृतानि, अतएवोत्तरपक्षे
 सर्वथैव मांसभक्षणनिषेधं वक्ष्यति । यत्र हि पूर्वकथनाद-
 परं कथनं सकारणं भिद्यते तत्र भवत्येव पक्षद्वयम् । अतो यज्ञे
 मांसप्रयोगो भक्षणं वा कार्यमिति नेदं मनोर्भृगोर्वा मतमपि
 त्वहिंसाधर्ममर्माविजानतः कस्याप्यन्यस्यैवेदं कथनमिदम् ।
 तथाचोक्तं महाभारतमोक्षधर्मपर्वणि „सर्वकर्मस्वहिंसां हि
 धर्मात्मा मनुरब्रवीत् । कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशू-
 न्नराः ॥” ग्रन्थनिर्माणादनन्तरं वा कैश्चिन्मांसभक्षणलोलु-
 पैर्हिंसाऽत्र यज्ञमिषेण प्रवेशिता । पक्षद्वयेऽपि सिद्धान्वाद-

रूपं प्राणस्यान्नमित्यादिपद्यद्वयं मांसभक्षणदोषाणायाऽत्र लिखितमतो हेयत्वमापद्यते । यदि चैतदेव पद्यद्वयमन्यत्रोपलभ्येत तदा नैव हेयं स्यात् । यथा च स्तेना अस्तेनास्ते पदार्थाश्च धात्रैव सृष्टास्तथापि धातृसृष्टत्वहेतोश्चैरा निर्दोषा न भवन्ति तथैव धातृसृष्टत्वं मांसभक्षणदोषापगमे हेतुर्न सम्भवति । एवं यद्यपि विशिष्टहिंसाऽपवित्रतादिदोषयुक्तमांसभक्षणापेक्षया कस्याप्यल्पहिंसादिदोषयुक्तं मांसभक्षणं दैवरूपमस्तु तथापि मांसत्यागापेक्षया तस्य सर्वस्यैव राक्षसविधित्वमस्त्येव । एवं च न यज्ञमिषेण मांसभक्षणं कदापि दैवं सम्भवति । सर्वत्रैव मांसत्यागापेक्षया भक्षणं तस्य दोषकरमधर्मजनकं चेति सर्वानुमतं सुस्थिरं चैषां पद्यानां कथमपि प्रक्षिप्तत्वाभावपक्षेऽपीति सिद्धान्तोऽव्याहृतः ॥ ४४ ॥

भाषार्थः—(यथाविधि नियुक्तस्तु) शास्त्रीय नियम से बहु हुआ गृहस्थ पुरुष (प्रोक्षितं मांसं भक्षयेत्) यज्ञ में मन्त्रों से पवित्र किये मांस को खावे (ब्राह्मणानां च काम्यया) ब्राह्मणों की कामना से—खाने की आज्ञा जताने से और (प्राणानामेव चात्यये) खाने को कुछ न मिलने पर प्राण निकले जाते हों तो इन तीन दशाओं में मांस खालेवे (प्रजापतिरिदं सर्वं प्राणस्यान्नमकल्पयत्) प्रजापति परमात्मा ने इस सब रयिपद वाच्य संसार को प्राण का अन्न नाम भोजन नियत किया है (स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वंप्राणस्य भोजनम्) अर्थात् स्थावर—अचर और जङ्गम चर सभी प्राण नाम तैजस शक्तिरूप जाठराग्नि का भोजन है। कोई किसी को और कोई किसी को खाता है इस प्रकार सभी खाने वाले और सभी खाये जाते हैं । उन में प्राण भक्षक और रयिभक्ष्य है (चराणामचराअन्नम्) मनुष्य वा गौ आदि चर प्राणियों का स्थावर औषधि वनस्पति घास तृणादि अन्न है (दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः) प्रबल वा बड़े २ दांतों—डाढ़ों वाले सिंह व्याघ्र भेड़िया, विल्ली आदि का निर्बल वा छोटे दांतों वाले हिरण, भेड़ी, बकरी वा

मूषा आदि अन्न नाम भक्ष्य है । अतिशयार्थ में मत्वर्थ इन् प्रत्यय होने से सामान्य दांतों वाले हिरन आदि यहां दंष्ट्री नहीं कहाते (सहस्तानामहस्ताश्च) हाथों वाले नाम पकड़ने की अच्छी प्रबल जालादि शक्ति रखने वाले मनुष्यादि का अन्न विन हाथों वाले मछली आदि जीव जन्तु हैं (शूराणां चैव भीरवः) शूर नाम बलवान् हिंसकों का अन्न भीरु डरपोक प्राणी हैं (आद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यप्यदन्नत्तान दुष्यति) मांस खानेवाला खाने योग्य प्राणियों को प्रति दिन खाता हुआ भी दोषी वा पापी नहीं होता (हि) क्योंकि (आद्याश्च प्राणिनोऽन्तारएव च धात्रैव सृष्टाः) भक्ष्य तथा भक्षक दोनों प्रकार के प्राणी धाता विधाता ईश्वर ने ही रचे हैं [इस का आशय यदि यह माना जाय कि मनुष्य का भक्ष्य ओषधि फल—अन्न, कन्द, मूल, शाकादि हैं, सिंह के अन्य मृग, विल्ली के भक्ष्य मूषे इत्यादि प्रकार जो २ जिस २ का भक्ष्य है वह २ उसी २ से जीवित रह सकता है इस कारण जिस का जो भक्ष्य है वह उस के लिये निषिद्ध होता तो ईश्वर उस २ का वह २ भक्ष्य क्यों नियत करता इस कारण अथवा २ भक्ष्य उस २ को खानेमें दोष वा पाप नहीं है जानो उस २ प्राणी को वह २ खावे यह ईश्वर की आज्ञा ही है इस कारण उस २ को दोष नहीं तो यह श्लोक निर्दोष माना जासकता है] (यज्ञाय मांसस्य जग्धिः) यज्ञ करने में मांस का खाना (इत्येष दैवो विधिः स्मृतः) यह दैव नाम उत्तम विधि-आज्ञा मानी गई है (अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तु राक्षसी विधिरुच्यते) इस से भिन्न लालच आदि से मांस खाना अर्थात् केवल खाने के लोभ से हिंसा करना कराना राक्षसी विधान वा रीति है (क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य) किसी से मूल्य दे मांस लेकर वा स्वयं मार के सन्पादित किये मांस को (परोपकृतमेव वा) वा किसी ने लाकर दिये मांस को (देवान् पितृश्चार्चयित्वा) होम वा आहु करने पश्चात् (मांसं खादन्न दुष्यति) मांस को खाता हुआ पुरुष दूषित नहीं होता (विधिज्ञो द्विजोऽनापद्यविधिना मांसं नाद्यात्) कहां किस का मांस खाने की आज्ञा है कहां नहीं इस को जानने वाला ब्राह्मणादि द्विज आपत्काल से भिन्न समय में यज्ञ वा आहु किये विना मांस न खावे किन्तु आपत्काल न होने पर यज्ञ में मांस खावे और आपत्काल में यज्ञ किये विना भी प्राणरक्षार्थ मांस खालेवे यह दो प्रकार का विचार यहां अर्थापत्ति से सिद्ध है (अविधिना मांसं जग्ध्वा) यज्ञ किये विना जिन प्राणियों का मांस यहां खाता है (तैरवशः प्रेत्याद्यते) जन्मान्तर में उन्हीं प्राणियों

से वह पराधीन हुआ खाया जाता है (धनार्थिनो मृगहन्तुस्तादृशमेनो न भवति) मांस चर्म वेच कर धनार्जन करने के लोभ से मृगादि पशुओं को मारने वाले को वैसा अपराध वा पाप नहीं लगता (यादृशं वृथा मांसानि खादतः प्रेत्य भवति) जैसा कि पाप विना यज्ञ किये मांस खाने वाले को जन्मान्तर में होता है (यथान्यायं नियुक्तस्तु) योग्यतानुसार यज्ञ करने में नियत हुआ (यो मानवो मांसं नात्ति) जो मनुष्य मांस नहीं खाता (स प्रेत्य पशुतां याति संभावेनेकत्रिंशतिम्) वह पुरुष मरने पश्चात् इक्कीस जन्मों तक पशु योनि में जन्मता मरता है (मन्त्रैरसंस्कृतान् पशून् विप्रः कदाचन नाद्यात्) मन्त्रों के द्वारा जिन की शक्ति न की गई हो ऐसे पशुओं के मांस को ब्राह्मण कभी न खावे (शाश्वतं विधिमास्थितो मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्यात्) और सनातन शास्त्र की आज्ञा पर चलता हुआ मन्त्रों द्वारा पवित्र हुए पशुओं के मांस को भले ही खावे (सङ्गे घृतपशुं कुर्यात्तथा पिष्टपशुं कुर्यात्) यज्ञ में पशु के शरीर से उत्पन्न हुए घृत को ही पशु मान कर प्रयोग करे अथवा पिष्टनाम पिसान-आटा को ही पशु मान कर यज्ञ करे (वृथा पशुं हन्तुं कदाचन न त्वैव त्विच्छेत्) प्रयोजन के अन्यथा सिद्ध हो जाने पर भी अर्थात् घृत वा पिसान को पशु मान कर यज्ञ हो सकता है तब साक्षात् पशु को मारने की कदापि इच्छा न करे (वृथा पशुघ्नः प्रेत्य जन्मनि जन्मनि) प्रयोजन के विना व्यर्थ यज्ञादि के वहाने से पशुओं को मारने वाला पुरुष मरने पश्चात् प्रत्येक जन्म में (यावन्ति पशुरीमाणि तावत्कृत्वो मारणं हं प्राप्नोति) मारे गये पशु पर जितने रीस होते वा होवें उतने वार अवश्य मारा जाता है (यज्ञार्थं स्वयम्भुवा स्वयमेव पशवः सृष्टाः) स्वयंभू नाम ब्रह्मा जी ने अपने आप ही किसी की प्रेरणा के विना यज्ञ के लिये पशुओं को बनाया है (सर्वस्य यज्ञस्य भूत्यै) इस संसाररूप सब यज्ञ की शोभा वा पुष्टि के लिये भी ब्रह्मा ने यज्ञार्थं पशुओं को रचा (तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः) तिस से यज्ञ में पशुवध करना हिंसा नहीं है (ओषधयः पशवो वृक्षास्तिर्यङ्गुः पक्षिणस्तथा) ओषधियां, पशु, वृक्ष, सांप, गोह आदि तिर्यक् और पक्षी इत्यादि सब प्राणी (यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः) यज्ञ के लिये मृत्यु को प्राप्त हुए (पुनरुच्छ्रिताः प्राप्नुवन्ति) फिर जन्मान्तर में उत्तम योनियों वा जातियों में जन्म पाते हैं अर्थात् यज्ञ के लिये मारे जाने में नीच योनि छूट जाती है (मधुपर्कं च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि अत्रैव पशवो हिंसया नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः) मधुपर्क में यज्ञ में आदुरूप पितृयज्ञ

में और देवकर्मादेश से किये सामान्य होम ब्रह्मभोजादि में इतने ही अवसरों पर पशुओं की हिंसा करनी चाहिये अन्यत्र नहीं यह मनु जी ने कहा है (वेदतत्त्वार्थविद् द्विज एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्) वेद के तत्त्व सिद्धान्त को ठीक जानने वाला ब्राह्मणादि इन मधुपर्कादि प्रयोजनों के लिये पशुओं को मारता हुआ (आत्मानं च पशुं चैवोत्तमां गतिं गमयति) अपने आप और पशु दोनों को उत्तम गति को प्राप्त कर देता है (आत्मवान् द्विजो गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्) जितेन्द्रिय विचारशील ब्राह्मणादि जन घर में, गुरु के समीप वा तपोवन में बसता हुआ (आपद्यप्यवेदविहितां हिंसां नाचरेत्) आपस्काल में भी वेद में न कही हुई हिंसा को कदापि न करे (या वेदविहिता हिंसाऽस्मिंश्चराचरे नियता) जो वेद में कही हिंसा इस चराचर जगत् में नियत ही रही है (अहिंसा मेव तां विद्यात्) उस को अहिंसा ही जानो क्योंकि (वेदादुर्मा हि निर्वभौ) वेद से ही धर्म निकला प्रकाशित हुआ है [यदि इन अन्तिम दोनों श्लोकों का आशय यह ठहर जावे कि हिंसा का सामान्यार्थ अन्य प्राणियों को कष्ट पहुंचाना है केवल मार डालना ही हिंसा नहीं। इसी के अनुसार योगभाष्य में कहा व्यास जी का "सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनतिद्रोहः" सब प्रकार सब काल में सब प्राणियों से द्रोहबुद्धि का दूटना अहिंसा है यह कथन संघटित होता है। किसी को कष्ट पहुंचाना अधर्म है सो यदि वेद में कहे सर्वोपरि प्रधान सर्वोपकारी सर्वव्याप्त महत् फल के हेतु यज्ञ की पूर्ति के लिये किहीं मनुष्यादि के साथ कुछ अधर्म भी करने पड़े वा किन्हीं प्राणियों को कष्ट भी पहुंचे तो भी यज्ञ अवश्य करें क्योंकि उस छोटे अधर्म की अपेक्षा यह धर्म बहुत बड़ा होगा। इसी लिये व्यर्थ पड़े मक्खीचूष कंजूस के धन को बलात्कार लेकर यज्ञ में लगाने की आज्ञा मनु जी ने ११ अध्याय में दी है इत्यादि तो ये दोनों श्लोक निर्दोष ठहर सकते हैं] ॥

भा०—ये अठारह श्लोक किसी अन्य के एक देशी मत को प्रकाशित करने के लिये पूर्व पक्ष में ग्रन्थकार ने धरे हैं। इसी लिये ग्रन्थकार ने उत्तर पक्ष में सर्वथा ही मांसभक्षण का निषेध आगे किया है। सर्वत्र ग्रन्थकारों में यह नियम ही रहा है कि जहां पूर्व कथन से पर कथन कारणसहित विरुद्ध किया है वहीं पूर्वोत्तर दो पक्ष होते हैं। इस से यज्ञ में मांस का प्रयोग वा भक्षण करना चाहिये यह मनु जी वा भृगु जी का मत नहीं है किन्तु अहिंसा धर्म के मर्म को न जानने वाले किसी अन्य का ही यह कथन है। सो महाभारत मोक्षधर्म पर्व में मनु जी का मत यों लिखा है कि " (सर्वकर्मस्व०) ध-

मर्मात्मा धर्मतत्त्वज्ञ मनु जी ने सब कर्मों अर्थात् यज्ञादि शुभ वा अशुभ सभी कर्मों में अहिंसा को ही धर्म कहा और माना है कहीं भी हिंसा करना नहीं कहा। किन्तु अपनी इच्छा और लालच से अन्य लोग वेदि में वा वेदि से बाहर पशुओं को मारते हैं। धूर्त लोगों ने यज्ञ में मांस चढ़ाने पशु मारने का विचार चलाया है किन्तु वेद में ऐसा नहीं कहा गया कि यज्ञ में पशुओं की मारना चाहिये। „ और मनुस्मृति के आरम्भस्थ प्रस्ताव में यह लिखा है कि (त्वमेकोक्ष्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः । अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो) अनादि सिद्ध अचिन्त्य, अप्रमेय इस सब वेद के तत्त्व को जानने वाले एक तुम्ही हो अर्थात् मनु जी के समान वेद का तत्त्वज्ञाता अन्य कोई नहीं माना गया यह सब वेदमतानुयायी आर्य मानते हैं कि इस वर्तमान कल्प में सर्वापरि वेदवेत्ता मनु जी हुए। और मनु जी का मत वही है जो वेद का सिद्धान्त है इस से यज्ञ में पशुवध करना वेद और मनुस्मृति दोनों से निषिद्ध सिद्ध हो गया। और ये सब श्लोक पूर्वपक्ष में खण्डन के लिये यहां लिखे गये हैं। अथवा किन्ही मांस भक्षण के लोभियों ने यज्ञ के बहाने से मांस खाने के अर्थ ग्रन्थ बनने पश्चात् यहां हिंसा मिला दी हो यह भी असम्भव नहीं। यद्यपि इन दोनों पक्षों का आशय अधिकांश मिलता है तथापि पहिला पक्ष यहां अच्छा प्रतीत होता है। दोनों पक्ष में सिद्धानुवादाद रूप से कहे (प्राणस्यान्नमि०) इत्यादि दो श्लोक मांस भक्षण की पुष्टि के लिये लिखे होने से त्याज्य ठहरते हैं। यदि ये ही दोनों पक्ष अन्य प्रकरण में जहां मांसभक्षण को सिद्ध करना न होता पढ़े होते तो त्याज्य नहीं थे किन्तु अच्छे ठहर जाते। जैसे चोर, साहूकार और चुराने के पदार्थ तीनों को सर्वधर्ता ईश्वर ने ही रचे हैं तो भी ईश्वररचित हो ने के कारण चोर निर्दोष नहीं हो सकते। वैसे ही ईश्वररचित होना मांसभक्षण का दोष हटाने में हेतु नहीं हो सकता। इस प्रकार यद्यपि बड़ी हिंसा और अधिक अपवित्रतादि दोष युक्त मांसभक्षण की अपेक्षा किसी अल्प हिंसादि दोष युक्त मांसभक्षण अच्छा माना जाय जैसे कि बड़ी चोरी की अपेक्षा थोड़ी चोरी कम बुरी वा अच्छी है तथापि सर्वथा मांसभक्षण के त्याग की अपेक्षा शुद्ध जाङ्गल जीवों का वा कम उपकारी बकरा आदि का मांस खाना भी राक्षसी विधान ही माना जायगा। इस प्रकार यज्ञ के बहाने से मांस भक्षण देवी सम्प्रदाय कदापि नहीं हो सकता। सर्वत्र ही मांस को त्यागने की अपेक्षा उस का

खाना दोषकारी अधर्मोत्पादक ही है यही सिद्धान्त सर्वानुमतसुस्थिर हो गया इस दशा में ये श्लोक प्रक्षिप्त न ठहरें तो भी सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं दोनों दशा में सिद्धान्त यही रहा ॥ ४४ ॥

योऽहिंसकानिभूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
 सजीवंप्रचमृतश्चैव नक्वचित्सुखमेधते ॥
 योवन्धनवधकृशान् प्राणिनांनचिकीर्षति
 ससर्वस्यहितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥
 यद्ध्यायतियत्कुरुते धृतिंबध्नातियत्रच ।
 तदवाप्नोत्ययत्नेन योहिनस्तिनकांचन ॥
 नाकृत्वाप्राणिनांहिंसां मांसमुत्पद्यतेक्वचित् ।
 नचप्राणिवधःस्वर्ग्य-स्तस्मान्मांसंविवर्जयेत् ॥
 समुत्पत्तिंचमांसस्य वधबन्धौचदेहिनाम् ।
 प्रसमीक्ष्यनिवर्त्तेत सर्वमांसस्यभक्षणान् ॥
 नभक्षयतियोमांसं विधिंहित्वापिशाचवत् ।
 सलोकेप्रियतांयाति व्याधिभिश्चनपीड्यते ॥
 अनुमन्ताविशसिता निहन्ताक्रयविक्रयी ।
 संस्कर्ताचोपहर्ताच खादकश्चेतिघातकाः ॥
 स्वमांसंपरमांसेन योवर्धयितुमिच्छति ।
 अनभ्यर्च्यपितृन्देवां-स्ततोऽन्योनास्त्यपुण्यकृत्

वर्षेवर्षेऽश्वमेधेन योयजेतशतंसमाः ।
मांसानिनचखादेद्य-स्तयोःपुण्यफलंसमम् ॥

[सदायजतियज्ञेन सदादानानियच्छति ।

सतपस्वीसदाविप्रो यश्चमांसंविवर्जयेत् ॥]

फलमूलाशनैर्मध्यै-र्मुन्यन्नानांचभोजनैः ।
नतत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥
मांसभक्षयितामुत्र यस्यमांसमिहाद्स्यहम् ।
एतन्मांसस्यमांसत्वं प्रवदन्तिमनीषिणः ॥५५॥

अ०— यो मांसभक्षणजन्यस्वसुखेच्छयाऽहिंसकानि क-
पोतमृगादीनिभूतानि प्राणिनो हिनस्ति स जीवन् मृतश्चैव न
क्वचित्सुखं यथा भवेत्तथा वर्धते । यश्च हिंसकानि हिनस्ति
तत्र मन्युस्तन्मन्युमृच्छति, नाततायिवधे दोषो० इत्यादि-
प्रमाणेषु दोषाल्पत्वमेव दोषाभावः । यः प्राणिनां बन्ध-
नवधक्लेशान् न चिकीर्षति स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सन्नत्यन्तं
सुखमश्नते । यः कंचन न हिनस्ति स यद्दध्यायति यत्कु-
रुते यत्र च धृतिं बध्नाति तदयत्नेनावाप्नोति । प्राणिनां हिं-
सामकृत्वा मांसं क्वचिन्नोत्पद्यते । नच प्राणिवधः स्वर्भ्याऽपि
तु नरकहेतुरस्ति तस्मान्मांसं विवर्जयेत् । मांसस्य समुत्पत्तिं,
देहिनां दयाधर्मविरुद्धौ वधबन्धौ च प्रसमीक्ष्य सर्वमांसभ-
णान्निवर्त्तेत । यो विधिं हित्वाऽहिंसाधर्मपालनाज्ञामनाह-
त्य पिशाचवन्मांसं न भक्षयति स लोकेऽन्येषां प्रियतां
याति व्याधिभिश्च न पीड्यते । पशुमारणायानुमतिदाता,
मृतपशोर्गात्रविभाजकश्छित्त्वा मांसनिस्सारकः विशसिता,

प्राणवियोजको निहन्ता, मांसस्य क्रेता, विक्रेता च, संस्कर्त्ता मांसपाचकः, सूनास्थानान्मांसस्यानायक उपहर्त्ता, खादको भक्षकश्चैतेऽष्टौ घातका हिंसादोषेण लिप्यन्ते । यः पितृन्देवांश्चानभ्यर्च्य वेदोक्ते ज्ञाने तत्पराः पितरो वेदोक्ते कर्मणि रताश्च देवास्तेषामापानामुपदेशमनादृत्य परमांसेन स्वमांसं वर्धयितुमिच्छति ततोऽन्योऽपुण्यकृन्नास्ति तस्मादन्यो न कोऽपि पापिष्ठो वर्त्ततइति । वर्षेवर्षे योऽश्वमेधेन यजेत यश्च मांसानि न खादेत्तयोः समं पुण्यफलं भवति । यः सदा यज्ञैर्यजति यश्च सदा दानानि ददाति । यश्च मांसं विवर्जयति स विप्रः सदा तपस्वी भवति । इत्ययं श्लोकः पश्चात्प्रक्षिप्रः क्वचिदेवोपलभ्यते । फलमूलादिशुद्धाशनेन न तादृशं फलमवाप्नोति यादृशं मांसपरिवर्जनात् । स प्राणीमाममुत्र भक्षयिता यस्य मांसमिहाहमद्मि । एतदेव मनीषिणो मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति ॥

भा०-सर्वः प्राणी प्रायेणान्यप्राणिभ्य एव सुखं दुःखं वोपलभते तर्पिताश्च सर्वे स्वतर्पकाय सुखं दातुमुत्सहन्ते पीडिताश्च पीडकाय दुःखं ददतीति नियमएवोपलभ्यते । स्वस्य वधात्परं च न किमपि दुःखं मन्यन्ते देहिनस्तस्माद्द्विसारता न कदापि कुतोऽपि क्वापि सुखं लभन्तेऽपितु दुःखमेवाप्नुवन्ति । यश्च न किमपि पीडयति नच पीडयितुमिच्छति स कुतोऽपि पीडामनवांप्नुवन्सर्वेभ्यः सुखमुपलभमानः सुखेन जीवति । यो न किमपि दुःखयति तस्य सर्वमभीष्टं प्रयोजनमनायासेन सिध्यति । प्राणिपीडनम-

न्तरेण न केनापि कदापि क्वापि मांसं भक्षयितुमुपलभ्यतेऽ-
 न्यजन्तुवधश्च स्वस्य दुःखहेतुरस्त्येव तस्मात्सुखेऽसुः सदैव
 मांसभक्षणं जह्यादेव । दयावन्तः सुखिनो दृश्यन्ते नच मां-
 सभक्षका दयालवः सम्भवन्ति तस्मात्करुणयापि सुखमी-
 क्षमाणो दयां रक्षयेन्मांसं च वर्जयेत् । अनुमतिदात्रादयोऽ-
 पि पश्चादिवधे प्रयोजककर्तारः स्वतन्त्रकर्तृदवत्ततोऽपि
 विशिष्टं वा कर्तृत्वमाप्ता हिंसाफलभाजः स्फुटं युक्तितोऽपि
 भवन्त्येव न केवलः प्राणवियोजकएव हिंसकः सम्भवति ।
 यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवमिति कथयता स्पष्टं
 प्रदर्शितं यक्षराक्षसादयोऽनुमोदन्ते मद्यमांसभक्षणं यद्वा ये
 तदनुमोदन्ते ते यक्षराक्षसपिशाचास्तादृशकर्मयोगादेव भ-
 ग्यन्ते । येषां यदन्नादिकं यैः सम्बद्धं च भवति तएव तद-
 नुमोदन्तेऽपि च । यक्षराक्षसादिभ्यो विरुद्धाश्च पितृदेवा
 अप्तः स्वभावेनैव न ते मद्यमांसे इच्छन्ति । तेषामिच्छात
 उपदेशतश्च विरुद्धमाचरणमनभ्यर्चनमनादरश्च । बहुश्च-
 मेधापेक्षयापि हिंसात्यागान्मांसखादननिषेधो नित्यधर्म-
 त्वात्प्रधानधर्मत्वाच्च विशिष्टपुण्यफलहेतुकः । यथा च दे-
 वयज्ञादिक्षत्रियधर्मापेक्षया ब्रह्मयज्ञादिब्राह्मणधर्मस्य प्रा-
 धान्यं विशिष्टफलकत्वं च । हिंसात्यागस्य च ब्रह्मयज्ञेन-
 साकं प्रधानः सम्बन्धः । यादृशउपकारोऽपकारो वा कस्या-
 पि केनापि क्रियते स तादृशमेव तस्मादुपकृतादपकृताञ्च
 शुभमशुभं वा फलमाप्नोति । यथा पांसुताडकउदकक्षोभक-
 श्च पांसूदकैरेवोत्थितैस्तोडयते । एवं यो यस्य मांसमत्ति

तस्यैवान्योऽपि कालापगमे जन्मान्तरे वा मांसमत्तुं प्रवर्तते
तदेतदेव मांसभक्षणस्य प्रधानतयाऽनिष्टत्वम् ॥५५॥

भाषार्थः—(य आत्मसुखेच्छयाऽहिंसकानि भूतानि हिनस्ति) जो पुरुष मांस-
सभक्षणसम्बन्धी अपने सुख की चाहना से सीधे अहिंसक किसी प्राणी को न
सताने वाले कबूतर भेड़ बकरी आदि प्राणियों को मारता वा मरवाता है (स
जीवश्च मृतश्चैव ववचित्सुखं नैधते) वह जीवित रहता हुआ इस जन्म में वा
मरणान्तर जन्मान्तर में कहीं भी सुखपूर्वक नहीं बढ़ता अर्थात् धनादि सुखहेतु
पदार्थ प्राप्त होने पर भी अन्योसे नाना प्रकार के भयान्जिन्य दुःखों से पीड़ित
रहता ही है । और जो हिंसक जीवों को अपनी वा अन्य निर्बलों की रक्षा के
लिये मारता है किन्तु मांसभक्षणार्थ नहीं वहां “क्रोध २ की लड़ाई होती, वा आ-
ततायी के मारने में दोष नहीं ” इत्यादि मनुवचनों के अनुसार थोड़ा दोष ही
दोष का अभाव उचित की अपेक्षा से माना जायगा (यः प्राणिनां बन्धनवध-
क्लेशान् न चिकीर्षति) जो प्राणियों को बांधना, मारना और पीड़ित करना
वहीं चाहता (स सर्वस्य हितप्रोत्सुरत्यन्तं सुखमश्नुते) वह सब का सुख चाहने
वाला अत्यन्त सुख भोगता है (यः कंचन न हिनस्ति यद्दध्यायति यत्कुरुते यत्र
च धृतिं बध्नाति) जो पुरुष किसी प्राणी को नहीं सताता दुखाता वह जिस
इष्ट कर्तव्य को शोचता जिस काम को करता और जहां धीरज बांधता है (त-
द्वाप्रोत्ययत्नेन) विशेष परिश्रम वा कष्ट उठाये विना ही उस इष्ट को प्राप्त वा
सिद्ध कर लेता है (प्राणिनां हिंसामकृत्वा मांसं ववचिन्नोत्पद्यते) प्राणियों को
मारे विना अन्य किसी प्रकार से मांस कहीं उत्पन्न नहीं होता (न च प्राणिवधः
स्वर्ग्यः) और प्राणियों को मारना सताना वा दुःखाना सुख का हेतु नहीं है
क्योंकि सताये हुए प्राणी स्वभाव से ही आगे २ उस अपने शत्रु को सताने का
जन्मजन्मान्तरों तक उद्योग करते हैं तब जिस के बहुत शत्रु हों जिन से प्रति-
क्षण भय उपस्थित रहे उस को सुख कहां यदि कुछ हो तो वह सुखाभास माना
जायगा (तस्मान्मांसं विवर्जयेत्) इस कारण संसार में सुख चाहने वाला पुरुष
मांसभक्षण का सर्वथा त्याग अवश्य करे यह भी एक प्रधान धर्म है (मांसस्य
समुत्पत्तिं देहिनां वधवन्धौ च) मांस की उत्पत्ति रुधिर से होती [रसाद्रक्तं ततो
मांसं मांसान्मेदः प्रजायते) रस धातु से रुधिर उससे मांस और उससे मेदा बनता
है] । रस में से ही कुछ भाग मल बनता है जैसे दूध में मलाई पड़ती वैसे खाये
पिये में से रस रुधिर मांस मलाई के समान और शेष मल भाग दूध के समान

होता इस कारण मल का संसर्ग मांस के साथ सदा ही रहता है पर मल और रुधिर का खाना जैसे अतिघृणित है वैसे उन्हीं में मांस भी उत्पन्न हुआ है और द्वितीय प्राणियों को मारने बांधने में दया को सर्वथा छोड़ के दुःख देना अर्थात् मांस की मलिनता और अतिघृणित होने तथा निर्दयता कठोरता को (प्रसमीक्ष्य) अच्छे प्रकार मन में शोच विचार कर (सर्वमांसस्य भक्षणान्निवर्त्तत) सब प्रकार के अर्थात् यज्ञादि के वहाने से होने वाले भी मांस भक्षण से, वा वज्रित न किये पांच नख वाले पांच जीवों के मांस भक्षण से भी अवश्य हट जावे कदापि कैसे ही मांस न खावे (विधिं हित्वा पिशाचवद्यो मांसं न भक्षयति) अहिंसा धर्म को ठीक पालन करने की शास्त्र में जो आज्ञा है उस को छोड़ वा अनादर करके जो पुरुष राक्षस पिशाच सर्वथा निर्दयियों के तुल्य मांस को नहीं खाता (स लोके प्रियतां याति) वह लोक में अन्य प्राणियों को प्रिय हो जाता उस को सब प्राणी मित्र की दृष्टि से देखने लगते हैं और (व्याधिभिश्च न पीड्यते) और मांसभक्षण से होने वाली विषमत्तरूप व्याधियों रोगों से भी पीडित नहीं होता (अनुमन्ता विशसितः निहन्ता क्रयविक्रयी) पशुवादि को मारने की अनुमति सलाह देने वाला, मारे हुए पशु को काटने खाल आदि उतारने-वाला, प्राणवियोग करने गला काटने वाला, बेचने वाला, मृत्य देकर लेने वाला, (संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च) पकाने वाला और मारने के स्थान कसावखाने आदि से उठा कर लाने वाला (खादकश्चेति घातकाः) और खाने वाला ये आठो हिंसक हत्यारे माने जाते हैं (यः पितृन्देवाननभ्यर्च्य) जो पुरुष वेदीक्त ज्ञान में तत्पर पितरों और वेदीक्त कर्म में तत्पर देवों आप्त शुद्ध पुरुषों के मांस निषेध पर किये उपदेश का अनादर करके (परमासेन स्वमांसं वर्धयितुमिच्छति) अन्य प्राणियों के मांस को खा २ कर अपना मांस बढ़ाना चाहता है (ततोऽन्योऽपुण्यकृन्नास्ति) उस से और अधिक पापी कोई नहीं है (यो वर्षवर्षे शतं समाश्रवमेधेन यजेत) जो वर्ष २ में सौ वर्ष पर्यन्त अश्रवमेध यज्ञ करे और (यो मांसानि न खादेत्) जो मांसों को सौ वर्ष पर्यन्त कभी न खावे (तयोः पुण्यफलं समम्) उन दोनों का बराबर पुण्य फल है । इसी के आगे किसी २ पुस्तक में एक श्लोक अधिक मिलता है उस का अर्थ (सदा०) जो सदा यज्ञ करता जो सदा दान देता और जो सदा ही मांसभक्षण का त्याग करता है ये तीनों तपस्वी ब्राह्मण हैं (मेध्यैः फलमूलाशनैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः) पवित्र बुद्धिवर्धक फल मूलों के भोजन और मुन्यन्नों के भोजनों से (तरफलं

नावाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात्) जो कि मांस के त्यागमात्र से फल होता वैसे फल को नहीं प्राप्त होता (मांस-भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाङ्ग्यहम्) मुक्त को वह जन्मान्तर में खायेगा कि जिस का मांस मैं यहां खाता हूँ (एतन्मांसस्य मांसत्वं मनीषिणः प्रवदन्ति) विद्वान् लोग यही मांस में मांसपन कहते हैं कि मांस-भक्षको-सः-वह ऐसे मांस-स इन दो पदों के योग से मांस पद बना है ॥

भा०-सब प्राणी प्रायः अन्य प्राणियों से ही सुख वा दुःख पाते हैं । किसी के सुख देने से तृप्त प्रसन्न हुए अपने प्रसन्न करने वाले को सुख देने का उत्साह करते और ऐसे ही किसी से पीड़ा को प्राप्त हुए उस पीड़ा देने वाले को दुःख देते हैं यह नियम ही सर्वत्र दीखता है । परन्तु मार डालने से परे अन्य कोई दुःख देहधारी नहीं मानते इसी कारण हिंसा में तत्पर रहने वाले कभी किसी से सुख नहीं पाते किन्तु दुःख ही पाते हैं । और जो किसी को दुःख नहीं देता वा न देना चाहता है वह किसी से दुःख नहीं पाता और सब से सुख को प्राप्त करता हुआ सुख से जीवित रहता है । जो किसी को दुःखित नहीं करता उस का सब अभीष्ट प्रयोजन अनायास सिद्ध होता है । प्राणियों को पीड़ा पहुंचाये बिना कोई कभी कहीं भक्षणार्थ मांस को प्राप्त नहीं कर सकता और अन्य प्राणियों को सताना अपने दुःख का हेतु है ही इस से सुख चाहने वाला सदा ही मांसभक्षण का त्याग ही करे । दयालु पुरुष सुखी दीखते और मांसभक्षी दयालु होते नहीं इस कारण दया से भी सुख होना जानता हुआ दया की रक्षा करे मांस भक्षण का त्याग । अनुमति (सलाह) देने वाले भी पशुवादि के मारने में प्रयोजक कर्त्ता बनते स्वतन्त्र कर्त्ता के तुल्य वा उस से भी अधिक कर्त्तृपन को प्राप्त हुए हिंसा फल के भागी युक्ति से भी स्पष्ट सिद्ध होते हैं । जैसे चोर के साथी वा मारने की अनुमति देने वाले भी राजदण्ड भोगते ही हैं किन्तु केवल प्राणवियोग करने वाला ही हत्यारा नहीं हो सकता । “यक्ष राक्षस और पिशाचों का अन्न मद्य मांस है ” इस कथन से ग्रन्थकार ने स्पष्ट दिखाया कि मद्य मांस भक्षण का राक्षसादि ही अनुमोदन करते अथवा जो लोग मद्य मांस का अनुमोदन करते हैं वे ही वैसा कर्म करने से यक्ष राक्षस कहाते हैं और जो जिन का स्वाभाविक अन्नादि होता है वे ही उस का अनुमोदन भी करते हैं । यक्ष राक्षसादि से विरुद्ध में पितृ और देव हैं इस कारण स्वभाव से ही वे मद्य मांस को नहीं चाहते-उन की इच्छा और उपदेश से विरुद्ध आचरण करना उन का अनादर है । बहुत अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा मांस खाने का नि-

षेध रखना हिंसा के त्याग से तथा नित्य धर्म वा अहिंसा के प्रधान धर्म होने से विशेष पुण्य फल का हेतु है । जैसे कि देव यज्ञादि क्षत्रिय धर्म की अपेक्षा ब्रह्मयज्ञादि ब्राह्मण का धर्म प्रधान और विशेष पुण्य फल देने वाला है और हिंसात्याग के साथ ब्रह्मयज्ञ का प्रधान सम्बन्ध है । जैसा उपकार वा अपकार किसी का कोई करता है । वह उस उपकृत अपकृत से वैसा ही शुभ वा अशुभ फल को प्राप्त करता है । जैसे धूलि को ताड़ने वा जल को क्षीभित करने वाले के ऊपर ताड़ित हुई धूलि और जल उछल कर पड़ता है ऐसे ही जो जिस का मांस खाता है वह अपने खाने वाले का मांस खाने का स्वभाव से ही कालान्तर में वा जन्मान्तर में प्रवृत्त होता है यही मांसभक्षण में सर्वोपरि अनिष्ट फल है इस से सर्वथा मांसभक्षण का त्याग करना चाहिये ॥ ५५ ॥

[न मांसभक्षणो दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥५६॥]

अ०—मांसभक्षणो दोषो नास्ति मद्ये मद्यपाने दोषो नास्ति मैथुने च सेव्यमाने दोषो नास्ति । भूतानां प्राणिनामेषा स्वाभाविकी प्रवृत्तिरस्ति तथापि निवृत्तिस्तेभ्यो महाफला विशिष्टफलप्रदा विज्ञेया ॥

भा०—अत्र केचिद्दोषपदात्पूर्वं लुप्राऽकारप्रश्लेषं मन्यन्ते । तेन मांसभक्षणो मद्ये मैथुने च—अदोषो नापितु विहितेऽपि सेव्यमाने दोषएव तस्मादेव तेभ्यो निवृत्तिस्तु महाफलेति कथनं संघटते । अन्येतु यज्ञे—अग्नीषोमीयं पशुमालभेत, सौत्रामण्यां सुरां पिबेत् । ऋतौ भार्यामुपेयादित्यादिविधिवचोभिर्विहिते प्रसङ्गप्राप्ते मांसभक्षणादौ न दोषोऽपितु भूतानां प्रवृत्तिरेषा ततोऽपि निवृत्तिर्महाफला । ततोऽप्यन्ये मन्यन्ते मनुष्यमात्रेऽहिंसायाः सामान्यधर्मत्वान्मनुष्यमात्रस्य मांसभक्षणं प्रतिषिद्धम् । मद्यं च—“न पातव्या द्विजातिभिः” द्विजात्यर्थं विशेषेण प्रतिषिद्धं मैथुनस्य च द्वि-

जात्यर्थो नियमस्तृतीये विशेषेण कृतस्तत्रावशिष्टप्राणिवि-
षयकं पद्यमिदम् । यथा सिंहव्याघ्रश्वशृगालमार्जारपक्ष्या-
दीनां मांसभक्षणो न दोषोऽर्थादल्पो दोषोऽदोषवत्परिगणयते
तेषां मांसभक्षणो स्वाभाविकी प्रवृत्तिस्तथापि निवृत्तिर्महा-
फलप्रदा । अवशिष्टशूद्रातिशूद्रादीनां मद्यपानेऽपि न दोषो-
ऽपि तु प्रमादस्तेषां स्वाभाविकस्तथापि ततो निवृत्तिर्भावि
शुभहेतुका । एवमन्त्यजयवनम्लेच्छादीनां पशवादीनां चा-
गम्यागमने न दोषस्ते स्वभावेनैवागम्यागमने प्रवृत्तास्तथापि
निवृत्तिर्महाफलेत्येवं द्विजेभ्योऽन्यार्थं पद्यं सिद्धानुवादपरं व-
र्णयन्ति । यद्यपि विशेषेण शास्त्रमिदं ब्राह्मणार्थं द्विजार्थं वा
प्रवृत्तं तथापि—न शूद्रे पातकं किञ्चिन्नच संस्कारमर्हति ॥
कीटाश्नाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च । स्थावराणि च भू-
तानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥ इत्यादिप्रकारेणान्यप्राण्य-
र्थत्वमपि शास्त्रस्यास्त्येवेति सङ्गतिमाहुः । अन्ये चतुर्थास्तु
पश्चात्केनापि प्रक्षिप्तं पद्यमिदमाहुः—अदोषइति क्लिष्टकल्प-
नं, यज्ञादौ मांसमद्ययोर्विधानं च साध्यं न सिद्धम् । धूर्तैः
प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कथ्यतइत्यादिभारते दर्शनात् । मै-
थुनं च रागादेव प्राप्तं तत्र न दोषइतिकथनं मैथुनासक्ति
वर्धनेन हानिकरमेवेति । एवं च मद्यमांसमैथुनासक्तैः स्वा-
वलम्बपरं पद्यमिदं मध्ये पश्चाद् धृतं मांसप्रकरणं तु पू-
र्वपद्यउपसंहृतमेव ग्रन्थकृता । अत्र पक्षचतुष्टयउत्तरोत्तरः
पक्षः साधुः प्रतीयते । सर्वमतेषु चिन्त्यमेवेदं पद्यं बुधैरिति
प्रदर्शनाय मयेदं यथादर्शनमुपन्यस्तमित्यलमनल्पजल्पनेन ॥

भाषार्थः—(मांसभक्षणो दोषो न) मांस भक्षण में दोष नहीं है (न मद्ये) मद्य पीने में दोष नहीं (मैथुने च न) मैथुन करने वा परस्त्रीगमनादि में भी दोष नहीं (भूतानामेषा प्रवृत्तिः) प्राणियों की मांस भक्षणादि कामों में स्वाभाविक प्रवृत्ति है [अग्नि में स्वाभाविक गुण जलादेना है उस से अग्नि को दोष नहीं लगता] तथापि (निवृत्तिस्तु महाफला) उन कामों से निवृत्ति होना प्राणियों को अधिक फल देने वाली है ॥

भा०—इस श्लोक में कोई भाष्यकार दोषपद से पूर्व एक अकार का लोप वा पूर्वरूप एकादेश हुआ मानते हैं इस से यह अर्थ होता है कि—मांसभक्षण, मद्यपान और मैथुन करने में अदोष नाम दोष नहीं से नहीं किन्तु विधान किये पञ्च नख वाले पांच प्राणी आदि के मांस में, सौत्रामणी यज्ञान्तर्गत मद्य पीने में और ऋतु समय पर स्वभार्यागमन में भी साधारण दोष अवश्य ही है इसी कारण उन से बचना निवृत्त होना महाफल—सर्वोत्तम परमार्थ सुख को देने वाला है यह पहिला पक्ष हुआ । द्वितीय पक्ष वाले मानते हैं कि—सोम-यागों में “अग्नीषोम देवता वाले पशु का वध करे” “सौत्रामणी यज्ञ में मद्य पीवे” और “ऋतुकाल में अपनी स्त्री के समीप जावे” इत्यादि शास्त्र में विधान किये प्रसङ्ग से प्राप्त हुए मांसभक्षणादि कामों में दोष नहीं है किन्तु प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है परन्तु उन से बचना विशेष फल का हेतु है [जब कि उन से बचना महाफल वाला है तो अर्थात् सिद्ध हुआ कि दोष नहीं कहने का अभिप्राय यह हुआ कि विशेष दोष नहीं और इस से पहिले पक्ष में अदोष नहीं कहने का भी यही आशय हुआ कि सामान्य दोष अवश्य है । इस कारण इन दोनों पक्षों में अधिक समंता अवश्य ही शोचने से ज्ञात होगी] तृतीय पक्ष वाले कोई लोग मानते हैं कि (अहिंसा सत्यमस्तेय०) इत्यादि द्वारा मनु जी ने अहिंसा धर्म सब वर्णों नाम मनुष्यमात्र के लिये और इसी अध्याय में यह भी कह चुके हैं कि प्राणियों की हिंसा किये विना मांस कहीं उत्पन्न नहीं होता तो मांसभक्षण मनुष्यमात्र के लिये मनु जी के सिद्धान्त से निषिद्ध हो चुका (न पातव्या द्विजातिभिः) ब्राह्मणादि तीन वर्णों को मद्य कभी नहीं पीना चाहिये । इस कथन के अनुसार तीन वर्णों को मद्यपान का निषेध किया शूद्र वा अस्त्यजादि के लिये विधि निषेध दोनों ही नहीं आये किन्तु शूद्रातिशूद्र के लिये कामचार रह गया और मैथुन का द्विजातियों के लिये तृतीयाध्याय में विशेष-नियम कर चुके किन्तु शूद्र वा पशवादि के विषय में मैथुन का कोई विशेष नियम नहीं किया इस कारण द्विजों से भिन्न प्राणियों के

लिये यह श्लोक कहा गया है कि सिंह, व्याघ्र, कुत्ता, शृगाल, विलाव और पक्षी आदि तिर्थगजन्तुओंको मांस भक्षण में दोष नहीं अर्थात् थोड़ा दोष दोष में नहीं गिना जाता क्योंकि उन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है वे मांस खाये विना बच ही नहीं सकते तो भी सिंहादि का मांस खाने से बचना वा बचाना जन्मान्तर के लिये उत्तम फल का हेतु अवश्य है । द्विजों से भिन्न शूद्र अन्त्यजादि मनुष्यों को मद्य पीने में विशेष दोष नहीं [जैसे कोई कहे कि प्रथम से अधिक मलिन वस्त्र में और मेल लगजाना कुछ हानिकर नहीं क्योंकि स्वयं ही अतिमलिन था मलिनता में मलिनता मिल गई जैसे शूद्र में तमोगुण की अधिकता होने से कर्तव्य का विस्मरण प्रमाद—नशा स्वभाव सिद्ध ही था उन्ही में मद्यादि का भी मल मिल गया । अर्थात् कोई अधिक सचेत विचारशील मदकारी द्रव्य खाने पर भी जितना उन्मत्त नहीं होता उस से अधिक स्वाभाविक उन्मत्त कोई वा अनेक शूद्रादि नशा किये विना संसार में स्पष्ट दीखते हैं । क्योंकि प्रमादरूप नशा उन में स्वाभाविक ही है तथापि मद्यपान से बचना शूद्रों के लिये भी भविष्यत् में शुभ फल का हेतु अवश्य है । इसी प्रकार अन्त्यज यवन स्त्रेष्ठादि वा पशुपश्यादि को अगम्यागमनादि मैथुन में विशेष दोष नहीं क्योंकि वे स्वभाव से ही अगम्यागमन में प्रवृत्त हैं व्यभिचार को पाप वा दोष ही नहीं मानते जिस स्त्री से जिस पुरुष का मेल मिल जावे वही उस की हो जावे । कोई सहोदर भगिनी को छोड़ सब से विवाह कर लेते, उसी गौ से उत्पन्न हुए बैलसे वही गौ वर्दाती है । इत्यादि प्रकार पशुवादि के तुल्य नीच मनुष्यों में भी निर्दोष के तुल्य स्वभाव से ही अगम्यागमन प्रवाह से चल रहा स्वाभाविक हो गया है तो भी अविवेक के साथ प्रवृत्त मैथुन से उन की निवृत्ति होना बहुत अच्छी है आगे २ उस से नीचों वा पशुवादि का भी कुछ २ सुधार ही होता चलेगा । इस प्रकार द्विजों से भिन्नों के लिये सिद्धानुवादपरक इस श्लोक का वर्णन करते हैं । यद्यपि यह धर्मशास्त्र मुख्य कर ब्राह्मण के लिये और द्वितीय कोटि में वर्णत्रय के लिये प्रवृत्त हुआ है तथापि «शूद्र के लिये तीनों वर्ण की सेवा ही एक कर्म प्रभु ने कहा, शूद्र में कोई पातक नहीं, इस को धर्म में अधिकार नहीं, शूद्र को धर्म का निषेध नहीं । तथा कीड़ा, सांप, पतङ्ग, पशु, पक्षी और स्थावर-वृक्ष वनस्पत्यादि भी तपनाम दून्दू सहनादि उत्तम कृत्य से उत्तम दशा को प्राप्त हो जाते हैं» इत्यादि कथनानुसार अन्य प्राणियों के सुधार के लिये भी शास्त्र का उद्देश अवश्य है । ऐसे विचार से सब शा-

स्त्र की ठीक २ सङ्गति लग जाती है और यह तीसरा पक्ष ही सब से अच्छा निर्दोष भी शोच विचार करने से ज्ञात होता है । और चौथे पक्ष वाले कहते हैं कि ग्रन्थ बने पश्चात् यह श्लोक किसी अन्य ने बीच में प्रक्षिप्त किया मिला दिया है । अदोष निकालना क्लिष्ट कल्पना है और यज्ञादि में मांसमद्य का विधान भी साध्यकोटि में है सिद्ध नहीं और साध्य का प्रमाण होता नहीं । यज्ञ में मांसमद्यादि का प्रयोग धूर्तों ने चलाया है किन्तु वेदों में ऐसा नहीं कहा गया इत्यादि कथन महाभारतादि में दीखता है । और मैथुन तो राग से ही प्राप्त है उस में दोष नहीं ऐसा कहना मैथुन में फसावट बढ़ा के हानि करने वाला ही है । इस प्रकार मांसमद्य और मैथुन के लोभी लोर्गोंने अपने सहारे के लिये यह श्लोक पीछे से बीच में प्रक्षिप्त किया—धरदिया है मांस का प्रकरण तो पूर्व श्लोक में ही ग्रन्थकार ने समाप्त कर दिया है इन चार पक्षों में पिछला २ पक्ष अच्छा प्रतीत होता है । सब सतों में यह श्लोक विद्वानों को शोचने ध्यान देने योग्य है यह दिखाने के लिये ही हमने अपने विचारानुसार इतना लेख किया है और अधिक लिखना आवश्यक नहीं ॥ ५६ ॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धितथैव च ।

चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥५७॥

अ०—चतुर्णामपि ब्राह्मणादीनामनुपूर्वशः क्रमेण प्रेतशुद्धिं तथैव द्रव्यशुद्धिं च यथावद्वक्ष्यामीति भृगुः प्रतिजानीते ॥

भा०—प्रधाना सती प्रेतशुद्धिः सूतकशुद्धेरुपलक्षिका । अन्यत्र वर्णत्रयस्यैव प्रायेण कृत्यनिर्देशादत्र चतुर्थस्यापि ग्रहणमिष्टमिति ज्ञापयितुं चतुर्णामिति ग्रहणम् ॥५७॥

भाषार्थः—(चतुर्णामपि वर्णानामनुपूर्वशः) यहां से आगे चारों वर्णों की क्रम से (प्रेतशुद्धिं तथैव द्रव्यशुद्धिं च) सूतक शुद्धि और पदार्थों की शुद्धि (यथावद्वक्ष्यामि) ठीक २ कहेंगे मह भृगु जी प्रतिज्ञा करते हैं ॥

भा०—प्रधानता को प्राप्त हुई सूतकशुद्धि सूतक शुद्धि के भी उपलक्षणार्थ है । अन्यत्र तीन वर्णों के लिये ही प्रायः कर्तव्य की आज्ञा दी गयी है और इस प्रकरण में चारों वर्णों का ग्रहण करना इष्ट है यह जताने के लिये चार वर्णों कहे गये हैं ॥ ५७ ॥

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ।

अशुद्धा बान्धवाः सर्वसूतके च तथोच्यते ॥५८॥

अ०—दन्तजाते जातेषूत्पन्नेषु दन्तेषु—अनुजाते पूर्वदुग्धदन्तपतनानन्तरं द्विजातेषु दन्तेषु, चूडाकर्मणि कृते त्रिवाषिके च वाले संस्थिते मृते सर्वे बान्धवा अशुद्धा भवन्ति तथा सूतकेऽप्यशुद्धिरुच्यते ॥

भा०—षण्मासाभ्यन्तरे दन्तोद्भवमन्तरेण मृते शिशौ सद्यः शौचं दन्तोद्भवानन्तरं चूडाकर्मावधि—एकाहोरात्रेण शुद्धिः परं च त्रिभिरहोभिः सूतकउत्पन्नेऽपि वाले बान्धवा अशुद्धा भवन्त्येव विशेषं त्वग्रे स्वयमेव वक्ष्यति ॥ ५८ ॥

भाषार्थः—(दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते) पहिले दूध के दान्त निकल आने पर, पहिले उखड़ के दूसरे दांत जम आने पर और चूडाकर्म मुरडन संस्कार हो जाने पर कोई बालक मरजावे तो (सर्वे बान्धवा अशुद्धाः) सब बान्धव अशुद्ध होते हैं उनको घर वा वस्त्रादि की यथोचित शुद्धि करनी चाहिये (तथा सूतके चोच्यते) और ऐसे ही सन्तानोत्पत्ति होने पर भी सब कुटुम्बियों को अशुद्धि लगती है ॥

भा०—छः महीने पश्चात् ही प्रायः दन्त निकलते हैं । इस कारण छः महीने के भीतर कोई बालक मरे तो तत्काल शुद्धि कर लेनी चाहिये । दांत निकलने पश्चात् मुरडन पर्यन्त मरने पर एकदिन रात अशुद्धि मानी जावे । इस से आगे तीन दिन की अशुद्धि और उपनयन संस्कार होने पश्चात् मरा ही तो दश दिन की अशुद्धि माने । और सूतक नाम उत्पत्ति में भी कुटुम्बी लोग अशुद्ध होते ही हैं विशेषता आगे २ ग्रन्थकार स्वयमेव कहेंगे ॥ ५८ ॥

दशाहंशावमाशौचं—सपिण्डेषु विधीयते ।

अर्वावसंचयनादस्थानां—त्रयहमेकाहमेववा ॥

सपिण्डतातुपुरुषे-सप्तमेविनिवर्त्तते ।
 समानोदकभावस्तु-जन्मनाम्नोरवेदने ॥
 यथेदंशावमाशौचं-सपिण्डेषुविधीयते ।
 जननेप्येवमेवस्या-न्निपुणंशुद्धिमिच्छताम् ॥

[उभयत्रदशाहानि-कुलस्यान्नंभुज्यते ।

दानंप्रतिग्रहोयज्ञः-स्वाध्यायश्चनिवर्त्तते ॥]

सर्वेषांशावमाशौचं-मातापित्रोस्तुसूतकम् ।
 सूतकंमातुरेवस्या-दुपस्पृश्यपिताशुचिः ॥६२॥

[सत्रधर्मप्रवृत्तस्य-दानधर्मफलैषिणः ।

त्रेताधर्मापरोधार्थ-मरणस्यैतदुच्यते ॥]

अ०-सपिण्डेषु मृतेषु शावमाशौचं दशाहं विधीयते सामान्येन ब्राह्मणपदवाच्यानामिति शेषः । अस्थनां संचयनादर्वाक् चत्वारि दिनानि सामान्यविदुषाम् । त्र्यहं धर्मशास्त्रदर्शनशास्त्रज्ञानामेकाहमेव वा विशेषेण सर्ववेदविदामिति शेषः । स्वतः पूर्वेषु पितृपितामहादिषु षट्सु सपिण्डतानुवर्त्तते सप्तमे च पुरुषे विशेषेण निवर्त्तते । प्रक्षालनादिकर्मान्तरेणैकपात्रेणोदकपानन्तु जन्मनाम्नोरवेदने निवर्त्तते नतु सप्तमे पुरुषे तच्च पूर्वं परं चोभयत्र निवर्त्तनं सम्भवति । स्वकुटुम्बित्वेन प्रसिद्धस्यापि यस्य काभ्यां मातापितृभ्यां क्वजन्माभूत्किञ्च तस्य नामास्तीति ज्ञानाभावे तस्य समानपात्रोदकं नादेयम् । यथा शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते निपुणं शुद्धिमिच्छतां जननेप्येवमेव स-

पिण्डेष्वशौचं स्यात् । अस्याग्रएकं पद्यं पश्चात् क्षिप्रमुप-
लभ्यते । उभयत्र द्विविधेऽप्याशौचे कुलस्याशुद्धस्य सपिण्ड-
स्यान्नमन्त्रैर्दशाहावधि न भुज्यते । अशौचकुले-दानं प्र-
तिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च दशाहावधि निवर्त्तते । सर्वेषां
सपिण्डानां शावमाशौचं मन्तव्यं मातापित्रोस्तु विशेषेण
सौतकमाशौचं पित्रपेक्षयापि मातुरेवाधिक्येनाशौचं पिता
तु जातकर्मणि कृते स्नात्वा शुध्यति । अस्याग्रेऽप्येकं पद्यं
पश्चात् क्षिप्रमुपलभ्यते-सत्रधर्मप्रवृत्तस्य दानधर्मफलैषिणः
आरण्यस्य वानप्रस्थस्य त्रेताधर्मापरोधार्थं वानप्रस्थधर्म-
स्यावरोधो न स्यादेतदर्थं चैतदुच्यते ॥

भा०-अत्र प्रथमं पद्यं सामान्यं तेन शौचाशौचतत्त्वं
सम्यग्विजानता यस्य यावत्कालेन यदाऽऽशौचापगमेन शौ-
चं सम्भवति तदा तस्य तावत्कालिकमाशौचं मन्तव्यम् ।
जननाशौचस्य तुल्यत्वप्रादिष्टेऽपि सति भेदे तुल्यत्वं स-
म्भवति । तेनाशौचमात्रसाम्यम् । अन्यव्यापारेष्वशुचिरपि
पिता सूतके स्नानानन्तरं स्पर्शादिव्यवहारार्हा जायते ॥६२

भाषार्थः—(सपिण्डेषु शावमाशौचं दशाहं विधीयते) सात पीढ़ी के भी-
तर किसी कुटुम्बी के मरने पर मुर्दा सम्बन्धिनी अशुद्धि दश दिन तक मानना
शास्त्र में कही गयी है पर यह विचार सामान्य कर ब्राह्मणों के लिये है क्यों-
कि क्षत्रियादि की अधिक २ दिनों की अशुद्धि आगे कहेंगे (अस्थनां सञ्चयना-
दर्वाक्) वा अस्थि संचय करने से पूर्व २ अशुद्धि मानी जावे अर्थात् दाहकर्म
से चौथे दिन अस्थि संचय करना कहा गया है तो चार दिन अशुद्धि माने और
(त्र्यहमेकाहमेव वा) तीन दिन अथवा एक ही दिन रात अशुद्धि माने [सर-
मान्य लोग १० दिन, सामान्य जानकार पण्डित ४ दिन, धर्मशास्त्र वा दर्शन-
शास्त्रों को अच्छा जानने वाले विशेष विद्वान् तीन दिन और वेद तथा अन्य-

शास्त्रों को बहुत अच्छा जानने वाले तत्त्ववेत्ता सार्वभौम महाविद्वान् वेदधर्ममर्मज्ञ १ दिन ही अशुद्धि मानें यही विवेक है] (सपिण्डता तु सप्तमे पुरुषे विनिवर्त्तते) अपने से पूर्व सातवें पुरुष में सपिण्डता निवृत्त हो जाती है अर्थात् अपने सहित सात पुरुषों में रस रुधिरादि धातु कम बदलते हैं इस से सात पीढ़ियों वाले सभान—एक—पिण्डनाम शरीर वाले होते उन सब के शरीरों में धातुओं की एकता होने से एक ही माने जाते हैं और सात से ऊपर शरीरों में इतना परिणाम बदल जाता है जिन को अधिक दूरस्थों की अपेक्षा समीपस्थ होने पर भी भिन्न २ मानते हैं (समानोदकभावास्तु जन्मनाम्नोरवेदने) और एक पात्र में जल पीना जन्म और नाम का ज्ञान न होने पर छूट जाता है । अर्थात् पात्र को माजे धोये बिना एक पात्र से जल पी लेना वहां छोड़ देना चाहिये कि जो प्रसिद्धि में अपना कुटुम्बी भी हो पर यह न ज्ञात हो कि किन माता पिता से इस का जन्म हुआ और क्या नाम है यह बात कभी कहीं किसी कारण सात पीढ़ी के भीतर भी हो सकती है (सपिण्डेषु यथेदं शावमाशौचं विधीयते) सात पीढ़ी में जैसे यह मुर्दा सम्बन्धी आशौच कहा गया है (निपुणं शुद्धिमिच्छतां जननेऽप्येवमेव स्यात्) ठीक शुद्धि चाहने वालों को जनने में भी ऐसे ही सात पीढ़ी में अशुद्धि माननी चाहिये । इस के आगे भी एक श्लोक पीछे से प्रक्षिप्त किया किसी २ पुस्तक में लिखा मिलता है (उभयत्र०) जन्म, मरण दोनों प्रकार की अशुद्धि में दश दिन तक उस अशुद्धि वाले कुल का अन्न अन्य लोगों को नहीं खाना चाहिये और उस कुल में दान देना दान लेना, यज्ञ करना और वेदाध्ययन का अनध्याय हो जाता है ये सब काम उतने दिनों तक नहीं होने चाहिये (शावमाशौचं सर्वेषाम्) मरने की अशुद्धि सब कुटुम्ब को लगती है पर (मातापित्रोस्तु सूतकम्) जनन की अशुद्धि केवल माता पिता को ही विशेष लगती है अन्य कुटुम्बी अलग रहते हैं वस्तुतः प्रसूता के निकट कार्यार्थ वार २ जाने आने वाले स्त्री पुरुषों को अन्यापेक्षा अशुद्धि अधिक पहुंचती है (सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः) उन में भी माता अधिकांश अशुद्ध होती है और जातकर्म संस्कार करने पश्चात् स्नान करके पिता शुद्ध हो जाता पीछे प्रसूता के पास जाने का उस को कुछ काम नहीं रहता इस कारण पिता के साथ शुद्ध का सा व्यवहार अन्य लोग कर सकते

हैं । इस के आगे भी पीछे मिलाया एक श्लोक लिखा है (सत्रधर्म०) दान धर्म का फल चाहनेवाले यज्ञादि धर्म में विशेष प्रवृत्त हुए वानप्रस्थ के धर्म में विरोध वा विग्रह न हो इस लिये पिता को अशुद्धि न लगना कहा है । अर्थात् स्त्री के गर्भवती हो जाने पश्चात् वानप्रस्थाश्रम धारण करले और स्त्री साथ में ही हो तो सन्तानोत्पत्ति होने पर वह वानप्रस्थ अपने व्रत को न छोड़े ॥

भा०— यहां प्रथम श्लोक सामान्य है उस में शुद्धि अशुद्धि के तत्त्व जानने वाले पुरुष को चाहिये कि इस प्रथम श्लोक में कहे चार भेदों में से जिस की जितने काल में अशुद्धि निवृत्त हो के शुद्धि होनी सम्भव हो उस को उत्तना आशौच माने । जनने के आशौच की तुल्यता कही जाने पर भी भेद के विद्यमान होते ही तुल्यता रह सकती है इस से अशुचिपनमात्र की समता अपेक्षित है किन्तु उस के अवान्तर भेदों की समता दिखाना इष्ट नहीं । अन्य खास २ व्यापार वा कामों में भी सूतक में स्नान करने पश्चात् पिता छूने आदि व्यवहार के योग्य हो जाता है ॥ ६२ ॥

निरस्यतुपुमाँ^१क्षुक्र-मुपस्पृश्यैवशुध्यति ।
 वैजिकादभिसम्बन्धा-द्वनुरुन्ध्यादघञ्ज्यहम् ॥
 अह्नाचैकेनरात्र्याच-त्रिरात्रैरेवचत्रिभिः ।
 शवस्पृशोविशुध्यन्ति-त्र्यहादुदकदायिनः ॥
 गुरोःप्रेतस्यशिष्यस्तु-पितृमेधंसमाचरन् ।
 प्रेतहारैःसमंतत्र-दशरात्रेणशुध्यति ॥
 रात्रिभिर्मासतुल्याभि-र्गर्भस्रावेविशुध्यति ।
 रजस्युपरतसाध्वी-स्नानेनश्त्रीरजस्वला ॥
 नृणामकृतचूडानां-विशुद्धिर्नैशिकीस्मृता ।
 निवृत्तचूडकानांतु-त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥

[प्राक्संस्कारप्रमीतानां-वर्णानामविशेषतः ।

त्रिरात्रात्तुभवेच्छुद्धिः-कन्यास्वहोविधीयते ॥

अदन्तजन्मनःसद्य-आचूडान्नैशिकीस्मृता ।

त्रिरात्रमात्रतादेशा-दशरात्रमतःपरम् ॥

परपूर्वासुभार्यासु-पुत्रेषुप्रकृतेषुच ।

मातामहेत्रिरात्रंतु-एकाहंत्वसपिण्डतः ॥ ३ ॥]

ऊनद्विवार्षिकंप्रेतं-निदध्युर्वान्धवाबहिः ।

अलंकृत्यशुचीभूमा-वस्थिसंचयनादूते ॥

नास्यकार्योऽग्निसंस्कारो-नचकार्योदकक्रिया ।

अरण्येकाष्ठवत्यक्त्वा-क्षपेयुस्त्यहमेवच ॥

नात्रिवर्षस्यकर्तव्या-बान्धवैरुदकक्रिया ।

जातदन्तस्यवाकुर्यु-र्नास्निवापिकृतेसति ॥

सब्रह्मचारिण्येकाह-मतीतेक्षपणंस्मृतम् ।

जन्मन्येकोदकानान्तु-त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥

स्त्रीणामसंस्कृतानान्तुऽयहाच्छुध्यन्तिबान्धवाः

यथोक्तेनैवकल्पेन-शुध्यन्तिसनाभयः ॥

अक्षारलवणान्नाःस्यु-र्निमज्जेयुश्चतेऽयहम् ।

मांसाशनंचनाशुनीयुः-शयीरंश्चपृथक्विहती ७३

अ०-पुमान् योनावयोनी वा शुक्रं निरस्य त्यक्त्वो-
पस्पृश्यैव स्नात्वैव शुध्यति । अगम्यागमने ब्रह्मचारिव्रत-
लोपे च मानसदोषापगमार्थं भिन्नमेव प्रायश्चित्तं बोध्यमत्र तु

शारीराशौचनिवृत्तौ तात्पर्यम् । बैजिकादभिसम्बन्धादन्य-
स्त्रीषु जायमानतन्मरणयोस्त्यहमाशौचं मन्तव्यम् । शव-
स्पृशः सर्वे दशभिरहोरात्रैः शुध्यन्ति । उदकदायिनः समा-
नोदका यद्वोदकाय ददत्युदकं वास्मै ददति ते जलाशये
नि-क्षेपकास्तु त्र्यहाच्छुध्यन्ति । प्रेतस्य मृतस्य गुरोः स्व-
जनकवदन्त्येष्टिं कुर्वाणः शिष्यस्तु गुरुशवनेतृवद्दशाहोरात्रैः
शुध्यति । षण्मासावधि गर्भपतनं गर्भस्त्रावपदवाच्यं तत्र
यावन्मासिको गर्भः स्रवति तावद्विरहोरात्रैः स्त्रीविशुध्यति
साध्वीरजस्वला स्त्री रजस्युपरते निवृत्ते स्नानेन शुध्यति
असाध्वी तुरजस्वला भूत्वापि न शुध्यत्यपितु यथोचित-
प्रायश्चित्तैरेवेति ध्वनितम् । अकृतचूडानां नृणामेकाहोरा-
त्रेण शुद्धिः । निवृत्तचूडकानान्तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ।
अत्रैव पद्यत्रयं पश्चात् क्षिप्रमुपलभ्यते तेषां विशिष्टोऽर्थः
प्राकृते द्रष्टव्यः । यस्य द्वे वर्षे न संपूर्णं तमूनद्विवार्षिकं
प्रेतं मृतं बालं बान्धवा गृहाद्ग्रामाद्वा बहिः शुचौ भूमा-
वलंकृत्य निदधुः । अग्निसंस्कारमन्तरेण तस्यास्थिसंचयनं
च न कार्यम् । तस्याग्निना संस्कारो दाहोऽपि न कार्यो न-
चोदक्रियोदके प्रक्षेपणं कार्यम् । अपित्वरण्ये शुद्धकान्त-
देशे गत्तं कृत्वा तस्मिन्काष्ठवज्जडवस्तुवदपिधाय काष्ठा-
पिधाने यथा शोके न भवति तथा शोकत्यागपुरस्सरं मृतं
शिशुशवं त्यक्त्वा त्र्यहं क्षपेयुः क्षीणा उदासीना अशुद्धा
बान्धवा भवेयुः । अत्रोनद्विवार्षिकमित्यस्यार्थमन्ये मन्यन्ते
—उपनयनसंस्काराय यस्य द्वे वर्षे ऊने अवशिष्टे सजनद्वि-
वार्षिकः षड्वार्षिकइति यावत् । प्रथमाब्दे चूडाकर्मण्यकृते

द्विवर्षावधि संस्थिते च सप्तषष्टितमपद्येन सहास्य विकल्पो बोध्यः । अत्रिवर्षस्य बान्धवैरुदकक्रिया न कर्त्तव्या । अ-
पूर्णावर्षत्रयस्य बान्धवैरुदके जलाशये प्रक्षेपो न कार्योऽत-
जध्वं द्विजसंस्कारादर्वागुदकक्रिया कर्त्तव्येति केषांचिन्मत-
मपरेषां तु मते जातस्य नाग्नि वापिकृतेसति मृतस्य शिशोरु-
दकक्रिया कर्त्तव्या । समाने ब्रह्मचारिणि मृते—एकाहमाशौचं
मन्तव्यम् । स्ववर्णस्थसमानोदकमित्रादीनां गृहे सौतका-
शौचे त्रिरात्रं शुद्धिः कार्या । असंस्कृतानामविवाहितानां
वाचा दत्तानां वा स्त्रीणां कन्यानां मरणे बान्धवास्त्र्यहा-
च्छुध्यन्ति । वाग्दाने सति पत्यादिभिरपि त्र्यहमाशौचं
विधेयम् । चूडाकर्मावधि कन्यामरणे सद्यः, तदनन्तरं वा-
ग्दानावध्येकाहोरात्रमात्रं पित्रादिभिरेवाशौचं मन्तव्यम् ।
सर्वत्रैव शावाशौचकाल इदं कार्यम्—कृत्रिमलवणविहीनं सै-
न्धवलवणयुतं वाऽन्नमशनीयुः, नदीतडागादौ बृहति जलाशये
च त्र्यहं स्नानं कुर्युः, मांसाद्यभक्ष्यं च किमपि नाशनीयुः । क्षि-
तौ पृथक् २ च शयीरन् । स्त्रियाः समीपे कोऽपि न शयीत
ब्रह्मचारिभिः सर्वैर्भाव्यम् ॥

भा०—अह्ना चैकेनेति पद्येन विचित्रकथनप्रकारेणादशा-
होरात्रं भणितम् । पितृमेधपदेनात्र सामान्यतया शवदाहस्य
नरमेधत्वमागतमेव तथा च यज्ञाय मनुष्यवधं मन्यमा-
ना भ्रान्ता एव । अश्वमेधादिवदन्त्यकर्मणि यज्ञविधिनैव-
शवदाहो मन्त्रोच्चारणपुरस्सरं घृताहुतिभिरेव कार्यः । नि-
षेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिरित्यन्यत्रापि दर्शि-
तमेव । प्रेतपदेन चात्र शवस्य ग्रहणां स्पष्टमेव तेन प्रेतप-

दवाच्यार्थेऽपि बहवो लोके भ्रान्ताएव मन्तव्याः । सर्वत्रैव-
शावाशौचे यादृशसन्निकृष्टः संतिष्ठते तादृशएवस्थूलः सू-
क्ष्मश्च देहांशः सपिण्डिनां हीयते यथा च कस्यापि हस्तपादा-
द्यङ्गे छिन्ने हानिस्तथा तत्रापि सर्वेषामेकांशत्वात् । सत्यां च
हानौ शोकएवाशौचम् । तच्च मानसं शारीरं वाशौचं व्रतच-
र्यया कालेन च हीयते—वायुः कर्मार्ककालौ चेति—का-
लस्य शोधकत्वं स्वयमेव वक्ष्यति । सौतकं त्वाशौचं मा-
लिन्यजनितं हर्षजनितं च प्रधानं मालिन्यं जनन्याएव
सदापि सम्बन्धात्परम्परयान्येष्वप्यायात्थेव । हर्षेणापि शो-
कवत्ततोऽप्याधिक्येन वा व्याकुला भवन्त्येव न तदाऽन्यानि
कर्माणि सम्यक् सिध्यन्ति । अतएवोत्सवेषु नित्यकार्येभ्यो-
ऽवकाशमङ्गीकुर्वते जनाः ॥७३॥

भाषार्थः—(पुमाङ्गुलं निरस्य तूपस्पृश्यैव शुध्यति) पुरुष किसी स्त्री में
या कहीं वीर्य को गिरा कर स्नान करके ही शुद्ध होता है। अगम्या स्त्री से व्य-
भिचार करने और ब्रह्मचारी का नियम टूटने में मानस दोष को हटाने के लिये
प्रायश्चित्त इस से भिन्न ही जानी यहां तो केवल शारीरिक अपवित्रता दूर करने
के लिये ही स्नानमात्र कह दिया है (वैजिकादभिसम्बन्धाद्यं त्र्यहमनुरुन्ध्यात्)
अपने वीर्य से अन्य किसी विजातीय वा सजातीय अविवाहित स्त्री में सन्तान
के उरपन्न होने वा उरपन्न हुए के मरने में तीन दिन की अशुद्धि माननी चाहिये
(आह्रा चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः शवस्पृशो विशुध्यन्ति) एकदिन
रात और तीन दिन रात तीन वार करने से नव ऐसे दश दिनरात में मुर्दा को
छूने वाले सब लोग कुटुम्बी से भिन्न भी शुद्ध होते हैं अर्थात् किसी विजातीय
मुर्दा का स्पर्श करने वाले भी दश दिन अशुद्धि मानें (त्र्यहादुदकदायिनः) साथ
में जल पीने वाले वा मुर्दा को जल में गिराने वाले तीन दिन रात अशुद्धि म-
नावें (प्रेतस्य गुरोः पितृमेधं समाचरन् शिष्यस्तु) गुरु के मृतक देह का विधि-
पर्वक पिता के समान अन्त्येष्टि संस्कार करता हुआ शिष्य (तत्र प्रेतहारैः समं

दशरात्रेण शुध्यति) उस नरमेध में अन्य मुर्दा को ले चलने वालों के समान दश दिन रात में शुद्ध होता है (मासतुल्याभीरात्रिभिर्गर्भस्रावे विशुध्यति) छः महिने पर्यन्त गर्भ का गिर जाना गर्भस्राव कहाता है सो छः के भीतर जितने मास का गर्भस्राव हुआ हो उतने ही दिन में वह स्त्री स्पर्शादि के योग्य शुद्ध होती (साध्वी रजस्वला स्त्री रजस्युपरते स्नानेन) अच्छे चाल चलन वाली रजस्वला हुई स्त्री रजस् नामक रुधिर गिरना बन्द हो जाने पश्चात् स्नान करके शुद्ध होती है । पर व्यभिचार करने वाली रजस्वला होके स्नान कर लेने पर भी शुद्ध नहीं होती किन्तु उस के लिये यथोचित दण्डरूप प्रायश्चित्त ही शुद्धि का हेतु होगा ग्रन्थकार का यह भीतरी आशय झलकता है (अकृतचूडानां नृणां नैशिकी विशुद्धिः स्मृता) चूडाकर्म संस्कार न होने तक बालक के मर जानेपर एक दिनरात में शुद्धि मानी गयी (निवृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते) और चूडाकर्म संस्कार होजाने पर मृत्यु हुआ हो तो तीन दिन रात में शुद्धि होना अभीष्ट है । इसी के आगे तीन श्लोक पीछे से मिलाये हुए किही पुस्तकों में मिलते हैं उन का संक्षेपार्थ “यज्ञोपवीत संस्कार होने से पूर्व मरे हुए सब वर्णस्थ बालकों की तीन दिन में शुद्धि करे । वाग्दान से पूर्व अविवाहित कन्याओं के मृत्यु में एक दिन रात के पश्चात् शुद्धि कर लेवे, दांत न जमने से पूर्व ही बालक के मरने पर तत्काल शुद्धि, तदनन्तर चूडाकर्म पर्यन्त मरने पर एक दिन रात में, त्रेदारम्भ संस्कार से पूर्व २ तीन दिन में और इस से आगे दशदिन में शुद्धि करे । जो स्त्री अपने साधारण योग्यता वाले वा निकृष्ट पति को छोड़ के अन्य बड़े धनवान् बलवान् आदि योग्य पुरुष को पति बनाती है वह पर पूर्वा कहाती ऐसी स्त्रियों में उत्पन्न हुए पुत्रों के वा नियोगादि से अन्यस्त्री में उत्पन्न किये अन्य पुत्रों के मरने पर तथा नाना के मरने पर तीन दिन में शुद्धि करे और सात पीढ़ी से भिन्न किसी कुटुम्बी की गमी में एक दिन अशुद्धि माने” (बान्धवा ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं वहिः शुचौ भूमावलंकृत्य निदध्युः) कुटुम्बी वा वारिस लोग दो वर्ष से न्यून आयु के मरे हुए बालक को घर तथा ग्राम से बाहर शुद्ध भूमि में शृङ्गार कज्जलादि लगाके गाड़ देवे और (अस्थिसंचयनादृते) अग्नि में दाह न होने के कारण अस्थि संचयन न करें (अस्याग्नि संस्कारो न कार्यो नचोदकक्रिया कार्या) उस बालक का दाह और जलप्रवाह न करें किन्तु (काष्ठवदरगये त्यक्त्वा त्र्यहमेव च क्षपेयुः) लकड़ी के समान एकान्त में छोड़के तीन दिन उदासीनतारूप अशुद्धि मानें अर्थात् जैसे जड़ पदार्थ काष्ठादि के त्या-

गने वा गाढ़ देने में कुछ शोक नहीं होता जैसे शोक के त्यागपूर्वक मृतक बाल मुर्दा को एकान्त देश में गाढ़ दें। यहां ऊनद्विवार्षिक पद का अन्य कोई लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि जिस के उपनयन संस्कार में दो वर्ष समय शेष रह हो वह छः वर्ष का बालक ऊनद्विवार्षिक है। यदि प्रथम वर्ष में चूड़ाकर्म न हुआ हो और दो वर्ष के भीतर मर जावे तो सरसठवें श्लोकानुसार एक दिन वा इस के अनुसार तीन दिन अशुद्धि मानना ये दोनों पक्ष विकल्प से माने जायेंगे सो जहां जैसा उचित हो वहां वैसा किया जाय। किहू का मत है कि (अत्रि-वर्षस्य बान्धवैरुदकक्रिया न कर्त्तव्या) तीन वर्ष के भीतर मरे बालक का मुर्दा कुटुम्बियों को जल में नहीं डालना चाहिये (जातदन्तस्य वा कुर्धुरपि वा नाग्नि कृते सति) दांत उत्पन्न हो जाने पर अथवा नामकरण संस्कार हो जाने पर जलप्रवाह कर देना चाहिये यह किहू अन्य लोगों का मत है (सब्रह्मचारि-ण्यतीतएकाहं क्षणं स्मृतम्) एक गुरु के पास पढ़ने वाले ब्रह्मचारियों में से किसी के मर जाने पर अन्य ब्रह्मचारी लोग एक दिन अशुद्धि मानें (एकोद-कानां जन्मनि तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते) एक साथ वा एक पात्र से जल पीने वाले अपने सजातीय मित्रादि के घर में सन्तानोत्पत्ति होने पर तीन दिन में शुद्धि करे (असंस्कृतानां स्त्रीणां तु बान्धवास्त्रहाच्छुध्यन्ति) अविवाहित वा वाग्दानमात्र हुई कन्याओं के मरजाने पर कन्या के पित्रादि तीन दिन में शुद्ध होते और वाग्दान मात्र हुई कन्याओं के मृत्यु में तीन दिन दोनों पक्ष वालों को अशुद्धि लगती है इस से पत्यादि भी वहां शुद्धि करे [अन्यस्मृतियों में स्प-ष्ट लिखे अनुसार कन्या के मृत्यु में व्यवस्था यह है कि—चूड़ाकर्म संस्कार से पूर्व २ कन्या के मरने पर तत्काल शौच, तत्पश्चात् वाग्दान से पूर्व २ एक दिन रात में पित्रादि को ही शुद्धि करनी चाहिये। और वाग्दान से विवाह पर्यन्त कन्या के मरने पर पिता भाई तथा प्रवशुर पति आदि दोनों पक्ष वालों को अ-शुद्धि मनानी चाहिये और चतुर्थी कर्म से आगे २ केवल पति आदि कन्या के मरने में दश दिन अशुद्धि मानें] मृतक अशुद्धि गमी के समय में निम्न प्रकार का वर्त्ताव सब को सदा करना चाहिये (अक्षारलवणान्ताःस्युः) खार और क-त्रिम लवण न खावें वा खार और लवण मात्र का त्याग उन दिनों में रक्खें (ते त्र्यहं च निमज्जेयुः) और वे अशुद्धि मानने वाले सब लोग तीन दिन तक किसी नदी तालाव आदि जलाशय में घुस कर स्नान करें (मांसाशनं च नाश्नी-युः) मांसादि अभक्ष्य पदार्थ का भोजन न करें (क्षितौ पृथक् शयीरंश्च) पृथिवी

में अलग २ सोया भी करें अर्थात् खटिया पर कोई न सोवे और भूमि पर भी स्त्री के पास कोई न सोवे किन्तु सब लोग ब्रह्मचारी बन के ब्रह्मचर्य के नियमों से रहें ॥

भा०—(अह्नाचैकेन०) इत्यादि श्लोक में विलक्षण रीति से दश दिनरात कहे हैं । पितृमेघ कहने से यहां सामान्य मुर्दा जलाने का नाम नरमेघ आग-या । इस कारण नरमेघ में यज्ञ के लिये मनुष्य का वध करना मानने वाले भ्रान्ति में ही हैं । अश्वमेधादि के तुल्य अन्त्येष्टि कर्म में यज्ञ विधि से ही मन्त्रोच्चारण पूर्वक मुर्दा को घी आदि की आहुतिओं द्वारा जलाना चाहिये “गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त जिस का विधान वा कर्तव्य मन्त्रों द्वारा कहा गया है” इत्यादि प्रकार मनु जी ने अन्यत्र भी यही लिखा है । और प्रेत शब्द से यहां मुर्दा का ग्रहण स्पष्ट ही है । तिस से प्रेत पद के वाच्यार्थ में भी अनेक लोग भ्रान्त ही मानने चाहिये । सर्वत्र ही गमी सम्बन्धिनी अशुद्धि में जैसा समीपी पुरुष मरता है वैसा ही स्थूल और सूक्ष्म सपिण्डस्थों के शरीर का अंश हीन होता है । जैसे किसी के हाथ पग आदि किसी अङ्ग के कट जाने पर हानि होती वैसे वहां भी सब कुटुम्बियों के एक होने से हानि होती और उत्पत्ति से वृद्धि भी होती है । और हानि होने पर मुख्य कर शोक ही अशुद्धि है वह मानस वा शरीरसंबन्ध की अशुद्धि व्रत सेवन करने और काल वीतने पर कूट-ती वा निवृत्त होती “वायु, कर्म, सूर्य, काल इत्यादि शरीरधारियों के शोधक पदार्थ हैं । ” इस प्रकार काल का शोधक होना ग्रन्थकार ने स्वयमेव कहा है । जनने सम्बन्धी अशौच मलिनता हर्ष से होती और उस में सर्वापरि मुख्य मलिनता माता को ही होने पर अन्यो का सम्बन्ध होने से परस्परा के साथ अन्यो में भी अशुद्धि आती ही है । और शोक के समान वा उस से भी अधिकता के साथ हर्ष में भी मनुष्य व्याकुल होते ही हैं उस दशा में अन्य काम ठीक २ सिद्ध साथ नहीं होते यही व्याकुलतारूप अशुद्धि है ॥ ७३ ॥

सन्निधावेषवैकल्पः शावाशौचस्यकीर्तितः

असन्निधावयज्ञेयो विधिःसम्बन्धिवान्धवैः ॥

विगतंतुविदेशस्यं शृणुयाद्योह्यनिर्दशम् ।

यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥

[मासत्रये त्रिरात्रं स्यात् षणमासे पक्षिणी तथा ।

अहस्तु नवमादूर्वा-गूर्ध्वं स्नानेन शुध्यति ॥]

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।

संवत्सरे व्यतीते तु सद्यः पृथक् वैवापो विशुध्यति ॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ।

सवासा जलमाप्नुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥

बाले देशान्तरस्थे च पृथक् पिण्डे च संस्थिते ।

सवासा जलमाप्नुत्य सद्य एव विशुध्यति ॥ ७८ ॥

अ०-समीपस्थानां शावाशौचं पूर्वमुक्तं संप्रति विदेशस्थानां सम्बन्धिवान्धवानामाशौचमुच्यते । यो विदेशस्थं विगतं मृतमनिर्दशं दशाहाभ्यन्तरे शृणुयात्तत्र दशरात्रस्य यावच्छेषं तावदेवाशुचिर्भवेत् । अत्रैकं पद्यं पश्चात् क्षिप्तमुपलभ्यते । दशाहेऽतिक्रान्ते च दिनत्रयेण शुद्धिः कार्या संवत्सरे व्यतीते तु सद्यः स्नानमात्रेण शुद्धिः । ज्ञातेर्मरणं स्वस्य पुत्रस्य जन्म च दशाहानन्तरं श्रुत्वा सवासा तदानीं धारितसर्ववस्त्रैः सहैव स्नात्वा मानवः शुद्धो भवतीति केषांचिन्मतम् । देशान्तरस्थे बाले पृथक् पिण्डे मातुलस्यालादिबन्धौ च संस्थिते मृते सति तच्छ्रुत्वा सवासा जलमाप्नुत्य सद्य एव विशुध्यति ॥

भा०-यथैकदेशस्थानामितरेतरं सम्बन्धः प्रीतिरूपकारश्च जायते न तथा दूरस्थानां तिष्ठति । तेनैवाशौचस्या-

प्यल्पत्वं बोध्यम्। यथा च सन्निहितं मालिन्यं सङ्गिन्यासक्तं भवति न तथा दूरस्थमित्यादिकारणैराशौचभेदः सन्निहितासन्निहितयोः। यथा कालात्ययः सर्वानेव भावान् परिवर्तयति तथैव सन्निहितासन्निहितयोर्द्वयोरपि हर्षशोकौ कालेन परिवर्तते। यादृशौ सन्निहितसम्बन्धिनां जन्ममरणयोर्हर्षशोकौ दृश्येते न तादृशौ विदेशस्थानामिति। तथापि यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सङ्गति मानससम्बन्धस्य विद्यमानत्वादुर्षशोकादिरूपमाशौचं विदेशस्थानामपि ज्ञातिसम्बन्धिवान्धवानां दुर्वारम्। तस्माद्यथायोगं विदेशस्थैरप्याशौचं मन्तव्यमेवेति ॥ ७८ ॥

भाषार्थः—(शावाशौचस्यैव सन्निधौ वै कल्पः कीर्तितः) मुर्दा सम्बन्ध की अशुद्धि—[गमी मानने का यह प्रकार] समीपस्थों के लिये ही पूर्व कहा (सम्बन्धिवान्धवैरसन्निधावयं विधिर्ज्ञेयः) कुटुम्बी और नातेदारों वा गुरु शिष्यादि विद्या धर्म सम्बन्धियों को मृतक के दूरस्थ होने पर यह आगे कहा विधान वा रीति जाननी चाहिये (ये हि विदेशस्थं तु विगतमनिर्देशं शृणुयात्) जो पुरुष विदेश में मरे को दश दिन के भीतर संदेशादि द्वारा सुने (दशरात्रस्य यच्छेषं तावदेवाशुचिर्भवेत्) तो दश दिन में जितना समय शेष रहा हो उतने ही काल तक अशुद्धि माने [इसी के आगे एक श्लोक पीछे मिलाया मिलता है उस का अर्थ (मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्०) दश दिन के पश्चात् तीन महीने के भीतर कुटुम्बी आदि का मरण विदेश में सुने तो तीन दिन रात अशुद्धि माने तथा छः महीने के भीतर सुने तो दो दिन एक रात, नव मास तक सुने तो एक दिन रात और इस से आगे मृत्यु सुने तो तत्काल स्नान करने से शुद्ध ही जाता है] (दशाहेतुकान्ते त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्) दश दिन बीत जाने पर विदेशस्थ तीन दिन की अशुद्धि माने और (व्यतीते तु संवत्सरे—अपःस्पृष्ट्वैव विशुध्यति) गमी होना एक वर्ष बीत जाने पर सुनाजाय तो तत्काल स्नान से ही विदेशस्थ बन्धु शुद्ध हो जाता है। और किन्ही का मत है कि (निर्देशं ज्ञाति-

मरणं पुत्रस्य जन्म च श्रुत्वा) दश दिन के पश्चात् किसी कुटुम्बी का मरना और अपने पुत्र का जन्म हुआ सुने तो (मानवः सवासा जलसामृत्य शुद्धो भवति) मनुष्य उस समय धारण किये वस्त्रों सहित स्नान कर के शुद्ध हो जाता है अर्थात् अपने शरीर के सब वस्त्रों का प्रक्षालन भी अवश्य करे (देशान्तरस्थे वाले च पृथक्पिण्डे च संस्थिते) देशान्तर में रहते हुए बालक का तथा अपने कुलमौत्र से भिन्न मामा, प्रवशुर, साले आदि सखन्धी का मरण सुन कर (सवासा जलसामृत्य) वस्त्रों सहित जल में स्नान कर के (सद्यएव विशुध्यति) शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है ॥

भा०—जैसा एक नगर ग्राम वा घर में रहने वालों का परस्पर मेल, प्रीति और उपकार होता है । वैसा दूरस्थों में नहीं होता इसी से कहा है कि (स्नेहः प्रवासाश्रयात्) विदेश में रहने वालों की प्रीति घट जाती है । इसी से अशुद्धिरूप शोक भी कम होना जानो । जैसी समीपस्थ मलिनता निकट रहने वाले में लगती है वैसी दूरस्थ को नहीं लगती इत्यादि कारणों से समीपस्थ दूरस्थों में अशुद्धि का भेद रक्खा गया है । और जैसे अधिक २ समय का बीतना समीप पदार्थों की दशा को बदलता है । वैसे ही सन्निहित असन्नित दोनों का हर्ष शोक व मलिनता काल बीतने से बदल जाती है । जन्म मरण होने में जैसे हर्ष शोक समीपस्थों को होते देखते हैं वैसे दूरस्थों को नहीं होते । तो भी जिस का जिस के साथ जैसा जिस का निकट सखन्ध होता है वह दूरस्थ भी उसी का होता वा उसी के समीप है । इस प्रकार मानस सूक्ष्म तथा वीर्यादि कारण सखन्ध के विद्यमान होने से हर्ष शोकादिरूप अशुद्धि विदेशस्थ कुटुम्बी सखन्धी और बान्धवों को होती ही है । तिस से विदेशस्थों को भी यथायोग्य शुद्धि माननी ही चाहिये ॥ ७८ ॥

अन्तर्दशाहेस्यातांचेत्-पुनर्मरणजन्मनी ।

तावत्स्याद्दशुचिर्विप्रो-यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ।

अ०—पूर्वाशौचे प्रवृत्ते तद्दशाहमध्ये पुनर्मरणं जन्म वा द्वितीयमापद्येत तदा पूर्वाशौचस्य दशमदिनेऽल्पकालिकस्य द्वितीयाशौचस्यापि शुद्धिः कर्त्तव्या ॥

भा०—अत्र पक्षचतुष्टयं सम्भवति । मरणो मरणं, जन्मनि जन्म, मरणो जन्म, जन्मनि च मरणम् । एतदेक-

स्मिन् गृहे सपिण्डे वा स्यात्तत्रायं विशेषउशनसौक्तः—स्व-
 ल्पाशौचस्य मध्ये तु दीर्घाशौचं भवेद्यदि । न पूर्वशौचं शुद्धिः
 स्यात्सकालेनैव शुध्यति ॥ अङ्गिराअप्याह—सूतके मृतकं
 चेत्स्यान्मृतके त्वथ सूतकम् । तत्राधिकृत्य मृतकं शौचं
 कुर्यान्न सौतकम् ॥ षट्त्रिंशन्मतेऽपि—शावाशौचे समुत्पन्ने
 सूतकं तु यथा भवेत् । शावेन शुध्यति सूतिर्न सूतिः शा-
 वशोधिनी ॥ यदि स्यात्सूतके सूतिर्मरणे वा मृतिर्भवेत् ।
 शेषेणैव भवेच्छुद्धिरहःशेषे त्रिरात्रिकम् ॥ मातर्यग्रे प्रमीता-
 यामशुद्धो म्रियते पिता । पितुः शेषेण शुद्धिः स्यान्मा-
 तुर्मातृकपक्षिणीम् ॥ प्रथमपक्षे पूर्वमृत्युकालेन परमृत-
 स्यापि शुद्धिः । अग्रे मातरि मृतायां च दशाहमध्ये पितापि
 चेन्म्रियेत तदा मातुर्दशमदिने पूर्वं पितुराशौचं समाप्यान-
 न्तरं मातुराशौचं सार्धैकेनैव दिवसेन समाप्यम् । द्वितीयपक्षे
 पूर्वजननाशौचकालेनैवेतरमप्याशौचं समाप्यम् । तृतीय-
 चतुर्थयोस्तु शावाशौचकालेनैव सौतकमाशौचं समाप्यम् ॥७६॥

भाषार्थः—(अन्तर्दशाहे पुनर्मरणजन्मनी स्यातां चेत्) पहिली गमी वा
 सूतक अशुद्धि बनी हो उस की शुद्धि न कर पाई हो तब तक दश दिन के भी-
 तर ही अन्य किसी का मरण वा जन्म हो जाय तो (बिप्रो यावत्तद्दिर्दशं
 स्यात्तावदशुचिः स्यात्) वहां ब्राह्मण वा विचारशील विद्वान् द्विज तब तक अ-
 शुद्धि माने जब तक उस पहिले के दशदिन पूरे नहीं हों अर्थात् उसी प्रथम मृ-
 तक के दशम दिन में दूसरे तीसरे जन्म मरणादि की अशुद्धि को समाप्त कर
 शुद्धि कर लेनी चाहिये ॥

भा०—यहां चार पक्ष वा प्रकार खड़े होते हैं । १—एक के मर जाने पर
 दश दिन के भीतर अन्य का मरजाना । २—एक का जन्म होने पर दश दिन के
 भीतर अन्य का जन्म होना । ३—एक के मरने पर दूसरे का जन्म होना और एक के
 जन्म होने पश्चात् दश दिनके भीतर किसीका मरजाना । यह सब एकघरमें वा सात

पीढ़ी कुटुम्ब में हो तो वहां यह विशेषता उशना की स्मृति में लिखी है कि "थोड़े आशौच नाम तीन चार आदि दिन मानने योग्य अशुद्धि के भीतर वा जनन की अशुद्धि के भीतर बड़ी अशुद्धि किसी अच्छे का मरण हो तो वहां पिछले के साथ में द्वितीय की शुद्धि न होनी चाहिये । जैसे कोई ऐसा बालक मरा जिस की पूर्व कथनानुसार तीन दिन अशुद्धि मानी जावे अथवा कोई बालक जन्मा तो उस की शुद्धि न हो जाने से पूर्व ही कोई मनुष्य मर जावे तिस की दश दिन अशुद्धि मानी जानी चाहिये तो वहां पूर्व के साथ में द्वितीय मरण की शुद्धि नहीं होनी चाहिये किन्तु वहां दूसरे की शुद्धि पूरे दश दिन होने पर मानी जावे और उसी के साथ पहिले की भी शुद्धि हो, और अङ्गिरा की स्मृति में भी कहा है कि—जन्म में मरण वा मरण में जन्म पहिले की शुद्धि न होने तक हो जाय तो वहां मृतक के साथ में सूतक की शुद्धि करे किन्तु सूतक के साथ मृतक की शुद्धि न होनी चाहिये" और षट्त्रिंशन्मत में भी लिखा है कि "गमी हो जाने पर दश दिन के भीतर किसी का जन्म हो तो वहां गमी के साथ में जन्म की शुद्धि होगी किन्तु जन्म के साथ मरण की नहीं । और यदि जन्म में जन्म वा मरण में मरण हो तो पहिले के जितने दिन शेष हों उसी में दोनों की शुद्धि करली जावे और पहिली अशुद्धि का एक ही दिन वाकी रह गया हो तो पिछले को तीन दिन बढ़ा के दोनों की शुद्धि करलेवे । यदि माता पहिले मरे और उस की शुद्धि होने से पूर्व पिता भी मर जाय तो माता के दशवें दिन प्रथम पिता की शुद्धि करके डेढ़ दिन में माता की शुद्धि हो जावे । यहां प्रथम पक्ष में पूर्व मृत्यु काल के साथ पीछे मरे की शुद्धि हो जावे और इसी पक्ष के साथ माता पिता दोनों के मरने में विशेषता है । द्वितीय पक्ष में पहिले जनन शौच के साथ परजनन की भी शुद्धि हो और तीसरे चौथे पक्ष में गमी के साथ में जनन की भी शुद्धि हो जानी चाहिये ॥७९॥

त्रिरात्रमाहुराशौच—माचार्यसंस्थितेसति ।

तस्यपुत्रेचपत्न्यांच दिवारात्रमितिस्थितिः ॥

श्रोत्रयेतूपसस्पन्ने—त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।

मातुलेपक्षिणींरात्रिं शिष्यगित्त्वर्गवान्धवेषुच ।

प्रेतेराजनि सज्योति-र्यस्यस्याद्विषये स्थितः ।
 अश्रोत्रियेत्वहः कृत्स्न-मनूचानेतथागुरौ ॥
 शुध्योद्विप्रोदशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
 वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥८३॥

[क्षत्रविदूशूद्रदायादाः स्युश्चेद्विप्रस्यवान्धवाः ।

तेषामशौचं विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥

राजन्यवैश्ययोश्चैवं हीनयोनिषु बन्धुषु ।

स्वमेव शौचं कुर्वीत विशुध्यर्थमिति स्थितिः ॥

विप्रः शुद्धे दशाहेन जन्महानौ स्वयोनिषु ।

षड्भिस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविदूशूद्रयोनिषु ॥

सर्वे चोत्तमवर्णास्तु शौचं कुर्युरतन्द्रिताः ।

तद्वर्णाविधिदृष्टेन स्वन्तु शौचं स्वयोनिषु ॥ ४ ॥]

अ०-उपपन्ने मैत्रीभावादिनाति समीपस्थे सहवासिनि
 श्रोत्रिये संस्थिते त्रिरात्रम् । शिष्येषु-ऋत्विक्षु, बान्धवेषु-
 पितृस्वसृमातृस्वसृसुतादिषु संस्थितेषु भयतो दिनद्वययुक्ता-
 मेकां रात्रीमशुचिः स्यात् । यस्य विषये राज्यदेशे स्थितः स्यात्
 तस्मिन् राजनि प्रेते सज्योतिराशौचं स्यात् । रात्रौ दिवसे
 वा यत्र राजा म्रियेत तस्मिन्नेवान्त्ये शौचं विदधीत । अ-
 श्रोत्रिये'अनूचाने साङ्गवेदाध्यापयितरि तथा गुरौ वेदार्थ-
 व्याख्यातरि संनिहिते च संस्थिते कृत्स्नमहो न तु रात्रा-
 वाशौचम् । त्र्यशीतितमपद्याग्नेऽत्र चत्वारि पद्यानि पश्चात्
 कैश्चित्क्षिप्तानि केषुचिदेव पुस्तकेषूपलभ्यन्ते । तेषामर्थः प्रा-
 कृते द्रष्टव्यः ॥ ८३ ॥

भा०—आचार्योऽपि गौण्या वृत्त्या गुरुपदवाच्यः । यदा शिष्येणैव तस्यान्त्येष्टिः क्रियते तदा दशाहमाशौचं पूर्वमुक्तम् । अत्र तु श्रवणमात्रेण त्रिरात्रमाशौचं मन्तव्यम् । पूर्वं चतुरहाद्याशौचकथनं ब्राह्मणस्यैव दशाभेदेन भिन्नं बोध्यम् । क्षत्रियादीनान्तु सामान्येन द्वादशाहादिरेवाशौचकालः । यथा च नीतिज्ञा मन्यन्ते—“न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं, नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।” अपित्वन्यस्य दुःखे यथायोगं दुःखितेन भाव्यमन्यस्य दुःखमपि दुःखं मत्वैव तस्य सहायो दयार्द्रचेताश्च भवति । अयं च दयामूलो धर्मएवास्ति तस्मादसपिण्डश्रोत्रियादिपुरुषे विपन्ने शोकरूपमाशौचं कुर्वाणस्य श्रोत्रियादित्वेन सह प्रीतिः प्रतीयते । आशौचकाले कामक्रोधलोभादिदोषेभ्योऽपि निवर्तते तेन चाधर्मान्निवृत्तिर्धर्ममार्गं च प्रवृत्तिरिति सर्वमेव शावाशौचं सुखस्य कारणमनिष्टवारकं च । क्षत्रियादयस्तु ज्ञानस्याप्रधान्यान् विप्रवत्सद्यःशोकं हातुं शक्ताइति मत्वा तदर्थं कालाधिक्यमुक्तम् । शूद्रस्तु सर्वापेक्षया मूढस्तस्यापि मासपरिमितः कालः शोकमपगमयति ॥८३॥

भाषार्थः—(आचार्यं संस्थिते सति त्रिरात्रमाशौचमाहुः) उपनयन कराके वेद पढाने वाले आचार्य—गुरु के सर जाने पर शिष्य को तीन दिन अशुद्धि माननी चाहिये [यदि आचार्य का दाह कर्म अन्य के अभावे में शिष्यही करे तो ६५ श्लोक में लिखे अनुसार उस को दश दिन आशौच मानना चाहिये] (तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः) उस आचार्य के पुत्र और पत्नी के सर जाने पर शिष्य को एक दिन रात गमी मनानी चाहिये (उपसंपन्ने श्रोत्रिये तु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्) सहवासी मित्र समीपस्थ श्रोत्रिय वेदाध्येता किसी विद्वान् के सर जाने पर तीन दिन और (मातुर्हे शिष्यत्किञ्चाम्भवेषु च

पक्षिणीं रात्रिम्) मामा, शिष्य, अपने ऋत्विज्-पुरोहितादि, बुआ वा मौसीके पुत्रादि वा श्वशुर साले आदि के मर जाने पर दो दिन एक रात गमी माननी चाहिये (यस्य विषये स्थितः स्याद्राजनि प्रेते सज्योतिः) जिस के राज्य में वसता हो उस राजा के मर जाने पर जब मृत्यु हो उस दिन भर वा रात्रि भर गमी माननी चाहिये (अश्रोत्रिये त्वनूचाने तथा गुरावहः कृत्स्नम्) वेद से भिन्न ग्रन्थों के ज्ञाता साङ्गोपाङ्ग वेद के अध्यापक और सामान्य गुरु जिस से थोड़ा भी शास्त्र पढ़ा हो ऐसे लोगों के मरने पर उन के साथ विशेष मेल वा सम्बन्ध न होने पर भी एक दिन मात्र गमी माने (दशाहेन विप्रःशुध्येत) साधारण मध्यम कोटि का ब्राह्मण सामान्यदशा में दश दिन (द्वादशाहेन भूमिपः) क्षत्रिय बारह दिन (वैश्यःपञ्चदशाहेन) वैश्य पन्द्रह दिन और (शूद्रो मासेन शुध्यति) शूद्र महीने भर अशुद्धि माने। और ग्यारहवें दिन आदि में सब शुद्ध हो जावें। इसी के आगे चार श्लोक पीछे मिलाये किसी २ पुस्तक में मिलते हैं (क्षत्रविट्०) इत्यादि उन का अर्थः—[क्षत्रिय वैश्य और शूद्र यदि ब्राह्मण के सम्बन्धी हों अर्थात् ब्राह्मण ने क्षत्रियादि की कन्या के साथ विवाह किया हो तो उन क्षत्रिय कन्यादि में उत्पन्न हुए पुत्रादि के मरने पर ब्राह्मण को दश दिन शुद्धि माननी चाहिये। और क्षत्रिय वैश्य शूद्र कन्याओं सम्बन्धी श्वशुर साले आदि के मरने पर भी अपनी शुद्धि के लिये ब्राह्मण स्वयमेव शौच करे। अपने सजातीय ब्राह्मण सम्बन्धियों में मरने पर ब्राह्मण दश दिन गमी माने। क्षत्रिय सम्बन्धी के मृत्यु में ६ दिन वैश्य के मृत्यु में तीन दिन और शूद्र सम्बन्धी के मृत्यु में एक दिन अशुद्धि माने। उत्तम वर्ण वाले सभी लोग निरालस्य हो के शुद्धि करें और शूद्र वर्ण तो प्रारब्ध वश अच्छा हो तो अपनी जाति में स्वयं शुद्धि ठीक २ करेगा। ब्राह्मण पुरुष क्षत्रियादि कन्याओं से विवाह करे यह एकदेशी नीच पक्ष है जो ऐसा करे उस के लिये एकदेशी आशौच कथन है किन्तु सर्वदेशी उत्तम पक्ष नहीं है] ॥

भा०—आचार्य भी गौण वृत्ति से गुरुपद वाच्य है। जब शिष्य ही आचार्य की अन्त्येष्टि करे तब उस को दश दिन अशुद्धि माननी चाहिये यह पूर्व कह चुके हैं। और यहां आचार्य का मृत्यु होना सुन जान के तीन दिन में शौच करना कहा है। पूर्व चार दिन आदि अशुद्धि के भेद भिन्न २ दशा में ब्राह्मण के लिये जानो। और क्षत्रियादि के लिये तो पूर्व कहा सामान्य कर बारह दिन

आदि का ही आशीर्ष समय है । जैसे नीतिज्ञ लोग मानते हैं कि "अपने ही सुख में जो हर्ष नहीं करता और न अन्य के दुःख में सुख मानता है वह उत्तम आर्य है" यह दया मूलक धर्म ही है तिस-से अपने विजातीय सपिण्ड से भिन्न श्रोत्रियादि पुरुष के मरने पर शोकरूप अशुद्धि मानने वाले की विद्वत्तादि शुभ गुणों वा विद्या धर्म के साथ प्रीति प्रतीत होती है । अशुद्धि वा शोक मानने के समय काम क्रोध लोभादि दोषों से भी मनुष्य वचता है इस कारण अधर्म से निवृत्ति और धर्म में रुचि वा प्रवृत्ति होती इस से सभी गमी की अशुद्धि मानना सुख का कारण और अनिष्ट दुःख का निवारक होता है । और क्षत्रियादि लोग ज्ञान के कम होने से ब्राह्मण विद्वान् के तुल्य शोक को शीघ्र नहीं त्याग सकते ऐसा मान कर ही उन के लिये अधिक अशुद्धि मानना कहा है । और सब की अपेक्षा अधिक मूढ़ शूद्र कहाता है उस का भी महीना भर का समय धीरे २ शोक को निवृत्त कर देता है । कभी कहीं किसी ब्राह्मणादि को भी अधिक और शूद्रादि को भी कहीं कभी कम समय तक अशुद्धि मानने की आवश्यकता अपवादरूप यथावसर हो सकती है ॥ ८३ ॥

नवर्धयेद्घाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषुक्रियाः ।

नचतत्कर्मकुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥

द्विवाकीर्त्तिमुद्वयांच पतितंसूतिकांतथा ।

शवंतत्स्पृष्टिनंचैव स्पृष्ट्वास्नानेनशुध्यति॥

आचम्यप्रयतोनित्यं जपेदशुचिदर्शने ।

सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहंपावमानीषुचशक्तिः
नारंस्पृष्ट्वास्थिसस्नेहंस्नात्वाविप्रोविशुध्यति

आचम्यैवतुनिस्स्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्यवा ॥

आदिष्टीनोदकंकुर्या-दाव्रतस्यसमापनात् ।

समाप्तेतूदकंकृत्वा त्रिरात्रेणैवशुध्यति ॥

वृथासंकरजातानां प्रवृज्यासुचतिष्ठताम् ।
 आत्मनस्त्यागिनांचैव निवर्त्ततोदकक्रिया ॥
 पाषण्डमाश्रितानांच चरन्तीनांचकामतः ।
 गर्भभर्तृद्गुहांचैव सुरापीनांचयोषिताम् ॥
 आचार्यस्वमुपाध्यायं पितरंभातरंगुरुम् ।
 निर्हत्यतुव्रतीप्रेतान्न व्रतेनवियुज्यते ॥
 दक्षिणेनमृतंशूद्रं पुरद्वारेणनिर्हरत् ।
 पश्चिमोत्तरपूर्वेस्तु यथायोगंद्विजन्मनः ॥८२॥

अ०—एकाहाद्यल्पकालिकेशौचे विश्रामालस्यादिहेतोरघ-
 स्यमालिन्यरूपाशौचस्य दिनानि न वर्धयेद्दशहाशौचकल्पं
 नोरीकुर्यात् । अग्निषु क्रिया न प्रत्यूहेन्न त्यजेत्सद्यः शौचं
 कृत्वा नैतिकं नियमितं कर्म कुर्यादेव । यस्य च कर्मणि
 नियमो नास्ति तेन तु शौचानन्तरमेव वा नियतं कर्मानु-
 ष्ठेयम् । नियतमग्निहोत्रादिकं कर्म कुर्वाणः सनाभ्यः सपि-
 ण्डोऽन्यो वा न कोऽप्यशुचिर्भवति । शुभकर्मानुष्ठानका-
 ले चाण्डालादिकं समीपतो दृष्ट्वा यथोत्साहं यथाशक्तिःसौ-
 रान्सूर्यदेवताकान्मन्त्रान्पावमानीश्र्चै जपेत् । दर्शनमात्रे-
 ण वायुना सहापि वा काचिदशुद्धिरागच्छति । नारं नारस्य
 मनुष्यस्य सरुनेहमस्थि स्पृष्ट्वा स्नायात् । निःरुनेहास्थि-
 स्पर्शने गां पृथिवीमालभ्य हस्तादिना संस्पृश्य हस्तं

तदङ्गं वा प्रक्षाल्य च सूर्यदर्शनं कृत्वा शुध्यति । आदिष्टी-
 आदिष्टव्रतानुष्ठायी ब्रह्मचारी मध्ये चान्द्रायणादिव्रतमार-
 भमाणी वा जनो व्रतस्यासमापनादुदकमुदकेन विशिष्टशौ-
 चमपि न कुर्यात् । समाप्ते तु व्रते, उदकं कृत्वा त्रिरात्रेण
 शुध्यति । वृथा जाताः पञ्चमहायज्ञादिविहीना नपुंसकाश्च,
 हीनवर्णानोत्कृष्टस्त्रीषु व्यभिचारेण जाताः संकरजाताः,
 प्रव्रज्यासु संन्यासाश्रमकृत्येषु तिष्ठतामात्मनस्त्यागिनां वि-
 षभक्षणादिना मृतानामुदकक्रियाऽशौचनियमो दशाहादि-
 नियतो न कार्यः । तेषामाशौचं नैव मन्तव्यम् । वेदबाह्यशै-
 ववैष्णवादिपाषण्डमतलिङ्गधारिणां स्त्रीपुरुषाणां, कामत-
 श्ररन्तीनां कुलटानां योषितां, गर्भद्रहामौषधसेवनादिना
 गर्भपातिकानां भर्तृद्रहां भर्तृताडनादिरतानां सुरापानर-
 तानां च योषितां मरणे तत्सम्बन्धिभिराशौचं नैव मन्त-
 व्यम् । स्वस्थाचार्यादीन् प्रेतान्ब्रती ब्रह्मचारी चान्द्रायणा-
 दिव्रतानुष्ठायी वा निर्हृत्य दाहादिकं कृत्वा स्वस्य व्रतेन
 न वियुज्यते स्वनियमं तथैव पालयेदाशौचलग्नेन तेन व्र-
 तिना व्रतकृत्यं नैव हेयम् । मृतं शूद्रं दक्षिणेन पुरद्वारेण, वैश्यं
 पश्चिमेन, क्षत्रियमुत्तरेण, ब्राह्मणं च पूर्वेण द्वारेण निर्ह-
 रेन्निस्सारयेत्-श्मशानभूमिं नयेत् ॥

भा०-यथा मलमूत्रत्यागादीन्यवश्यं कर्तव्यानि कर्माणि
 न केनापि कदापि त्यज्यन्ते तथैव नित्यसन्ध्योपासना-
 दिकर्मणामपि शावाशौचे सूतके वा नास्ति निरोधः । चा-
 ण्डालादिजनानामशुद्धिः समीपतद्भन्द्रियार्थसंनिकर्षणाया-

ति स्पर्शतिसामीप्यादाधिक्येनागच्छति तत्र स्नानं दर्शना-
दौ न्यूनागमने मनोग्लानिनिवृत्तये मन्त्राणां जपउक्तः।गोः
पृथिव्याः स्पर्शः सूर्यस्य दर्शनं च जलाभावकाले गौणं वि-
कल्पार्थम् । सूर्यपृथिव्यादितत्त्वानामपिशोधकत्वमनिवा-
र्यमेव । अत्रोदकक्रियापदेन केचन तर्पणश्राद्धादिकं लोकसिद्धं
वर्णयन्ति । स च मृतानन्तरमुदकप्रक्षेपस्य मृतेन सह न
कोऽपि सम्बन्धो लक्ष्यते यदि च कथमपि सप्रयोजनं सयु-
क्तिकं चोदकप्रक्षेपणरूपं तर्पणं निष्पद्येत तदा तस्यैवोदकक-
र्मणः प्रतिषेधोऽस्तु न कापि नो हानिरन्यथोदककर्मपदेन त-
त्कृतमाशौचं मन्यमानैर्विशिष्टं स्नानं सर्ववासःप्रक्षालनं स-
र्वगृहस्य मार्जनं लेपनं चेत्यादि सर्वं जलेनैव क्रियमाणमु-
दककर्म जायते । शोकश्राग्निगुणस्तस्य च जलेनैव शान्ति-
सम्भवात् । वृथाजातादिषु पूर्वतएव प्रीतिर्हीयते तस्मात्त-
त्र शोकोऽपि न जायते । आचार्यादिभ्योऽन्येषां निर्हरणम-
पि व्रतिनो न धर्मत उपपन्नमेषां च निर्हरणे व्रतभङ्गो ना-
स्त्येवं सर्वथा सर्वदैव व्रतभङ्गस्तस्य नेष्यते । व्रतं च शकृ-
द्विसर्गादिव देवनियतं कर्त्तव्यमेव जायते न तस्य त्यागः
शक्यते कर्त्तुम् । यच्च त्यज्यते मध्ये न तद्व्रतपदवाच्यम् ।
पूर्वादिदिग्भिः सह ब्राह्मणत्वादेः सम्बन्धोऽस्त्येव । पूर्वादि-
शयग्निः प्रधानो लोकपालः । आग्नेयो वै ब्राह्मणः । ए-
वमुत्तरादिदिशा सह क्षत्रियत्वादेरपि सम्बन्धो युक्तएव बो-
धयः । सम्प्रति तु प्रायेण सर्वएव शूद्रीभूता दक्षिणमार्ग-
णैव मृतान्नयन्ति । यथा च सर्वे वर्णा बहुत्र दशदिनान्ये-
वाशौचं मन्यन्ते । इयं च शास्त्रविरुद्धान्धपरम्परा बोधया ॥९२

भाषार्थः—(अघाहानि न वर्धयेत्) एक दिन आदि अल्प काल में समाप्त हो सकने वाली अशुद्धि वा शोक में विश्राम लेने वा आलस्य से पड़े रहने के लिये दिनों को न बढ़ावे अधिक दिनों तक अशुद्धि मानने का उद्योग न करे अर्थात् एक वा तीन दिन के आशौच में दश दिन आदि के कथन को न मान लेवे किन्तु अशुद्धि के दिनों को यथाशक्ति घटाने का उद्योग करे (अग्निषु क्रिया न प्रत्यूहेत्) अग्निहोत्रादि नियत कर्म को अशुद्धि के बहाने से न त्यागे किन्तु शीघ्र शुद्धि करके नियत समय पर नित्य कर्म को अवश्य करे । और जिस का अग्निहोत्रादि ठीक नियम से न चलता हो उस को गमी में अग्निहोत्रादि न करना चाहिये किन्तु शुद्धि करके वह सन्ध्यादि करे (तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्न च भवेत्) उस नियमित अग्निहोत्रादि कर्म को करता हुआ सपिण्डस्थ मनुष्य भी सम्बन्धी के मृत्यु में अपवित्र नहीं होता (दिवाकीर्त्तिमुद्वयां च) दिन में पुकार कर चलने वाले चाण्डाल [महतर] रजस्वला स्त्री (पतितं सूतिकां तथा) महापातकी वा उपपातकी जो पापी होने से जातिबाह्य किया गया हो, दश दिन के भीतर सूतिका स्त्री (शवं तस्पर्ष्टिनं चैव) मुर्दा शरीर और मुर्दा को छूने वाला इन सबका (स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति) स्पर्श करके मनुष्य स्नान करने से शुद्ध होता अर्थात् इन सब को छूकर स्नान करना चाहिये (अशुचिदर्शने प्रयत आचम्य) और शुभ कर्म का आरम्भ करने पर वा करते समय इन भङ्गी आदि सब अपवित्रों का समीप से दर्शन होजाय तो सावधान हो आचमन करके (यथोत्साहं यथाशक्ति सौरान् मन्त्रान् पावमानीश्च नित्यं जपेत्) उत्साह पूर्वक यथाशक्ति सूर्य देवता वाले [उदुत्यं जातवेदसं०] आदि मन्त्रों का तथा पवमानसूक्तों के मन्त्रोंका उक्त अवसरों पर नित्य जप किया करे (नारं सस्नेहमस्थि स्पृष्ट्वा विप्रः स्नात्वा शुध्यति) मांस मज्जादि लगी हुई मनुष्य की हड्डी को छूकर ब्राह्मण स्नान करे तो शुद्ध होता और (निस्नेहं तु आचम्यैव गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा) सूखी हड्डी के छूने पर हाथ में मट्टी लगाके धोवे और आचमन करके सूर्य का दर्शन वा मन से स्मरण करके शुद्ध होता यदि जल हाथ धोने को न मिले तो केवल हाथ मट्टिया कर सूर्य का दर्शनमात्र करले इसी पक्षान्तर को जताने के लिये यहां वा पढ़ा है (व्रतस्यासमापनादादिष्टी नोदकं कुर्यात्) शास्त्र में आज्ञा दिये हुए व्रत को करने वाला ब्रह्मचारी वा बीच २ चान्द्रायणादि व्रत करने वाला गृहस्थ पुरुष किसी सम्बन्धी के मरने पर व्रत पूरा होने से पहिले व्रतक्रिया को छोड़कर गमी

न मनावे अर्थात् जल सस्त्रन्धिनी नर्द शुद्धि न करे (समाप्तौ तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेशैव शुध्यति) और व्रत के समाप्त होने पर उदक क्रिया करके तीन ही दिन में शुद्ध होजाता है [जैसे किसी ने सात वा बारह दिन का व्रत किया हो उस के बीच में किसी का मृत्यु हो जावे तो व्रती अपने व्रत को न त्यागे और व्रत समाप्त होने पर तीन दिनगमी मान लेवे] (वृथासंकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम्) धर्मार्थ काम मोक्षों में से कोई भी जिस को प्राप्त नहीं हुआ वकरी के गले में निकले धन के तुल्य उस का जन्म व्यर्थ है, वा नपुंसक-हिजड़ा व्यभिचार से उत्पन्न हुए, संन्यासी होगये (आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्त्ततोदकक्रिया) विष खाके वा अन्य किसी प्रकार स्वयं आत्मघात करके मर जाने वाले मनुष्यों की गमी सस्त्रन्धियों को नहीं माननी चाहिये अर्थात् दश दिन आदि की अशुद्धि का नियम ऐसों के मरने पर मानना आवश्यक नहीं है (पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः) वेद विरुद्ध शैव वैष्णवादि पाषण्डमतों के चिह्नधारी स्त्री पुरुषों, स्वेच्छा से विचरने वाली व्यभिचारिणी स्त्रियों (गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम्) गर्भ गिराने वाली तथा पति से वैर विरोध करने वाली और मद्य पीने वाली स्त्रियों के मरने पर उन के पूर्व सस्त्रन्धियों को गमी नहीं माननी चाहिये [अर्थात् पुण्यात्माओं का शोक मानने से अन्तःकरण में पुण्य के संस्कारों की पुष्टि होती है जैसे पापियों का शोक माने तो पाप के संस्कार (बलिष्ठ होंगे । इस से अच्छों के ही मरण में अशुद्धि मानना ठीक धर्मानुकूल है] (स्वमाचार्यमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्) अपना संस्कार कराके वेद पढ़ाने वाले आचार्य, वेतन लेकर सामान्य ग्रन्थ पढ़ाने वाले उपाध्याय पिता माता और गुरु (प्रेतान् व्रती निर्हृत्य तु व्रतेन न वियुज्यते) इन सब मरे हुएों को ब्रह्मधारी वा चान्द्रायणादि व्रत का अनुष्ठान करने वाला व्रतधारी पुरुष ले जा के दाहादि क्रिया कर के भी अपने व्रत से च्युत नहीं होता किन्तु इन सब की अन्त्येष्टि क्रिया कर के भी अपने व्रत का पूर्ववत् ही पालन करे अशुद्धि लगने के भय से अपने व्रत को बीच में कदापि न त्यागे [क्योंकि संसार अनित्य और धर्म शुद्धस्वरूप होने से नित्य और बड़ा है इस प्रकार यहां सर्वत्र धर्म की श्रेष्ठता दिखायी है) (मृतं शूद्रं दक्षिणेन पुरद्वारेण निर्हरेत्) मरे हुए शूद्र को नगर के दक्षिण दरवाजे से निकाले और ग्रामादि से दक्षिण दिशा में अन्त्येष्टि करे (पश्चिमोत्तरपूर्वेस्तु यथायोगं द्विजन्मनः) पश्चिम दरवाजे से वै-

श्य को निकाले, उत्तर द्वार से क्षत्रिय को और पूर्व द्वार से ब्राह्मण मुर्दा को निकाल के नगर वा ग्राम से पूर्व में ही अन्त्येष्टि क्रिया करे ॥

भा०—जैसे अवश्य करने पड़ते मल मूत्र त्यागादि नियत कर्मों को कोई कभी गमी आदि के समय भी त्याग नहीं सकता वैसे नियत सन्ध्योपासनादि कर्मों की भी गमी के समय रुकावट नहीं है। चारुडालादि मनुष्यों की अशुद्धि समीप मिल-संग होने से कोंच के समान आकर लगती है स्पर्श होने में अति समीपता के कारण अधिक अशुद्धि लगती है इस से वहां स्नान करना कहा, और देखने आदि में कम अशुद्धि आती है इस से वहां मन की शान्ति मेटने के लिये मन्त्रों का जप कहा है। गौ नाम पृथिवी का स्पर्श और सूर्य का दर्शन जल के अभाव में विकल्पार्थ गौण है। सूर्य पृथिव्यादि तत्त्व शोधन के हेतु अवश्य हैं [इसी कारण हाथ आदि में मट्टी लगाने से शुद्धि होती और गीले वस्तु आदि को सुखाने आदि द्वारा भी सूर्य शुद्ध करता तमोगुणरूप अन्धकार का मेटना भी सूर्य से एक बड़ी शुद्धि होती है। जिस में जो स्वाभाविक गुण होता उस को देखने से भी वही गुण चक्षु के किरणों द्वारा देखने वाले में अवश्य आता है इसी कारण जल को देखने से भी कुछ शान्ति शीतलता आंख की किरणों द्वारा मनुष्य में आती है। वैसे अशुद्धि के सूक्ष्मांशों की निवृत्ति के लिये सूर्य का दर्शन अवश्य उपयोगी है] यहां उदक क्रिया शब्द से कोई लोग लोकप्रसिद्ध तर्पण आहुति का वर्णन करते हैं सो मरने पश्चात् तर्पणरूप जल छोड़ने का मृतक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। और यदि सूर्य दर्शन के समान जल छोड़ना रूप तर्पण का युक्तियुक्त कोई अच्छा प्रयोजन सिद्ध हो जाय तो उसी उदकक्रिया का निषेध रही हमारी कुछ हानि नहीं है। और यदि ऐसा सिद्ध न हो तो उदक क्रिया शब्द से मृतक सम्बन्ध की अशुद्धि मानते हुए पुरुषों का विशेष स्नान करना, सब वस्त्रों का धोना, सब घर का लीपना पोतना छिड़कना धोना, आदि सब कर्म जल से ही होगा इस से यही सब उदकक्रिया मानी जायगी शोक वा सुखाना अग्नि का गुण है उस की शान्ति जल से ही होनी सम्भव है व्यर्थ उत्पन्न हुए नपुंसक वा धर्महीन पतितादि में पूर्व से ही प्रीति कम होती वा नहीं होती इसी से वहां शोक भी नहीं होता। आचार्यादि से भिन्न अन्य मुर्दाओं का उठाना भी ब्रती के लिये धर्मानुकूल युक्त वा उचित नहीं है अर्थात् ब्रत करने वाला आचार्यादि से भिन्नों का अन्त्येष्टि कर्म भले ही स्वयं न करे और

इन के उठाने जलाने में व्रत का भङ्ग नहीं होता इस प्रकार सब काल में सर्वथा व्रत की हानि अभीष्ट नहीं है । और मल मूत्र के त्याग के तुरन्त अवश्य करने पड़े वैया ही करे अन्यथा कदापि न हो वही स्वभाव के साथ सम्बद्ध व्रत कहाता है । और जो बीच में छूट जाय वा बदल जाय वह व्रत नहीं होगा । पूर्वादि दिशाओं के साथ ब्राह्मणपन आदि का सम्बन्ध स्पष्ट ही है । पूर्व दिशा में अग्नि प्रधान लोकपाल है और अग्नितत्त्वप्रधान ब्राह्मणपन है । इसी प्रकार उत्तरादि दिशाओं के साथ क्षत्रियपन आदि का युक्त सम्बन्ध जानो । वर्तमान समय में प्रायः सभी मनुष्य शूद्रव्य हुए दक्षिण मार्ग से दक्षिण दिशा में सुर्दाँ को ले जाते हैं जैसे कि सभी मनुष्य चारो वर्ण अनेक प्रान्तों में दश ही दिन गमी मानते हैं पर शास्त्रानुसार १० । १२ । १५ । ३० दिन ब्राह्मणादि चारो वर्ण क्रम से गमी माने सो यह सब शास्त्र से विरुद्ध अन्धपरम्परा लोक में चल रही है ॥ ९२ ॥

नराज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनांनचसत्रिणाम् ।

एन्द्रंस्थानमुपासीना ब्रह्मभूताहितेसदा ॥

राज्ञोमाहात्मिकेस्थाने सद्यःशौचविधीयते ।

प्रजानांपरिरक्षार्थं-मासनंचात्रकारणम् ॥

डिम्बाहवहतानांच विद्युतापार्थिवेनच ।

गोब्राह्मणस्यचैवार्थं यस्यचेच्छतिपार्थिवः ॥

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्यच

अष्टानांलोकपालानां वपुर्धारयतेनृपः ॥

लोकेशाधिष्ठितोराजा नास्याशौचविधीयते ।

शौचाशौचंहिमर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥

उद्यतैराहवेशस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्यच ।

सद्यःसन्तिष्ठतेयज्ञ-स्तथाशौचमितिस्थितिः ।
 विप्रःशुध्यत्यपःस्पृष्ट्वाक्षत्रियोवाहनायुधम्
 वैश्यःप्रतोदंरश्मीन्वा यष्टिंशूद्रःकृतक्रियः ।
 एतद्वोऽभिहितंशौचं सपिण्डेषुद्विजोत्तमाः ।
 असपिण्डेषुसर्वेषु प्रेतशुद्धिनिबोधत ॥१००॥

अ०-न्यायासनमध्यासीनानां राज्ञां,चान्द्रायणादिव्र-
 तानुष्ठायिनां ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां च, यज्ञदीक्षामाप्तानां च
 शावाशौचादिदोषस्तत्तत्कार्यबाधको न भवति । इन्द्रस्य जी-
 वात्मनः स्थानमुपासीनाः स्वरूपावस्थाएव शुद्धा महत्त्व-
 भूताः शुद्धिं नार्हन्ति । माहात्मिके राज्यासने स्थाने स्थि-
 तस्य राज्ञः सद्यः शौचं विधीयते । यदा कश्चिज्ज्ञातिर्वन्धु-
 र्वा म्रियेत तदानीमेव राज्ञा शौचं कृत्वा विवादिनिर्णयाय
 स्वासने स्थातव्यम् । नतु प्राकृतजनवत्त्रयहाद्याशौचमास्थेय-
 म् । डिम्बाहवः पारस्परिकं बहुजनसंकुलयुद्धमशस्त्रमराजकं
 च तेन,विद्युता पार्थिवेन च हतानां,गोब्राह्मणस्य चैवार्थं
 हतानां तस्य सपिण्डस्थस्य,यस्य च पुरोहितादेः पार्थिवः
 सद्यः शौचमिच्छति तेषां सर्वेषां सद्यः शौचं विधीयतइति
 पूर्वणान्वयः । राज्ञोऽशौचाभावस्य प्रशंसार्थवादोद्वयोः । उद्य-
 तैः शस्त्रैराहवे युद्धेक्षत्रधर्मेण सह हतस्यापराङ्मुखस्य यथा
 सद्यो यज्ञो यज्ञस्येव स्वर्गफलं सन्तिष्ठते सम्यक् सुस्थिरं भ-
 वति तथाऽशौचमपि सद्यः संतिष्ठते दशमादिदिने कृत-
 क्रियो ब्राह्मणएकादशदिने प्रातःकालेऽपः स्पृष्ट्वा,वाहनायुधं

स्पृष्टा क्षत्रियः प्रतोदं रश्मीन् वा स्पृष्ट्वा वैश्यो यष्टिं च स्पृष्ट्वा शूद्रः शुध्यति । यद्वा युद्धे हतानां स्वबान्धवानां शुद्धिं कुर्वाणा ब्राह्मणादयोऽपामुपस्पर्शादिना सद्यः शुध्यन्ति । भृगुराह—हे द्विजोत्तमाः ! ऋषयः सपिण्डेषु मयैतच्छौचमभिहितमुक्तं सम्प्रति वक्ष्यमाणामसपिण्डेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥

भा०—इन्द्रो विद्युदादिरूपः स्वरूपेणैव सदा शुद्धः । अतएव वेदउक्तम्—“इन्द्र शुद्धो न भ्रागहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः०” तस्य च स्थानं शुद्धमेव, वृत्तिराजसत्रिणश्च शुद्धिस्थानमुपासीना भवन्ति सदा निर्दोषं शुद्धतमं च ब्रह्मातस्ते सर्वे ब्रह्मसन्निहिता ब्रह्मभूता गच्छन्ते । जीवात्मा चेन्द्रपदवाच्यस्तस्य छेदनादिभयराहित्यं स्वरूपेऽवस्थानं सच स्वरूपेऽवस्थितः क्षत्रियोऽपि निर्भयो योद्धुं शक्नोति तदेव राज्ञ ऐन्द्रं स्थानम् । शुद्धिप्राबल्यं प्राप्तांश्च सर्वत्रैवाशुद्धिर्न बाधतेऽतएव राजादीनघदोषो न बाधते । यत्र महानात्मा कामक्रोधलोभादिसंकोचरहितो निर्भयो जायते तन्माहात्मिकं स्थानं—न्यायासने स्थितिः । न कस्यापि पक्षं कुर्वन् केनापि न्यायः कर्तुं शक्यते । सोमादयो लोकपाला अतिशुद्धानि तत्त्वानि तदंशप्राधान्येन निर्मितं राज्ञः शरीरं तस्मिन्नाशौचं सद्यो न विशति । यथा च सर्वाधिपतेरीश्वरस्य सापेक्षं शौचाशौचं न भवति किन्तु सदैव शुद्धएव सः । एवं च लोकेशतत्त्वानामधिष्ठानं राजा तस्य नित्यशुद्धत्वाच्छौचावश्यकत्वं नास्ति । यतो लोकेशेभ्यएव मर्त्येषु शौचाशौचं प्रभवति विनश्यति च । एवभूतेषु व्रतादिवद्दुर्भ्यकार्येषु विनियुक्तानां सर्वेषावमे

सद्यःशौचं विज्ञेयम् । अत्र प्रकरणे स्पष्टतयैव सूचितमेतत्-
अधिककालीनशौचापेक्षयाऽल्पकालिकशौचस्य प्राशस्त्यम् ।
धर्मेण चैतद्विशेषतः सम्बद्धं यतो धर्मः शुद्धः ॥१००॥

भाषार्थः—(राज्ञामघदोषो नास्ति, व्रतिनां न च सत्रिणाम्) राजा, चान्द्रायणादि व्रतों का अनुष्ठान करने वाले, ब्रह्मचारी और यज्ञ में दीक्षित हुए यजमान को गमी का दोष वा अशुद्धि नहीं लगती (तेहि सदैन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूताः) क्योंकि वे राजादि तीनों इन्द्र नाम जीवात्मा के स्वरूप वा स्थितिरूप शुद्धस्थान को प्राप्त महान् बड़े होते हैं इसी से विशेष शुद्धि करने योग्य हुए अपने २ कार्य को छोड़ नहीं सकते (राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते) धर्मानुकूल ठीक २ न्याय करने के लिये राजगद्दी पर बैठना राजा के लिये महात्माओं का स्थान है अर्थात् ठीक न्याय करना बड़ी अच्छी उत्तम बुद्धि वालों का काम है । ऐसे राजगद्दी पर बैठे राजा के कुटुम्ब में किसी का मृत्यु हो तो उसी समय राजा को शुद्धि कर लेनी चाहिये क्योंकि (प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम्) प्रजा की रक्षा के लिये राजगद्दी पर बैठना ही राजा को शीघ्र शुद्धि करने का कारण है (डिम्बाहवहतानां च) राजसम्बन्ध के विना परस्पर बहुत ग्रामीणादि मनुष्यों के बीच हुई लड़ाई में जो मारे गये (विद्युता पार्थिवेन च) विद्युत् के गिरने से मरे और राजाने फांसी आदि देकर मरवाये (गोब्राह्मणस्य चैवार्थे) गौ और ब्राह्मण पर आई विपत्ति को हटाने के लिये जिन्होंने अपना प्राण दे दिया हो ऐसे पुरुषों का मृत्यु शोक करने योग्य नहीं होता तथा (यस्य च पार्थिव इच्छति) जिस प्रधान मन्त्री आदि वा पुरोहितादि का शीघ्र शुद्ध हो जाना राजा चाहता है उन सब की तत्काल शुद्धि कर लेनी चाहिये अर्थात् उन का दाहादि कर्म कर के सम्बन्धी लोग उसी समय शरीर घर और वस्त्रादि की शुद्धि कर के अपने २ अन्य कामों में लगे गमी मना के घर में न बैठे रहें (सोमाभ्यर्कानिलेन्द्राणां वित्तापत्योर्यमस्य च) सोम, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र-विद्युत्, वित्तपति-कुबेर, आपति-वरुण, यमराज (अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः) इन आठ लोकपालों के शुद्धांशों को राजा धारण करता है (लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्या-शौचं विधीयते) राजा के शरीर में लोकपाल शुद्ध तत्त्व देवताओं का प्रधान वास है इस से उस राजा को अशुद्धि लगना नहीं कहा गया (लोकेशप्रभवाप्ययं

शौचाशौचं हि सत्यानाम्) क्योंकि लोकपालों रूप शुद्ध तत्त्व देवताओं से मनुष्यों में शुद्धि अशुद्धि प्रकट वा विनष्ट होती है इस से मनुष्यों को ही शुद्धि अशुद्धि लगती है किन्तु पशु आदि तिर्यग्योनियों में भी इतनी कम अशुद्धि लगती है जो अशुद्धि में गिनी भी नहीं जाती अर्थात् मूढदशा को प्राप्त और तत्त्वज्ञानी वा अधिक शुद्ध ऐसे ऊपर नीचे दोनों को ही विशेष वा प्रबल शोकादि नहीं सताता इस से अशुद्धि आदि के सब दुःख मनुष्य नामक बीच की कक्षा के लिये ही हैं राजा मनुष्यकोटि में नहीं किन्तु देवकोटि में है (उद्यतैः शस्त्रैराहवे क्षत्रधर्महतस्य च) उठाये हुए प्रसिद्ध शस्त्रों द्वारा युद्ध क्षेत्र में पीछे को मुख न फेरते हुए धर्मानुकूल युद्धकर के मरे का (सद्यो यज्ञस्तथा शौचं सन्निष्ठतइति स्थितिः) यज्ञ के तुल्य स्वर्ग फल और शुद्धि दोनों काम शीघ्र तत्काल ही प्राप्त हो जाते हैं यह शास्त्र की मर्यादा है (अपः स्पृष्ट्वा विप्रो वाहनायुधं क्षत्रियः) दशवें आदि दिन शुद्धि क्रिया कर के ग्यारहवें दिन प्रातः काल ब्राह्मण जलों का स्पर्श कर क्षत्रिय तेरहवें दिन प्रातः, वाहनरथादि और शस्त्रों का स्पर्श कर (वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा) वैश्य सोलहवें दिन प्रातः पैना [हांकने के कोड़ा] वा लगाम वा नाथ की रस्सियों का स्पर्श कर और (कृतक्रियः शूद्रो यष्टिम्) तीशवें दिन शुद्धि कर्म किया हुआ शूद्र इकतीशवें दिन प्रातःकाल लाठी का स्पर्श करके शुद्ध हो जाता है । अथवा इस श्लोक का यह अर्थ भी हो सकता है कि युद्ध में क्षत्रिय की प्रधानता होने पर भी मित्रानुरोधादि विशेष कारणों से जो ब्राह्मणादि युद्ध करने को गये हों । वहां मारे गये ब्राह्मण के सम्बन्धी जल स्पर्श कर, क्षत्रिय के सम्बन्धी वाहन और शस्त्रों का स्पर्श कर, वैश्य युद्धस्थ रथादिकों हांकने के कोड़ा वा लगाम का और शूद्र लाठी का स्पर्शकर तत्काल ही शुद्ध हो जावें और युद्ध करने लगें किन्तु शुद्धि के लिये युद्ध से हटें नहीं । अब भृगु जी कहते हैं कि हे (द्विजोत्तमाः ! सपिण्डेषु व एतच्छौचमभिहितम्) द्विजों में उत्तम ब्राह्मण ऋषियो श्रीतालोगो ! हमने सात पीढी सपिण्डविषयक यह शुद्धि का प्रकार तुम लोगों से कहा अब (सर्वेष्वसपिण्डेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत) आगे कही जानेवाली असपिण्ड कुटुम्बी वा अन्य सब में प्रेत-मृतक शुद्धि सुनी-जानो ॥

भा०—बिजुली आदि नामक इन्द्र अपने स्वरूप से ही सदा शुद्ध है । इसी से वेद में कहा है कि "हे इन्द्र शुद्धस्वरूप तुम हमारी शुद्धि के लिये आओ। शुद्ध स्तुति वा रक्षाओं के द्वारा तुम शुद्ध हो इत्यादि, वह इन्द्र अपने शुद्धस्व-

रूप—स्थान में रहता है। व्रती, राजा और यज्ञ में दीक्षित हुआ यजमान ये तीनों शुद्ध दशा में स्थित होते हैं। और ब्रह्म सदा निर्दोष अत्यन्त शुद्ध है इस से वे सब व्रती आदि ब्रह्म के समीपस्थ होने से ब्रह्मभूत कहे जाते हैं। और जीवात्मा भी इन्द्रपदवाच्य है उस को अपने कटने आदि का भय न होना ही अपने शुद्धस्वरूप में अवस्थिति और यही शुद्धि है। वह स्वरूप में अवस्थित हुआ क्षत्रिय भी सरणादि से निर्भय होकर युद्ध कर सकता तथा काम क्रोध लोभादि दोषों से और पक्षपात से रहित हुआ ही शुद्ध राजा ठीक न्याय कर सकता है वही राजा का ऐन्द्र नाम शुद्धिस्थान—शुद्ध दशा है। और प्रबल शुद्ध दशा को प्राप्त सभी पदार्थों को सर्वत्र ही अशुद्धि नहीं दवाती इसी से राजादि को गमी का दोष नहीं लगता। जहां काम क्रोध लोभादि के संयोग से रहित आत्मा नाम बुद्धि निर्भयता से महत्त्व को प्राप्त होती है वह न्यायासन राजगद्दी माहात्मिकस्थान है। किसी का पक्ष करने वा स्वार्थ परता होने पर कोई न्याय नहीं कर सकता। सोमादि लोकपाल अतिशुद्ध तत्त्व हैं उन के अंश की प्रधानता से बने राजा के शरीर में अशुद्धि शीघ्र प्रविष्ट नहीं होती। जैसे कि सर्वाधिष्ठाता ईश्वर को सापेक्ष शुद्धि अशुद्धि नहीं लगती किन्तु वह सदा ही शुद्ध है। इसी प्रकार लोकपालतत्त्वों का आधार राजा है उस के जित्य शुद्ध होनेसे विशेष गमी आदि के शौच की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि लोकपाल देवताओं से ही उन के विकाररूप मनुष्य देहों में शुद्धि अशुद्धि उत्पन्न और नष्ट होती है। ऐसे ही व्रतादि के तुल्य धर्मसम्बन्धी उत्तम कार्यों में तत्पर हुए अन्य भी सभी मनुष्यों को शीघ्र शुद्धि कर लेना यहां का आशय है। इस प्रकार में स्पष्टरूप से ही यह सूचित किया है कि अधिक काल में गमी आदि की शुद्धि करने की अपेक्षा थोड़े काल में शुद्धि कर लेना अच्छा है। धर्म के साथ इस का विशेष कर सम्बन्ध यही है कि धर्म शुद्ध वा जो शुद्ध है वही धर्म है ॥१००॥

असपिण्डं द्विजंप्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
 विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥
 यद्यन्नमत्तितेषां तु दशाहेनैव शुध्यति ।
 अन्नदन्नमन्हैव न चेतस्मिन् गृहे वसेत् ॥

अनुगम्येच्छयाप्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ।
 स्नात्वासचैलःस्पृष्ट्वाग्निंघृतंप्राश्यविशुध्यति
 नविप्रंस्वेषुतिष्ठत्सु मृतंशूद्रेणनाययेत् ।
 अस्वर्ग्याह्याहुतिःसास्या-च्छूद्रसंस्कारदूषिता
 ॥ १०४ ॥

अ०-असपिण्डं ब्राह्मणं बन्धुरहितं च प्रेतं ब्राह्मण-
 उत्थाप्य बन्धुवदन्त्यक्रियां कुर्यात् त्रिरात्रं चाशौचं मन्येत ।
 एवं स्वगोत्राद्विन्नान्मातुः सम्बन्धिनो मातुलादीनाप्तान्सं-
 निहितान्निर्हृत्य त्रिरात्रेण शुध्यति यदि तेषामसपिण्डाना-
 माशौचकालेऽन्नमत्ति तदा दशाहेनैव यदि तेषामन्नमखा-
 दन् गृहे वसति तदा त्रिरात्रेण यदि च तद्गृहेवासं तदन्नभक्षणं
 चोभयं न करोति तदैकेनैवाहीरात्रेण शुद्धो भवितुमर्हति ।
 विशेषानुरोधमन्तरेण स्वेच्छया ज्ञातिमज्ञातिं वा प्रेतं श्म-
 शानावधि प्रेतहारैः समं गत्वा सवासाः स्नात्वाऽग्निं प्र-
 तप्य घृतं प्राश्य च विशुध्यति । विप्रं ब्राह्मणं क्षत्रियं वा
 स्वेषु स्वजातिस्थेषु ब्राह्मणादिषु तिष्ठत्सु विद्यमानेषु शूद्रा-
 दिना निकृष्टेन नैव नाययेदपित्वविज्ञातमपि स्वजातीयं
 ब्राह्मणादिरेवोत्थाप्य नीत्वा दाहयेत् । शूद्रादिनिकृष्टसंस्पर्-
 शेन दूषिताऽऽहुतिर्दाहक्रिया विद्यमानानामस्वर्ग्याऽसुखहे-
 तुकैव सा लोके परलोके च स्यात्सम्भवति ॥

भा०-असगोत्रासपिण्डप्रेतस्य मित्रत्वाद्यनुरोधेन प्रेत
 सम्बन्धिष्वसत्सु वा प्रेतक्रियाऽन्येन गृहिणा सन्निहितेन

कार्या तत्र च यथोचितमाशौचं मन्तव्यम् । ब्राह्मणाभावे
क्षत्रियस्तदभावे वैश्यस्तदभावे चापदि शूद्रोऽपि ब्राह्मणं क्ष-
त्रियं वा प्रेतं निर्हरेत् । एवं स्वजात्यभावे ब्राह्मणादिरपि
प्रेतं क्षत्रियादिमुत्थाप्य दाहयेदिति सर्वमापत्कालोचितं व-
न्धुत्वेनैक्यवर्धकमुपकारकं च कृत्यमतो धर्म्यम् ॥१०४॥

भाषार्थः—(विप्रोऽसपिरुद्धं प्रेतं द्विजं बन्धुवनिर्हृत्य) ब्राह्मण अपनी सा-
त पीढी से भिन्न किसी विदेश के भी मृतक ब्राह्मण को अपने बन्धु के तुल्य
उठवाकर दाहक्रिया कर के (त्रिरात्रेण शुध्यति) तीन दिन गमी की अशुद्धि भा-
न कर शुद्धि करे (मातुराशांश्च बान्धवान्) और अपने कुल गोत्र से भिन्न समीप
में रहते हुए माता आदि के सखन्धी-मामा, नाना, शाले, श्वशुर, मौसा, मौ-
सी आदि के मरने पर भी उन की दाह क्रिया कर तीन दिन गमी माने
(यदि तु तेषामन्नमत्ति दशाहेनैव शुध्यति) यदि उक्त असपिरुद्धों के घरों में
जिन का कोई समीपस्थ मरा हो उन ही का अन्न—पकाया भोजन खावे तो
दश दिन ही गमी माने (अन्नमनदन् चेत्तस्मिन् गृहे न वसेत्) और यदि उ-
न के घर में भी न वसे न उन का अन्न खावे तो दाह कर एक ही दिन में
शुद्ध होता और उन का अन्न न खाता हुआ घर में वसे तो तीन दिन में
शुद्ध होता है । विशेष प्रीति वा मेल के विना (इच्छया ज्ञातिमज्ञातिं वा प्रे-
तमनुगम्य) अपनी इच्छा से स्वजातीय वा विजातीय मुर्दा के पीछे मुर्दा को ले-
चलने वालों के साथ श्मशान भूमि तक जावे तो (सर्वैलः स्नात्वाऽग्निं स्पृष्ट्वा
घृतं प्राश्य विशुध्यति) वस्त्रों सहित स्नान कर अग्नि में शरीर को तपा के
और थोड़ा घृत खाकर तत्काल शुद्धि कर लेवे (स्त्रेषु तिष्ठत्सु मृतं विप्रं शूद्रेण न
नापयेत्) अपने स्वजातीय ब्राह्मणों के विद्यमान होते हुए मरे हुए ब्राह्मण क्षत्रि-
यादि को शूद्रादि नीच से न उठवावे किन्तु अपने जातीय अज्ञात को भी ब्राह्म-
णादि ही उठाकर लेजावे और दाह करे (सा शूद्रसंस्कारदूषिताऽऽहुतिरस्वर्ग्या हि
स्यात्) वह शूद्रादि नीच के स्पर्श से दूषित हुई आहुति दाह से क्रिया बचे हुए वि-
द्यमानों के लिये सुख से भिन्न दुःख का हेतु ही लोक पर लोक दोनों में होगी ॥

भा०—गोत्र और सात पीढी से भिन्न सजातीय पुरुष के मरने पर मृतक का
सखन्धी कोई उठाने वाला न हो तब वा मेल प्रीति आदि के अनुरोध से उस

की दाहक्रिया अन्य समीपस्थ गृहस्थों को करनी चाहिये और वहां यथोचित अ-
शुद्धि गमी भी माननी चाहिये । ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय और उस के भी
अभाव में वैश्य और वैश्य के भी न होने पर शूद्र भी ब्राह्मण मुर्दा को उठावे
तथा जलावे इसी प्रकार उस २ का स्वजातिस्थ कोई न हो तो ब्राह्मणादि भी
सुत क्षत्रियादि को उठा के जलावे यह सब आपत्काल में करने योग्य कृत्य भा-
तृभाव से एकता बढ़ाने वाला उपकारक है इसी से घर्मानुकूल जानो ॥ १०४ ॥

ज्ञानंतपोऽग्निराहारो मृन्मनोवार्युपाञ्जनम् ।
 वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणिर्देहिनाम् ॥
 सर्वेषामेव शौचाना-मर्थशौचंपरं स्मृतम् ।
 योऽर्थशुचिर्हिसशुचि-र्नमृद्धारिशुचिः शुचिः ॥
 क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
 प्रच्छन्नपापाजप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥
 मृतो र्यैः शुध्यते शोधयं नदीवेगेन शुध्यति ।
 रजसास्त्रीमनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥
 अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
 विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥
 एष शौचस्यैव प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः ।
 ज्ञानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ११०

अ०—ज्ञानं तत्त्वज्ञानं शोकमोहमिध्याज्ञानादिसम्बद्ध-
 मालिन्यस्य, तपो—रागद्वेषादिद्वन्द्वजन्यवैषम्यमालिन्यस्य,
 अग्निः क्षेपकः स तप्तसुवर्णादिमलापहारको देहमलापगम-

कश्च, यथौषधमुपयुक्तं रोगं हन्ति तथा शुद्धः सात्त्विकप्रा-
हारो रजस्तमोजन्यमालिन्यस्य, क्षारादिगुणवती मृदुस्तव-
सनादिसम्बद्धमलस्य, शुद्धं मन इन्द्रियादिसम्बद्धस्य, शुद्धं वारि
देहादिसम्बद्धमलस्य स्नानादिना, उपाञ्जनं गोमयादिना गृ-
हलेपनं, चन्दनकेशरादिना शरीरलेपनं च तत्तत्सम्बद्धमा-
लिन्यस्य, गमनशीलो वायुः पूतिगन्धादेः, कर्म परिणामान्त-
रहेतुत्वात्सूर्यः शोषकत्वात्कालश्रावस्थान्तरहेतुत्वादवस्थि-
तमालिन्यस्य वारकः प्रत्यक्षेणैव सर्वैरनुभूयते । सर्वेषामेव
शौचानां मध्येऽर्थशौचं ङ्गलकपटादिराहित्येन भावशुद्धिपुर-
स्सरो व्यवहारो योऽस्मिन्नर्थे शुचिः स शुचिस्तदपेक्षया च मृदा-
रिशुचिरशुचिरेवास्ति । अर्थशौचे पुण्यप्राबल्यात् । क्षान्त्या
क्षमया विद्वांसोऽकार्यकारिणः पापाचारा दानेनाप्रसिद्धपा-
पिनो जप्येन वेदवित्तमाश्च तपसा शुध्यन्ति । बाह्यं स्थूलं वस्तु
मलमूत्रादिसंसर्गदूषितं शरीरं च मृज्जलाभ्यां शुध्यति । ग्रामा-
दिस्थपतितमलदूषिता नदी जलप्रवाहप्राबल्येन, मनसि
संजातव्यभिचारसंकल्पा स्त्री रजःप्रवाहेण शुध्यति । यदि च
स संकल्पस्तस्या अनुदभूतो निवृत्तो वा भवति । उदभूत-
संकल्पा तु रजसाऽपि न शुध्यति । द्विजोत्तमो ब्राह्मणश्च
संन्यासेन वैराग्येण त्यागेन सामान्यपापाच्छुद्धो भवति ।
अग्निः प्रक्षालितानि शरीराङ्गानि शुध्यन्ति । स्थायिव्यभि-
चारदोषरहितमनोऽनुकूलाविकल्पितवाग्व्यापारेण मनः शु-
ध्यति । भूतात्मा सूक्ष्मलिङ्गशरीरसम्बद्ध आत्मा वेदाभ्या-
सेन तपसा च शुध्यति । विपर्ययादिरूपाविद्ययोपलिप्ता
विपरीतार्थव्यवसायपरा बुद्धिर्ज्ञानेन तत्त्वज्ञानेन शुध्यति ॥

भा०-सर्वापेक्षया ज्ञानं प्रधान्येन शोधकम् । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथेति कथनात् । तथा च नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । अतएव तत्त्वज्ञानस्यैवाविनाभावेन कैवल्यकारणत्वं सर्वविद्वदनुमतमस्ति । मृज्जलादिना शोधनेन सार्द्धं वाचा मनसा च कृलादिकं विहाय शुद्धाचरणएकः, शरीरवस्त्रादिना मलिनोऽपि सज्जलादिरहितः शुद्धाचरणो द्वितीयः, दर्शनायैवोपरिष्ठाच्छुद्धुश्छलकपटादिनीतिचातुर्येण स्वार्थसाधनरतस्तृतीयो महाधमः पापिष्ठः । तृतीयाद्द्वितीय उत्तमः । ते शुद्धाभासाः (हृदयेन यथाक्षुरः । अन्ये च बदराकारा बहिरेव मनोहराः) इत्यादि वद्वकव्रतिनो धर्मध्वजिनः प्रच्छन्ननास्तिकाः प्रच्छन्नराक्षसा अधर्ममूर्त्तयो जनाः सम्प्रति वृद्धिगता जगति वर्तन्ते । अतएव दुःखापत्तयोऽहर्निशंभूमण्डले वर्द्धन्ते । एतद्दर्शयितुमेवात्र नमृदारिशुचिःशुचिरित्युक्तम् । तत्त्वं विदुषां क्षमया शुद्धिरित्यादिकथनमर्थशौचस्यैव सर्वः प्रपञ्चः । तथा च मनोऽनुकूलेन शुद्धेन वाह्याचरणेन सर्वं क्षमादिकं संगृह्यते । शुद्धाचारान्न क्वोऽपि धर्मा व्यतिरिच्यते । शावाशौचे सौतकेऽन्यत्र च सर्वत्रैव शारीरमात्मिकं च द्विविधमाशौचं तस्य सर्वस्य ज्ञानादिकमेव शोधकम् । ब्रह्मचर्यरक्षणं धराशयनं क्षारलवणादिरहितशुद्धसात्त्विकाहारसेवनम् । मृदादिना गृहशोधनं विशेषेण च सर्वमनित्यं पश्यतो धर्मेऽविकल्पं मनोनिधानं परं शोधकम् । तेनतेन क्षमादिसाधनेन तस्यतस्य विद्वत्त्वादेः शुद्धौ साक्षात् प्राधान्यमेवावगन्तव्यम् । परम्प-

रयाद्भिः स्नातस्य ग्लानिहीनं मनोऽपि प्रसीदत्येव साक्षा-
त्त्वद्भिः शरीरशुद्धिरेव, प्रसादः शुद्धिश्चानर्थान्तरम् । सर्व-
विधा शुद्धिश्च पूर्णा धर्मएव । नहि कोऽपि किमप्यधर्ममा-
चरन् बाह्याभ्यन्तरतः सर्वथा शुद्धो भवति । कस्यचिन्मर-
णो सम्बन्धिनां ग्लानिः शोको रोदनं दुःखानुभवश्च सर्व-
पापं तस्यापगमोपायः शुद्धिः पुण्यं धर्मइति तस्यात्र शा-
सनमुचितमेव ॥११०॥

भाषार्थः—(ज्ञानं तपोऽग्निराहारः) शोक मोह और मिथ्याज्ञानादि स-
स्वन्धी मलिनता का सर्वोपरि शोधने हटाने वाला ज्ञान है, राग द्वेषादि द्वन्द्वों
से होने वाली विषमता रूप मलिनता का शोधक तप, अग्नि का स्वाभाविक गुण
तेजी से किसी को फेंकना है इसी से वेद में अग्नि का नाम अज है वह अग्नि
तपाये सुवर्णादि के और तप द्वारा शरीर के वा अन्तःकरण के मल को दूर फेंक
देता है । जैसे सेवन किया हुआ औषध रोगको हटाता वैसे शुद्ध सात्त्विक आहार
भोजन भी रजोगुण तमोगुण सस्वन्धिनी मलिनता को दूर करता है । क्षुधा भी एक
स्वाभाविक रोग है और औषधियों का फल ही अन्न वा आहार है क्षुधारूप रोग
का शोधक तो आहार स्पष्ट ही है (सृन्मनोवार्युपाञ्जनम्) रेव मट्टी आदिवस्त्रों
वा हाथ आदि का मल ढुङ्गाती इसी से सावन भी शोधक है क्योंकि सावन में
रेव पड़ता ही है, शुद्ध मन इन्द्रियों के दोषों को हटाता, शुद्ध जल शरीरादि
सस्वन्धी मल को स्नानादि द्वारा हटाता, मट्टी गोबर से घर को लीपना पी-
तना वा केशर चन्दनादि से शरीर पर लेपन करना दुर्गन्धादि अशुद्धि को ह-
टाता है (वायुः कर्माकंकालौ च) गमनशील वायु दुर्गन्धादि मलिनता को शो-
धता, पदार्थों की दशा को बदलता हुआ अशुद्ध को शुद्ध कर देता, हल जो-
तना आदि क्रिया भी वा सन्ध्योपासनादि कर्म भी शोधक है, सुखाने वाला होने
से गीलेपन से सबहु अशुद्धि का शोधक सूर्य और पदार्थों की अवस्था को ब-
दलता हुआ काल भी शुद्ध करता है (शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम्) ये ज्ञानादि सब
उक्त प्रकार मनुष्यों के शोधक हैं और शुद्धि धर्म है इस से धर्म के साधन ज्ञाना-
नादि हैं (सर्वेषामेव शौचानामर्थंशौचं परं स्मृतम्) सब शुद्धियों में बल कप-

टादि रहित होके अन्तःकरण की शुद्धि पूर्वक सत्यव्यवहार करना रूप अर्थ शुद्धि अतिउत्तम है (योऽर्थे शुचिः स शुचिर्न सृद्धारिशुचिः शुचिः) जो पुरुष इस व्यवहार में शुद्ध है वही शुद्ध और केवल मट्टी जल से अधिक २ हाथ आदि को मंजने धोने स्नान करने प्रवेत वस्त्र पहरने वाला वैसा पवित्र नहीं है (क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसः) क्षमा करने सहन शील होने से विद्वान् सदसद्विवेकी लोग शुद्ध होते (अकार्यकारिणो दानेन) चोरी हिंसादि द्वारा अन्यों की हानि करने वाले दानरूप परोपकार से (प्रच्छन्नपापा जप्येन) गुप्त पापों वाले गुप्त जप करने से अर्थात् एकान्त शुद्धयान में बैठ २ कष्ट सह कर प्रहों तक नित्य जप करने से शुद्ध होते (तपसा वेदवित्तमाः) और अधिकता के साथ वेद के तत्त्व को जानने वाले महात्मा लोग अपनी सूक्ष्म दुर्वासनाओं की शुद्धि तप के द्वारा कर सकते हैं (शोधयं सृत्तयैः शुध्यते) बाहिरी स्थूल पदार्थों पर लगी मल मूत्रादि की स्थूल अशुद्धि मट्टी जल से शुद्ध होती (नदी वेगेन) घासादि से मोरी आदि द्वारा मल मूत्रादि पड़ने से दूषित हुई नदी जल प्रवाह के वेग से शुद्ध होती (मनोदुष्टा स्त्री रजसा) जिस के मन में अन्य पुरुष से व्यभिचार करने का संकल्प हो कर दब गया वा निवृत्त हो गया ऐसी स्त्री रजस्वला होने से शुद्ध हो जाती है पर जिस के मन में कुकर्म की इच्छा बनी है वह रजस्वला होने पर भी शुद्ध नहीं हो सकती (द्विजोत्तमः संन्यासेन शुध्यति) और ब्राह्मण संन्यास नाम पूर्ण वैराग्य से शुद्ध होता है (अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति) जल से धोने द्वारा हाथ पांव आदि शरीराङ्ग शुद्ध होते (मनः सत्येन शुध्यति) मन के अनुकूल विकल्प रहित वाणी के सत्य व्यवहार से मन शुद्ध होता अर्थात् असत्य बोलने से मन सर्वोपरि अशुद्ध दूषित हो जाता (विद्यातपोभ्यां भूतात्मा) सूक्ष्म लिङ्ग शरीर सहित जीवात्मा वेद को पढ़ने जानने और तप करने द्वारा शुद्ध होता और वेदाभ्यास तथा तप किये विना जीवात्मा अत्यन्त अशुद्ध मलिन रहता है (बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति) बुद्धि ज्ञान के द्वारा शुद्ध होती अर्थात् विपर्ययरूप अविद्या से प्रस्त विपरीत विषयों का निश्चय करने वाली बुद्धि तत्त्वज्ञान होने से शुद्ध होती है (शारीरस्य शौद्रस्यैष विनिर्णयो वः प्रोक्तः) भृगु जी कहते हैं कि हे ओता ऋषिलोगो ! शरीर से सबन्ध रखने वाले आत्मादि की शुद्धि का यह उक्तनिर्णय मैंने तुम लोगों के लिये कहा अब (नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेर्निर्णयं शृणुत) नाना प्रकार के द्रव्यों की शुद्धि का निर्णय तुम लोग और सुनो ॥

भा०-सब की अपेक्षा ज्ञान ही सर्वोपरि प्रधान शोधक है इसी लिये भगवद्गीता में लिखा है कि—“ज्ञानरूप अग्नि सब पुष्कर्मों की वासनाओं को एक साथ भस्म कर देता है । तथा ज्ञान के समान अन्य कोई पवित्र वस्तु संसार में नहीं है” इसी से जिस के बिना जो कभी हो ही नहीं सकता ऐसे तत्त्व-ज्ञान की ही एक मत होके मोक्ष का कारण सब विद्वान् लोग मानते हैं । एक जल मट्टी आदि के द्वारा शुद्धि करने के साथ शुद्ध सत्य व्यवहार करने वाला, द्वितीय शरीर वस्त्रादि से मलिन रहता हुआ भी शुद्ध व्यवहार करने छल कपट से न वर्तने वाला और तृतीय ऊपर से देखने में शरीर वस्त्रादि से दिखावटी शुद्धि [सफाई] रखता हुआ श्रार्थसाधन के लिये छल कपट चालाकी से वर्तने वाला इन में पहिला सर्वोत्तम धर्मात्मा द्वितीय मध्यम और तृतीय महानीच अधर्मी है । तृतीय से द्वितीय बहुत उत्तम है । सो ऊपरी शुद्धि सफाई का लिफाफा दिखाने वाले और (हृदयेन यथाक्षुरः । वा-अन्ये च बदराकारा वहिरेव मनोहराः) हृदय से अन्य की हानि के लिये क्षुरा की धार के समान हैं अथवा जैसे बेरिया का फल बेर ऊपर से देखने में अच्छा चिकना और चमकदार होता पर भीतर ऐसी कड़ी वा खरखरी गुठली होती है जिस से दांत भी टूट जाय पर फूटे नहीं ऐसे ही जो मनुष्य बाहर से अच्छे बने ठने बड़े प्रियभाषी—वे ही धर्म के शत्रु अधर्म की मूर्ति मनुष्य संसार में सप्रति इतने अधिक बड़े हैं जिन ने देवी स्रष्टृ के अत्यन्त थोड़े मनुष्यादि को सर्वथा ही दबा लिया है । इसीमे भूमण्डल में दिन २ दुःख और विपत्ति बराबर बढ़ती जाती है । केवल ऊपरी दिखावटी शुद्धि मात्र की धर्म से विरुद्ध कहने के लिये ही यहां मनु जी ने (न मृदाग्निशुचिः शुचिः) कहा है । सो यह कथन उक्त प्रकार सर्वथा ही सत्य है क्षमा से विद्वानों की शुद्धि होती इत्यादि सब कथन अर्थ शौच का व्याख्यान है । सो मन के अनुकूल बाहरी शुद्ध आचरण के साथ सब क्षमादि का ग्रहण आजाता है अर्थात् शुद्ध आचरण से भिन्न कोई धर्म नहीं ठहरता । मृतक और सूतक दोनों अशुद्धियों में सर्वत्र ही शरीर सम्बद्ध स्थूल वा अन्तःकरण सम्बद्ध सूक्ष्म दो ही प्रकार की अशुद्धि है उस सब के शोधक ज्ञानादि हैं । ब्रह्मचारी होकर रहना, पृथिवी पर सोना, खार वा लवणादि रहित शुद्ध सात्त्विक भोजन करना चूना मट्टी आदि से घर को शुद्ध करना और विशेष कर सब संसार को अनित्य देखते हुए का धर्म में मन लगाना परम शोधक है यही सब कृत्य गमी आदि में कर्तव्य कहा है । उस २ क्षमादि साधन से उस २ विद्वान्पन आदि की भीतरी शुद्धि

होने पर उस २ साधन की साक्षात् प्रधानता ही जानी अर्थात् धर्म विषय में क्षमादि न प्रधान और परस्पर से तो जलों द्वारा स्नान किये मनुष्य का मन श्लानि रहित प्रसन्न होता ही है प्रसन्नता और शुद्धि एक ही है अभिप्रायार्थ में कोई भेद नहीं और क्षमादि द्वारा जानकारी आदि की शुद्धि तथा जलादि से शरीरादि की शुद्धि करना दोनों की शुद्धि मिलकर पूर्ण धर्म हो जाता है। क्योंकि कोई मनुष्य कुछ अधर्म का आचरण करता हुआ बाहर भीतर से शुद्ध नहीं होता और न अशुद्ध मलिन रहता हुआ ठीक धर्माचरण कर सकता है। किसी निकटवर्ती के मरने पर उस के सबन्धियों को श्लानि, शोक होना उन का रोना, दुःख मानना सब पापों के अन्तर्गत है उस श्लानि आदि को लुड़ाने के लिये जो उपाय है वह शुद्धि, पुण्य वा धर्म है इस प्रकार उस धर्माधर्म की यहां शिक्षा करना उचित ही है ॥ ११० ॥

तैजसानां मणीनांच सर्वस्याश्रममयस्य च ।
 भस्मनाद्भिर्मृदाचैव शुद्धिरुक्तामनीषिभिः ॥
 निर्लेपकाञ्चनभाण्ड-मद्भिरेव विशुध्यति ।
 अब्जमश्रममयंचैव राजतंचानुपस्कृतम् ॥
 अपामग्रेषु च संयोगा-द्वैमं रौप्यंच निर्बभौ ।
 तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्गोको गुणवत्तरः ॥
 ताम्नायः कांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ।
 शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षारास्त्रोदकवारिभिः ॥
 द्रवाणांचैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम् ॥
 प्रोक्षणं संहतानांच दारवाणांच तक्षणम् ॥
 सार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिनायज्ञकर्मणि ।
 चमसानां ग्रहाणांच शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥

चरूणांस्त्रक्स्तु वाणां च शुद्धिरुष्णो नवारिणा ।

स्फप्रशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥११७॥

अ०—यान्यग्निवायुसंयोगेन धमायमानानि द्रवीभवन्ति तानि सुवर्णरजतादिद्रव्याणि तैजसानि तन्निर्मितपात्रादीनाम्—मरकतादिमणीनां सर्वस्याश्ममयस्य कुण्डिकापट्टादिपात्रस्य च भस्मना शुच्यामृदा वाऽद्विश्च मनीषिभिः पण्डितैः शुद्धिरुक्ता । यत्राशुद्धमुच्छिष्टं वा वस्तु न लिप्यते तादृशं सौवर्णं पात्रं शुष्कमलिनेन स्पृष्टं केवलाभिरद्विरेव विशुध्यति। अब्रूजं शङ्खादिकमश्ममयं विशिष्टस्निग्धपाषाणनिर्मितं यद्रेखादिचित्रक्रियया गुणान्तरापत्तिं न नीतं तादृशं स्निग्धं राजतं पात्रं केवलेन मृद्विहीनजलेनैव शुध्यति । अपामग्नेश्च संयोगात्सुवर्णं रजतं च द्रव्यमुत्पन्नं तस्मात्तयोः स्वकारणाभ्यामेव शोधनमुत्तमम् । ताम्रलोहकांस्यपित्तलधातुजन्यपात्राणां त्रपुणो रङ्गस्य सीसकस्य च पात्रादीनां क्षाराम्लोदकवारिभिर्यथार्हं शौचं कर्तव्यम् । येन यस्य मलापगमः सम्भवति तेन तस्य शौचं कर्तव्यमिति यथार्हपदार्थः । ताम्ररैत्यव्यतिरिक्तपात्राणां क्षारसहितेन वारिणा ताम्ररैत्ययोस्त्वम्लोदकेनेति । सर्वेषां द्रवाणां पदार्थानामुत्पवनमुत्कर्षेण पवनं शुद्धिः स्मृताऽभिमता । तच्चोत्पवनं क्वचिदपवित्रभागं निस्सार्य प्रक्षेपेण क्वचिदतिपवित्रकुशकर्पूरादिद्रव्यसंसर्गेण क्वचिद्वस्त्रेण पावनं क्वचिच्चाग्नौ विशेषतः प्रतपनादिना सम्भवति । संहतानां स्यूतानां म-

हतां मध्यानामल्पानां च शय्यादिवाससां जलेन यथायोगं प्रोक्षणं प्रक्षालनं च, दारवाणां दारुजन्यपात्रादीनाममेध्य-
लग्नभागस्य तक्षणम् । यज्ञकर्मणि यज्ञपात्राणां पाणिना
पूर्वं मार्जनं मलापगमकर्म कृत्वा पश्चात्प्रक्षालनेन शोधनं
कार्यं चमसानां ग्रहाणां च केवलेन प्रक्षालनेनैव शुद्धिः का-
र्या । चरुणां चरुस्थाल्यादीनां सुक्सुवाणां च स्फुर्यशूर्पश-
कटानां च मुसलोलूखलस्य चोष्णेन वारिणा शुद्धिः कार्या॥

भा०-तत्तद्वस्तुलग्नानामेध्यापगमो यैर्यैरुपायैः सम्भवति
ते चात्रोपायाः साधुतया तत्त्वदर्शिभिरवधारिता एवोच्यन्ते
तत्र च विवादमकृत्वाऽनुभवेन शास्त्रस्य सत्यत्वमवगन्त-
व्यम् । कुत्रचित्क्रियमाणोऽपि तथैव फलं न दृश्येत तदा-
प्याप्तवाक्यानां धर्मशास्त्राणामविश्वासो नैव कार्यः । यतः
स्वस्मिन् स्वस्य कर्मणि साधनेषु वा वैगुण्यं सम्भवति । यथा-
ऽन्यस्य भ्रान्तिसम्भवस्तथा स्वस्यापि तत्र विशेषहेतुमन्त-
रेण न केनापि शास्त्रस्यैवाविश्वासः कर्तुं युक्तोऽपितु शा-
स्त्रकृदपेक्षया स्वबुद्धेरल्पत्वात्स्वस्यैव दोषः सम्भावनीयः ।
तस्माद्दुर्मतत्त्वविज्ञानाय सदैव शास्त्रमन्वीक्षणीयं या च
तर्कादिसहिता मतिः शास्त्रखण्डनाय प्रवर्त्यते सैव शास्त्रो-
क्तविषयव्यवस्थापनायोद्द्योज्या । तस्माद्यथोक्तामेव शुद्धि-
मन्वीक्षणोऽन सम्यग्ज्ञात्वा तस्यतस्य पदार्थस्य तथैव शु-
द्धिः कर्तव्या तेन च धर्मो वर्धते । प्रायेण सर्व एव पदा-
र्था लोकेष्वग्नीषोमीया दृश्यन्ते । सर्वं च वस्तु यत उत्पद्यते
तदेव स्वकारणमप्राप्य शुद्धं जायते । यथा पार्थिवमीषधि-

फलं गोधूमाद्यन्नं मनुष्यभक्षितमशुद्धं मलं सत्स्वकारणपृ-
थिवीरूपं सच्छुद्धं जायत एवं क्षारभस्माद्याग्नेयेनावादिना
सौम्येन वा कारणेन सर्वकार्यवस्तूनाममेध्यानां शुद्धिः ११७

भाषार्थः—(तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्मस्य च) जो अग्नि में ध-
र के अधिक धोंकने से पिघल जाते हैं वे सुवर्ण चांदी आदि द्रव्य तैजस क-
हाते हैं उन सुवर्णादि के पात्रों, मरकतादि नामक मणियों और पत्थर से बने
सब कूड़ी पट्टा आदि वर्तनों की (शुद्धिर्भस्मनाद्भिर्मुदा चैव मनीषिभिरुक्ता)
शुद्धि ब्रह्मर्षि विद्वानों ने राख मट्टी और जल के द्वारा मांजने धोने से कही है
अर्थात् किन्हीं की मट्टी और जल दो से होती है (निर्लेपं काञ्चनं भास्वम्) जिस
में जूठन वा अशुद्धि प्रसिद्ध में न लगी दीखती हो किन्तु सूखे अशुद्ध वस्तु से
स्पर्शमात्र ही गया हो ऐसा सुवर्ण का पात्र (अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानु-
पस्कृतम्) अब्ज नाम शङ्खादि, चिकने सिंहमर्मर आदि बहुमूल्य पत्थर
के उत्तम पात्र जिन में मलिनता भीतर घुसती नहीं और जिन में किसी प्रकार
की रेखा [नकाशी] न की गयी हो ऐसे चांदी के पात्र (अद्भिरैव विशुध्यति)
केवल जल से धोने पर शुद्ध हो जाते हैं (अपामग्नेश्च संयोगाद्द्वैमं रौप्यं च नि-
र्वभौ) सुवर्ण और चांदी दोनों अग्नि तथा जल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं इसी
कारण उन का रूप दर्शनीय उत्तम है और इसी से अग्नि में धोंके जाने पर
पिघलते भी हैं । उन में से सुवर्ण में अग्नि प्रधान और जल गौण है तथा चांदी
में जल प्रधान तथा अग्नि गौण है इसी कारण अग्नि कासा चमकीला रंग सुवर्ण
में और शुद्ध जल से मिलता हुआ रूप चांदी में है (तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव नि-
र्णोको गुणवत्तरः) तिस से उन दोनों की शुद्ध अग्नि में तपा के जल से धोना अ-
पने दोनों कारणों से ही करना उत्तम है [प्रत्येक पदार्थ अपने कारण में
पहुंच कर ठीक शुद्ध दशा में आजाता है । इसी से अन्यत्र हुए विषमता रूप
रोग जन्मस्थान में पहुंचने पर बूट जाते वह शुद्ध ठीक समदशा में आ जा-
ता है] (ताम्रायः कांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च) ताम्रा, लोहा, कांसा, रां-
गा, और सीसा के पात्रादि की (क्षारास्त्रोदकवारिभिर्यथाहं शौचं कर्त्तव्यम्)
खारे वस्तु से मिले जल से, खटाई मिले जल वा केवल जल से यथायोग्य शुद्धि
करनी चाहिये अर्थात् जिस से जिस की मलिनता दूर होनी सम्भव हो उस से

उस की शुद्धि करे जैसे तामे और पीतल के पात्रों की खट्टे जल से और अन्यो की खारी जल से वा केवल जल से शुद्धि करे (सर्वेषां द्रवाणां चैव शुद्धिरुत्तरपवनं स्मृतम्) सब गीले ढरकने योग्य घी तेलादि पदार्थों की शुद्धि उरुकृता से पवित्र करना ऋषिलोगों ने मानी है सो उरुकृष्ट शुद्धि कहीं अशुद्ध भाग को निकाल देने से, कहीं अति पवित्र कुश और कपूर आदि पदार्थों के संयोग से, कहीं वस्त्र द्वारा छान लेने से और कहीं विशेष कर अग्नि में तपाने खोलाने से होती है (संहतानां च प्रोक्षणम्) बहुत टुकड़े मिलाकर बनाये बिक्रीना तम्बू आदि की शुद्धि सींच देने वा छोटे हों तो पछार के धो डालने से होती (दारवाणां च तक्षणम्) और काष्ठ लकड़ी के पात्रों की शुद्धि अशुद्धभाग के डालने से (यज्ञकर्मणि यज्ञपात्राणां पाणिना मार्जनम्) यज्ञ कर्म होते समय यज्ञपात्रोंको हाथ से झाड़ पोंछ शुद्ध कर धो लेने से (चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु) घी आदि को भर लेने के चमसा और चिमटा वा संइसी आदि की शुद्धि केवल प्रक्षालन धोने से करनी चाहिये (चरुणां सुक् सुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा) चरुस्थाली आदि, सुच्, सुव, (स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलीलूखलस्य च) काष्ठ का खड्ड, सूप, गाड़ी,—ठेला, मूसल और उलूखल इन सब यज्ञ सम्बन्धी वस्तुओं की शुद्धि गर्म जल से होनी चाहिये ॥

भा०—उस २ वस्तु में लगी अपवित्रता जिन २ उपायों से निवृत्त हो सकती वे उपाय तत्त्वदर्शियों के निश्चय किये यहां कहे गये हैं । उस में विवाद न करके लिखित रीतियों को कर २ देखे तो शास्त्र की सत्यता ठीक ज्ञात होगी । कहीं करने पर भी लिखे अनुसार फल हुआ न दीखे तो भी धर्मशास्त्ररूप प्राप्त वाक्यों का अविश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि अपने में अपने काम में वा अपने साधनों में न्यूनता हो सकती है, जिस से वह ठीक हुआ ही न ही तो शास्त्र को दोष देना पाप होगा । जैसे अन्यके लेख वा उपदेश में भ्रान्ति हो सकती है वैसे अपने में भी दोष हो सकते हैं । वहां विशेष कारण के बिना किसी को शास्त्र का ही अविश्वास नहीं कर लेना चाहिये किन्तु शास्त्रकार की अपेक्षा अपनी बुद्धि अल्प होने से अपना ही दोष होना सम्भव माने । इस कारण धर्म का तत्त्व जानने के लिये शास्त्र का सदा ही आन्दोलन करना उचित है और जो तर्कादि सहित बुद्धि शास्त्रीय विचार का निरादर करने में लगायी जाती वही शास्त्रीय विषय की व्यवस्था करने सत्य ठहराने में लगानी चा-

हिये । तिस से आन्दोलन द्वारा कहे अनुसार शुद्धि को ठीक जान कर उस २ पदार्थ की वैसी ही शुद्धि करे इस से धर्म बढ़ता है । प्रायः संसार के सभी पदार्थ अग्नि और सोम दो तत्वों की अधिकता वाले दीखते हैं । और सभी वस्तु जिस से उत्पन्न होता उसी अपने कारण को पाकर शुद्ध होता है । जैसे पार्थिव श्लेषधियों का फल गेहूं आदि अन्न मनुष्य के खाने से अशुद्ध मलरूप हुआ अपने कारण पृथिवी में मिला कर शुद्ध हो जाता है । इसी प्रकार खार भरमादि आग्नेय और जलादि सौम्य दोनों प्रकार के उन २ वस्तुओं के कारण पदार्थों से सब अशुद्ध हुए कार्य पदार्थों की शुद्धि होती है ॥ ११६ ॥

अद्भिस्तुप्रोक्षणांशौचं बहूनांधान्यवाससाम् ।

प्रक्षालनेनत्वल्पाना-मद्भिःशौचंविधीयते ॥

[त्र्यहकृतशौचानांतु वायसीशुद्धिरिष्यते ।

पर्युक्षणाद्दधूपनाद्वा मलिनामतिधावनात् ॥]

चैलवच्चर्मणांशुद्धि-वेदलानांतथैवच ।

शाकमूलफलानांच धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥

कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः ।

श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणांगौरसर्षपैः ॥

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणा-मस्थिदन्तमयस्यच ।

शुद्धिर्विजानताकार्या गोमूत्रेणोदकेनवा ॥

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठंच पलालंचैवशुध्यति ।

मार्जनोपाञ्जनैर्वैश्व पुनःपाकेनमृन्मयम् ॥

मद्यैर्मूत्रैःपुरीषैर्वा ष्ठीवनैःपूयशोणितैः ।

संस्पृष्टनैवशुध्येत पुनःपाकेनमृन्मयम् ॥

संमार्जनीपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।

गवांचपरिवासेन भूमिःशुध्यतिपञ्चभिः ॥

पक्षिजग्धंगवाघ्रात-सवधूतसवसुतम् ।

दूषितंकेशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेणशुध्यति ॥

यावन्नापैत्यमेधयाक्ता-द्रन्धोलेपश्चतत्कृतः ।

तावन्मृद्धारिचादेयं सर्वासुद्रव्यशुद्धिषु ॥१२६॥

अ०-बहूनां धान्यवाससामद्भिः प्रोक्षणं सेचनमल्पानां त्वद्भिः प्रक्षालनेन शौचं विधीयते । अस्याग्र एकं पद्यं पश्चात् क्षिप्रमुपलभ्यते तस्यार्थः प्राकृतेऽवलोक्यः । चर्मनिर्मितपदार्थानां वंशवेत्रादिनिर्मितवैदलानां च चैलवद् बहूनां प्रोक्षणमल्पानां च प्रक्षालनम् । शाकमूलफलानामल्पानां बहूनां चोक्तधान्यवच्छुद्धिरिष्यते । कौशेयाविकवाससामूषैः क्षारमृत्तिकाभिः कुतपानां पर्वतीयकम्बलानामासनानामरिष्टफलैरंशुपहानां वल्कलविशेषनिर्मितानां वसनानां श्रीफलैर्विल्वफलैः क्षौमाणामतसीसूत्रनिर्मितवाससां पिष्टैर्गौरसर्षपैः शुद्धिरिष्टा । शङ्खानां शृङ्गनिर्मितवस्तूनामस्थिदन्तमयस्य च वस्तुनः क्षौमवद्गौरसर्षपकल्कमिश्रितगोमूत्रेण तदभावे तन्मिश्रितजलेन वा विजानता शुद्धिः कार्या तृणं काष्ठं पलालं चैवालिप्तं प्रोक्षणात्सेचनादेव शुध्यति । लिप्टकाष्ठस्य तक्षणं लिप्ततृणपलालयोस्तु परित्यागएव । मार्जन्या मार्जनेनोपाञ्जनेन लेपनादिना च वेश्म शुध्यति । मृ-

न्मयं च पात्रादिकं सर्वं पुनःपाकेन शुध्यति । मद्यमूत्रपुरी-
षष्ठीवनपूयशोणितैः सम्यग्लिप्तं मृन्मयं पुनःपाकेनापि न
शुध्यतीति । संमार्जनादिपञ्चभिरुपायैर्भूमिः शुध्यति । पक्व-
मन्नं पक्षिभिर्जग्धं गवा समीपत आघ्रातमवधूतमशुद्धवस्त्रा-
दिवातेनोपहतमवक्षुतं यस्योपरि छिक्का कृता पतितैः के-
शकीटैश्च दूषितं मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति तदन्नस्य दूषितभा-
गमादाय मृदि प्रक्षिपेत्तदावशिष्टं शुद्धं मन्तव्यम् । तथादूषित-
पक्वान्ने मृदः प्रक्षेपेणानन्तरं प्रोक्षणेन च शुध्यतीत्यन्ये
मन्यन्ते तच्चिन्त्यम् । अमेध्याक्ताद्यावत्तत्कृतो गन्धो लेपश्च
नापैति तावत्सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु मृद्वारि चादेयम् ॥

भा०—बहूनां राशिभूतानां धान्यवाससां प्रक्षालनमसं-
भवमतिकष्टसाध्यं वा तस्मात् किञ्चिज्जलेन सेचनमेव तत्र
शुद्धिरल्पानां तु प्रक्षालनं सम्भवमेव । यथा महति जला-
शये पतितं किञ्चिदपवित्रं तस्य पवित्रताविघातकं न भव-
त्यतएव तज्जलपानादौ ग्लानिर्नात्पद्यते तावदेवाशुद्धं वस्तु
पात्रस्थेऽल्पजले पतितं तस्य स्पष्टतयैवापवित्रतां जनयति
तद्वदत्रापि महति धान्यादिराशावल्पे च पवित्रत्वापवित्र-
त्वयोर्भेदोऽवगन्तव्यः । यथाचाल्पमिष्टपातेनाल्पं मिष्टत्वं
सम्पद्यतेऽतएव विशिष्टशर्करासंसर्गणाधिकमपि मिष्टत्वं जा-
यते । तथैव शोधकं पावनमुदकमल्पाशुद्धौ सेचनमात्रेणापि
शोधकं जायते । यथा चामगृहस्य मार्जनोपाज्जनेनैव शुद्धि-
रुचिता चूर्णालिप्तस्य च प्रक्षालनेन मार्जनेन च तथैव कौ-
श्यादिवाससां क्षारमृत्तिकादिनैवोचिता शुद्धिर्वाध्या । म-

द्यस्य च मलमूत्रादिना सर्वथा साम्यमेवास्ति । अतएवोक्तं
-सुरा वै मलमन्त्रानामिति । तच्च मद्यमूत्रपुरीषादिकमु-
त्कटदुर्गन्धं सत्सद्यएव मृत्पात्रस्याल्पांशेष्वपि प्रविशति
यत्पुनःपाकेनापि सर्वथा नैव निस्सरति । यथा च सर्वधा-
तुसूक्ष्मांशेष्वपि व्याप्तो रोगोऽसाध्यो जायत श्रौषधैरपि नैव
निवर्तते तथैव मद्यं यस्य देहे व्याप्तं नासौ प्रायश्चित्तरपि
शुध्यत्यसाध्यत्वादतएवोक्तमग्निवर्णां सुरां पिबेत् । प्राय-
श्चित्तविधानं त्वकृतप्रायश्चित्तापेक्षया कथमपि शुद्धिविज्ञा-
पनार्थम् । प्रोक्षणं प्रक्षालनं मार्जनमुपाञ्जनमुल्लेखनं पच-
नादिकं च शुद्धिहेतुकं कर्मापवित्रतातारतम्यमवलोक्य स-
कृदसकृद्वा यावन्न तच्छुध्येत्तावदेव धीमताऽनुष्ठेयमेतदेव
युक्तं नतु सकृदेवेति ॥ १२६ ॥

भाषार्थः—(बहूनां धान्यवाससामद्विस्तु प्रोक्षणं शौचम्) अन्न और वस्त्रों
के बड़े ढेर की शुद्धि जल से सेचन करने मात्र से होती (अल्पानां त्वद्विः प्र-
क्षालनेन शौचं विधीयते) तथा बड़े ढेर के कई भिन्न २ छोटे २ भागों में लगी
वा थोड़े अन्न वस्त्रों में लगी अशुद्धि पछारने धोने सींचने से शुद्ध होती है इसी
११८ श्लोक से आगे एक श्लोक पीछे मिलाया कहीं मिलता है उस का अर्थः—
[तीन दिन में जिन बालकों के मरण में शुद्धि कही है उन की अवस्था जितने
वर्ष की हो उतने दिन गभी माने और उस के सम्बन्धी मलिन वस्त्रादि में से
किन्हीं की अधिक सींचने से किन्हीं की धूप देने से और किन्हीं की शुद्धि
अत्यन्त धोने से हो सकती है] यह श्लोक मृतक शुद्धि से कुछ सम्बन्ध रखता है ।
पर इस द्रव्य शुद्धि के प्रकरण में सर्वथा ही असम्बद्ध है (चर्मणां तथैव च वै-
दलानां चैलवच्छुद्धिः) नाम से बने और वांस वेंत आदि से बने पात्र और प-
दार्थों की शुद्धि वस्त्रों के तुल्य बहुत हों तो सींच देने से और थोड़े में अशुद्धि
लगी हो तो पछारने वा धोने द्वारा करे (शाकमूलफलानां च धान्यव-
च्छुद्धिरिष्यते) शाक, मूल, तथा फलों की अधिक राशि हों तो सींचने द्वारा

तथा थोड़े हों तो धोने द्वारा शुद्धि करे [यहां धान्यवत् शुद्धि कहने से ग्रन्थ-कार का यह भी आशय है कि जिस २ अन्य प्रकार से भी धान्य की शुद्धि होती वा हो सकती है उस न कहीं भी रीति से शाकादि की शुद्धि कर लेनी चाहिये] (कौशेयाविकयोरूपैः) रेशमी और दुसाला धुस्सा, लोई आदि जनी वस्त्रों की शुद्धि खारी मट्टी रेव आदि से (कुतपानामरिष्टकैः) पहाड़ी उत्तर देशीय आसनों वा कस्वलों की रीठों से (अंशुपट्टानां श्रीफलैः) वृक्ष के वक्कल से बने वस्त्रों की वित्त्वफलों से (क्षौमाणां गौरसर्षपैः) मुकटा पीताम्बरों की शुद्धि-पीली सरसों से करनी चाहिये (शङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्यच) शङ्ख तथा सीपी, तथा हरिणादि के साँग से बने और हाथी दाँत से बने पदार्थों की (विजानता क्षौमवद् गोमूत्रेणोदकेन वा शुद्धिः कार्या) शुद्धि समझदार मनुष्य को श्वेत सरसों के जल में मिलाये गोमूत्र से वा गोमूत्र के न मिलने पर केवल सरसों मिले जल से ही शुद्धि करलेनी चाहिये (तृणकाष्ठं पलालं चैव प्रोक्षणाच्छुध्यति) कुशासन वा चौकी तखत आदि और प्यार का विखीना सींचने से शुद्ध होता, विशेष सींचना ही धोना भी कहा जायगा किन्तु पछारना नहीं होगा (भार्जनोपाङ्गनैर्वैश्व) झारने बुहारने लीपने और पोतने से घर शुद्ध होता और (पुनःपाकेन मृन्मयम्) फिर कर अग्नि में पकालेने से मट्टी के पात्र घड़ादि शुद्ध हो जाते (मट्टीर्मूत्रैः पुरीषैर्वा घृवनैः पूयशोणितैः) मद्य-सदिरा, मूत्र, विष्टा, थूक-कफादि, पीव और रुधिर इन सब से अच्छे प्रकार लिप्त हुआ वा जिस में सदिरादि भरे रहे हों ऐसा (संस्पृष्टं मृन्मयं पुनःपाकेन नैव शुध्येत) मट्टी का पात्र घड़ादि फिर पकाने पर भी शुद्ध नहीं होता (संभार्जनोपाङ्गनेन) सम्यक् झारने बुहारने, लीपने पोतने से (सेकेनोत्तलेखनेन च) सींचने, गीड़ने वा खोद डालने (च) और (गवां परिवासेन) गौओं के विशेष कर बहुत दिनों तक रहने से (पञ्चभिर्भूमिः शुध्यति) उक्त पांच उपायों से पृथिवी शुद्ध होती है (पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम्) जिन पकाये हुए रोटी आदि अन्न में से किसी पक्षी ने खोंट खाया हो, जिस को गौ आदि पशु ने समीप से सूंघा हो, अशुद्ध वस्त्रादि का वायु जिस में लगा हो और जिस के ऊपर किसी ने छोंक दिया हो (केशकीटैश्च दूषितम्) और कोई कीड़ा वा बाल जिस में पड़ गया हो तो (मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति) उस दूषित पक्वान्न के ऊपरी दूषित भाग को लेकर मट्टी में फेंक देने से शेष भाग शुद्ध हो जाता है । दूषित पक्वान्न में थोड़ी मट्टी

डाल कर धोने से शुद्ध होता यह अन्य लोग मानते हैं सो हिस्सनीय इस कारण है कि पक्कान्न में मट्टी डालने से किसक जायगा पानी से धोने पर भी ठीक न होगा और अधिक अभक्ष्य हो जायगा (अमेध्याक्तात्तत्कृतो गव्यो लेपश्च यावन्नापैति) अशुद्ध मल मूत्रादि का दुर्गन्ध वा साक्षात् लगा मलादि जब तक उस वस्तु से सर्वथा न छूट जावे (सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु तावन्मृदारि चादेयम्) द्रव्यों सम्बन्धी सब शुद्धियों में तब पर्यन्त मट्टी और जल से उस २ अशुद्ध शरीर वा वस्त्रादि को धोते रहना चाहिये ॥

भा०—ढेर लगे हुए गेहूँ जौ आदि धान्य और वस्त्रों का धोना सुखाना अति कष्टसाध्य वा असम्भव है तिस से थोड़ा जल छिड़क देना ही वहां शुद्धि मानी जायगी । और थोड़े धान्य तथा वस्त्रों का तो धोना सम्भव ही है । जैसे किसी नदी वा तालाव आदि जलाशय में गिरा थोड़ा मल मूत्रादि वस्तु उस जल की पवित्रता का बिगाड़ने वाला नहीं होता इसी कारण उस के जल पीने आदि में किसी को ग्लानि भी नहीं होती । और उतना ही अपवित्र मल मूत्रादि घड़ादि पात्रस्थ थोड़े जल में गिरा हो तो वह जल स्पष्ट ही निर्विकल्प अशुद्ध मान लिया जायगा । जैसे यहां भी धान्यादि के बड़े ढेर में थोड़ी अशुद्धि प्रधान वा प्रबल समुदायस्थ शुद्धि को बिगाड़ नहीं पाती और पात्रादिस्थ जल की शुद्धि को वही अशुद्धि दवा लेती नष्ट करदेती है यह बलाबल का भेद विचारसाध्य है । जैसे थोड़ा मीठा डालने से जलादि थोड़ा मिष्ट होता और अधिक शक्कर डालने से अधिक मीठा जलादि होता है वैसे ही शोधने से वा स्वयं पवित्र जल थोड़ी अशुद्धि में सीं वने मात्र से भी शुद्धि करने वाला होता है । जैसे कच्चे घर की झाड़ने और लीपने पीतने ही द्वारा शुद्धि करना उचित है । परन्तु पक्की चूना की गच को झाड़ने बुहारने और धोने से शुद्धि हो सकती है । वैसे ही रेशमी वस्त्रादि की रेव आदि से ही शुद्धि करना उचित है । और मद्य तो मल मूत्रादि के सर्वथा समान ही है इसी लिये मनु जी ने लिखा है कि “सुरा ही अन्नो का मल है ” वह मल मूत्र मद्यादि प्रबल दुर्गन्ध वाला हो ने से शीघ्र ही घटादि मृत्पात्र के सूक्ष्मांशों में भी प्रवेश करता है कि जो फिर से पकाने पर भी सर्वथा उस से निकलता नहीं । जैसे सब धातुओं के सूक्ष्मांशों में भी व्याप्त हुआ रोग असाध्य होता है जो अच्छे प्रबल औषधों से भी निवृत्त नहीं होता वैसे ही मद्य जिस के शरीर में ठीक रीम २ में व्याप्त होग-

या वह असाध्य होने से प्रायश्चित्तों द्वारा भी शुद्ध नहीं होता इसी लिये मनु जी ने सुरापान का प्रायश्चित्त लिखा है कि «अग्निवर्ण अत्युष्ण सुरा पीके प्राण त्याग करे» और सुरापान के अन्य प्रायश्चित्त कहना कुछ भी प्रायश्चित्त न करने वालों की अपेक्षा कुछ शुद्धि होना जताने के लिये है । स्त्रीवना, पछारना—धोना, बुहारना, लीपना पोतना खोदना और पकाना आदि शुद्धि हेतु कर्म अपवित्रता की न्यूनाधिकता वा बलाबल देख कर एक बार वा वार २ जब तक वह शुद्ध न हो तभी तक बुद्धिमान् को करना चाहिये यही ठीक है किन्तु एकही वार वा अनेक ही वार करना नियत न समर्क ॥ १२६ ॥

त्रोणिदेवाःपवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् ।
 अदूष्टमद्विर्निर्णितं यच्चवाचाप्रशस्यते ॥
 आपःशुद्धाभूमिगता वैतृष्णयंयासुगोर्भवेत् ।
 अव्याप्ताप्रचेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥
 नित्यंशुद्धःऋरुहस्तः परयेयच्चप्रसारितम् ।
 ब्रह्मचारिगतंभैक्ष्यं नित्यंमेध्यमितिस्थितिः ॥
 नित्यमास्यंशुचिस्त्रीणां शकुनिःफलपातने ।
 प्रस्रवेचशुचिर्वत्सः प्रवामृगग्रहणेशुचिः ॥

[श्वभिर्हतस्ययन्मांसं शुचितन्मनुरब्रवीत् ।

क्रव्याद्विश्रहतस्यान्यै=आण्डालाद्यैश्चदस्युभिः ॥१३१॥

शुचिरग्निःशुचिर्वायुः प्रवृत्तोहिवहिश्चरः ।

जलंशुचिविविक्तस्थं पन्थासंचरणेशुचिः ॥]

अ०—देवास्त्यक्तासुरसम्पत्काः परीक्षककोटिस्थाः शुद्धा
 आप्रा जना ब्राह्मणानां त्रीणि पवित्राणि निश्चित्य सम-
 र्थितवन्तः । सूक्ष्मं शुष्कविष्ठादिवस्तुसंसर्गाददृष्टं लग्नम-

शौचं स्थूलपवित्रं त्रस्तुसंसर्गदोषस्तु दुर्गन्धाद्याधिक्येन स्प-
ष्टमेव प्रतीयते न तच्छुद्धम्, अद्विः प्रक्षालनादिना यच्छुद्धं
कृतं यच्च शुद्धमिदमिति बहुभिः प्रधानैराप्तैर्वा वाचा प्र-
शस्यते ग्राह्यमिदमदोषमिति । यासु पीयमानासु गोवैतृष्ण्यं
भवेत्तावत्प्रमाणावधि शुद्धभूमिस्थिताऽग्नेमध्येनचेद्व्याप्ताः
शुभगन्धादिमत्यत्रापः शुद्धाः । शिल्पकार्ये जात्याऽधमस्या-
पि कारोर्हस्तो नित्यं शुद्धः । अग्नेध्यविष्टादिलग्नो हस्तोऽपि
शिल्पिनः शुद्धइति प्रयोजनमत्र नास्ति । जलपानाद्यर्थापि
कारुहस्तस्य शुद्धिर्विवक्षिता नास्ति किन्तु यत्नेन सम्पाद्यते
वस्त्रादिकं वा सीव्यते तच्छुचि ग्राह्यं धार्यम् । अतिशूद्रे-
णापि पण्ये यद्विक्रेतुं प्रसारितं तच्छुचि बहुक्रेतुपाणिस्प-
र्शनापि दूषितं न भवति । ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यमपवित्रमा-
र्गण नीतमपि शुद्धमेव । स्त्रीणामास्यं नित्यं शुचि सोम-
तत्त्वाधिक्यात् । मध्येऽगण्डूपादिकमन्तरेण पुरुषाणां या-
वद्यादृशं चास्यमशुचि संपद्यते न तादृशं वामानां प्राकृत-
शौचसत्त्वादतः पुरुषापेक्षया शुचित्वमत्र विवक्षितम् । श-
कुनेः काकादेश्चास्यं फलपातने शुचि तस्मादेव काकाद्यु-
च्छिष्टमप्याम्नादिफलं लोके भक्ष्यमभिमत्म् । प्रसूत्रे गोदो-
हकाले स्तन्यपाने वत्सस्यास्यं शुचि तेनाप्रक्षालितस्तने-
भ्योऽपि दुग्धनिस्सारणं नानुचितम् । मृगस्य मृग्यस्य व-
स्तुनो ग्रहणे श्वा शुनो मुखं शुचि नान्यत्र । श्वभिर्हतस्य
पशवादेर्यन्मांसं तच्छुचि मनुरब्रवीत् । क्रव्याद्विश्रान्यैश्चण्डा-
लादिभिर्दस्युभिश्च हतस्य च । इदं च पद्यं पश्चात् क्षिप्तं वर्तते

मांसं रक्तादुत्पद्यते । रसाद्रक्तं ततो मांसमिति वचनात् ।
रक्तं च १२३ पद्यानुकूलं मूत्रादिवदेवाशुद्धं यत्संपृष्टं मृन्मयं
पुनःपाकेनापि न शुध्यति तज्जन्यं मांसं मूलादेवापवित्रं
शवाद्यपवित्रसंयोगेनाधिकमशुद्धं मन्तव्यं स्यादतश्चिन्त्यम् ॥

भा०—अदृष्टमपवित्रत्वं जायमानं मनोग्लानिकरं न
जायते । वाचा प्रशस्ते मनोऽप्युत्सहते कारुपदेन मोदक-
पिण्डादिनिर्मातृणां ग्रहणां नास्त्यतः काष्ठादिकार्यवस्तुषु शि-
ल्पिहस्तगताशुद्धिरपि पवित्रकाष्ठादिपदार्थानां बाहुल्येन
शुद्धा जायते मन्यते वा । एवं पण्यप्रसारणादिमध्येऽपि बोध्यम् ।
ब्रह्मचारी स्वयं शुद्धस्तस्य संसर्गाद् भैक्ष्यमपि शुद्धमेव भव-
ति । अशुद्धेः प्राबल्याभावान्नाशुद्धम् । सति चाशुद्धिप्राबल्ये
भवत्येवाशुद्धम् । सोमो गौरीअधिप्रितः—इति पवमानसूक्तेषु
स्त्रीजात्या सह पवमानसोमस्य कारणासम्बन्धः प्रदर्शितः ।
तत्रापि मुखे कारणाप्राधान्यमतएव स्त्रीणां मुखेन चन्द्र-
मस उपमानोपमेयभावः प्रसिद्धिं गतः । पवमानत्वं च वेदे
सर्वदेवापेक्षया सोमस्यैवाधिक्येन स्पष्टीकृतमतो मुखस्य
शुचित्वमुक्तं नतु चुम्बनाद्यर्थमित्येकदेशिकथनमादरणी-
यम् । बालादीनामपि मुखस्य स्नेहेन चुम्बनसत्त्वात् । फ-
लपातने शकुनिचञ्चुप्रवेशः फलशुद्धौ हेतुर्नास्त्यपितु फले
प्राकृता स्वांशे प्रबला च शुद्धिश्चञ्चुप्रवेशेन नैव व्याहन्यते
अतएव पक्करोटिकादौ सएव चञ्चुप्रवेशोऽशुचित्वप्रयोजको
जायते तत्र च संयोगेऽशुचित्वं व्यज्यते । रोटिकायां च
तादृशं शुद्धिप्राबल्यं नास्ति यच्चञ्चुसम्पर्केण न व्याहन्येत

शुनि स्वतः प्रकृत्याऽशुद्धेऽपि जाङ्गले शशादावन्यमृग्यवस्तुनि
वा प्राकृता प्रबला च शुद्धिः श्वसम्पर्केण न व्याहन्यतेऽपितु
शुद्धिकक्षायामेव मन्यतइति ग्रन्थकृदाशयो बोध्यः ॥१३१॥

भाषार्थः—(देवा ब्राह्मणानां त्रीणि पवित्राण्यकल्पयन्) आसुरी माया
को छोड़ने वाले परीक्षक आप शुद्ध निर्दोष पुरुषों की कोटि में आये पूर्वज
लोगों ने ब्राह्मणों के लिये तीन वस्तु पवित्र माने वा ठहराये हैं—(अदृष्टमद्भिर्नि-
र्गिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते) सूखा विष्ठादि जिस में छू गया पर किसी ने दे-
खा न हो ऐसी सूक्ष्म लगी अशुद्धि, स्थूल अपवित्र विष्ठादि वस्तु के स्पर्श से हु-
आ दोष तो दुर्गन्धादि की अधिकता से स्पष्ट ही अशुद्ध जान पड़ता है, द्वितीय
जल के द्वारा धोकर शुद्ध किया और तृतीय सत्यवादी प्रधान पुरुषों ने जिस
की प्रशंसा वाणी से की हो कि यह शुद्ध निर्दोष ग्राह्य है (यासु गोर्वैतृष्ण्यं भ-
वेत्) जिस के पीने से एक गौ तृप्त हो सके ऐसा (अमेधयेन चेद्व्याप्ताः) मल
मूत्रादि जिस में न पड़ा हो वा काई आदि न हो (गन्धवर्णरसाश्विताः) अ-
च्छागन्ध देखने में स्वच्छ और पीने में स्वादिष्ठ हो तो (भूमिगता आपः शुद्धाः)
शुद्ध पृथिवी में भरा उतना थोड़ा तक जल शुद्ध माना जाता है । (कारुहस्तो
नित्यं शुद्धः) जाति से अधम चर्मकारादि भी फारीगर का हाथ नित्य शुद्ध है ।
इस का यह अभिप्राय नहीं कि विष्ठादि अशुद्धि जिस में लगी ही ऐसा शिल्पी
का हाथ भी शुद्ध माना जाय, वा जल पीने आदि के लिये भी शिल्पी के हाथ
की शुद्धि कहना अभीष्ट नहीं किन्तु जो वस्तु वह बनाता वा जिन वस्त्रों को
सीता है वह वस्त्रादि शुद्ध ग्राह्य धारण करने योग्य है (यच्च परये प्रसारितम्)
और जो वस्तु बेचने के लिये दुकान पर किसी नीच मुसलमान आदि ने भी
फैलाया हो वह शुद्ध है । बहुत खरीददारों के छूने पर भी दूषित नहीं होता
(ब्रह्मचारिगतं भिक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः) अपवित्रमार्ग से लेजाने पर
वा लेजाते समय किसी के छूलेने पर भी ब्रह्मचारी के हाथ में पकड़ी हुई रोटी
दाल भात पूरी आदि भिक्षा नित्य ही शुद्ध है । ब्रह्मचारी स्वयं स्वभाव से ही शुद्ध
होता है इसी से उस के समीपस्थ भिक्षा भी अशुद्ध नहीं हो सकती (स्त्रीणामास्यं
नित्यं शुचि) स्त्रियों का मुख सोमतरव की अधिकता से नित्य शुद्ध है । बीच २ में
कुरला करने धोने आदि विना पुरुषों का मुख जितना वा जैसा अशुद्ध होता

है वैसे प्राकृत शुद्धि होनेके कारण स्त्रियोंका मुख अशुद्ध नहीं होता इससे पुरुष की अपेक्षा स्त्री के मुख को पवित्र कहना ग्रन्थकार का अभीष्ट है (फलपातने शकुनिः) कौवा आदि पक्षी का मुख फल गिराने में पवित्र है । तिसी से कौवा आदि का जुठारा हुआ भी आम आदि फल लोक में भक्ष्य माना जाता है (प्रसवे च वरसः शुचिः) गौ को दुहने के समय थन चोंखने में बछरा का मुख शुद्ध है इस कारण बछरा के चोंखनेपर विना धीये थनों से भी दूध निकालना अनुचित नहीं है (मृगग्रहणे श्वा शुचिः) खोजने योग्य वस्तु को मुख से पकड़ के कुत्ता उठालाया हो तो वह वस्तु कुत्ता के अशुद्ध होने से अपवित्र नहीं है । किन्तु अन्य खाने पीने आदि के वस्तु में कुत्ता मुख डाल दे तो वहां उस का मुख अशुद्ध ही माना जायगा । इस से सिद्ध है कि कुत्ते का मुख कहीं भी शुद्ध नहीं सर्वत्र ही अशुद्ध है कहीं तो कुत्ता के मुखस्पर्श से कोई वस्तु अपवित्र होजाता और कहीं नहीं होता (श्वभिर्हृतस्य यन्मांसम्) कुत्तों से शिकार मारे हुए वनपशुआदि का जो मांस है (शुचि तन्मनुरब्रवीत्) उस को मनुजी ने शुचि पवित्र कहा है (क्रव्याद्भिर्ब्रह्मतस्यान्यैश्चाण्डालादिभिर्दस्युभिर्हृतस्यच) कीड़ा वा कचरा मांस खाने वाले पक्षी आदि ने मारे और चाण्डालादि दस्युजाति के अति नीच मनुष्यों के मारे कुवे पशुआदि का मांस शुद्ध है । इसी के आगे (शुचिरग्निः) इत्यादि एक श्लोक पीछेसे किसी ने मिलाया है उस का अर्थ—नीच के घर का भी अग्नि शुद्ध है, बाहर भीतर सर्वत्र विचरने वाला वायु पवित्र है एकान्त स्थान में भरा जल शुद्ध और चलने मार्ग में शुद्ध है । इस से पहिला (श्वभिर्हृतस्य०) इत्यादि श्लोक भी पीछे ही किसी ने मिलाया है । क्योंकि—रुधिर से मांस बनता अर्थात् रुधिर जम जाता और परिणाम बदल के मांस ही जाता यही आयुर्वेद सुश्रुत में लिखा है और इसी अ० के १२३ श्लोक में कहे अनुसार मूत्रादि के तुल्य ही रुधिर भी अशुद्ध है कि जिस रुधिर से कुवा हुआ मट्टी का घड़ा फिर से पकाने पर भी शुद्ध नहीं होता उस रुधिर से उत्पन्न हुआ मांस जड़ से ही अशुद्ध है वह कुत्ता के मुखादि के साथ मिलने से और भी अधिक अशुद्ध मानना चाहिये तब उस को शुद्ध कहना चिन्तनीय अवश्य है ॥

भा०—न देखी परीक्ष में हुई सूक्ष्म अवित्रता मन को ग्लानि नहीं करती । वाणी से जिस की प्रशंसा की जाती है उस को मन भी चाहता है । कारु कहने से लड्डू पेड़ा आदि बनाने वालों का ग्रहण न होगा । इस से स्वतः-शुद्ध काष्ठादि के कार्य पदार्थों में शिल्पी के हाथ की अपवित्रता भी पवित्रका-

ष्ठादि की अधिकता के साथ शुद्ध होती वा मानी जाती हैं। इसी प्रकार दु-कान आदि में भी जानों। अर्थात् शिल्पक्रिया जिन में की जाती वा दुकान में बेचने के लिये जो लगाये जाते हैं वे पदार्थ प्रायः स्वभाव से ही शुद्ध होते हैं इसी से हाथ की अशुद्धि से अग्राह्य प्रायः नहीं हो पाते। ब्रह्मचारी स्वयं स्व-भाव से शुद्ध है उस के साथ में भिक्षा भी शुद्ध ही रहती है। अर्थात् अशुद्धि की प्रबलता न होने से भिक्षा अशुद्ध नहीं होती। और कहीं अशुद्धि की प्रबलता हो जाय तो भिक्षा भी अशुद्ध हो जायगी। ऋग्वेद के-(सोमो गौरी०) इत्यादि पवमान सूक्तस्थ मन्त्रों में स्त्री जाति के साथ पवमान सोम का कारणस्वन्ध दिखाया है। वहां भी स्त्रियों के मुख में कारण सोम तत्त्व की प्रधानता है इसी कारण स्त्रियों के मुख के साथ चन्द्रमा का उपमानोपमेय भाव सस्वन्ध प्रसिद्ध हो रहा है। तथा अन्य सब देवताओं की अपेक्षा पवमानपन वेद में सोममें ही अधिकता से स्पष्ट वर्णन किया है और सोम स्त्रीजाति के मुख में अधिक रहता इसी से स्त्रियों के मुख को नित्य शुचि कहा है किन्तु चुम्बनादि के लिये मुख की शुद्धि कल्पित दिखानी अभीष्ट नहीं यह एकदेशी विचार विशेष आदरयो-भ्य नहीं है। क्योंकि स्नेह पूर्वक बालकादि के मुख का चुम्बन किया जाता है तब वहां शुचित्वकल्पना करनी पड़ेगी। फल गिराने में पक्षी का फल में चोंच मारना फल के शुद्ध होने में हेतु नहीं किन्तु फल में जो स्वाभाविक और अपने अंश में प्रबल शुद्धि है वह चञ्चु प्रवेश से नष्ट नहीं होती और जिस फल को पक्षी ने जूठा करके नहीं गिराया उस की अपेक्षा वा उस की बराबर भी पक्षी का गिराया फल शुद्ध नहीं किन्तु पक्षी की जुठारी रोटी आदि की अपेक्षा फल भक्ष्य बना रहता है त्याज्य नहीं हो जाता यही आशय है। इसीसे पकाई रोटी आदि में वही चञ्चु प्रवेश उस के अग्राह्य होने का कारण हो-जाता है। वहां संयोग में अशुद्धि प्रकट हो जाती है। फल के समान रोटीमें वैसी प्रबल शुद्धि नहीं है जो चोंच के संयोग से न विगड़े। कुत्ता स्वभाव से ही अशुद्ध भी है पर वन के शशकादि जन्तु वा अन्य खोये हुए वस्तु में स्वाभाविक प्रबल शुद्धि है वह कुत्ता का मुख लगजाने मात्र से विगड़ती नहीं वा उस शुद्धि से इतनी कम बाधापड़ती है जिस में वह वस्तु त्याज्य नहीं हो जाता परन्तु वही वन का शुद्ध वस्तु कुत्ता के मुख से लुबे की अपेक्षा न लुबा अधिक शुद्ध माना जायगा। इत्यादि प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से ग्रन्थकार का आशय शोचना चाहिये। शुद्धाशुद्धादि दिखानामात्र यहां विवक्षित है। मांस भक्षणदि का दोषादोष कहना प्रकरणान्तर का विषय जानो ॥ १३१

ऊर्ध्वनाभेर्यानिखानि तानिमेध्यानि सर्वशः ।
 यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैवमलाश्च्युताः
 मक्षिकाविप्रुषश्छाया गौरश्वःसूर्यरश्मयः ।
 रजोभूर्वायुरग्निश्च स्पर्शमेध्यानि निर्दिशेत् ॥
 विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्धार्यादेयमर्थवत् ।
 देहिकानांमलानां च शुद्धिषुद्वादशस्वपि ॥
 वसाशुक्रमसृङ्मज्जा-मूत्रविड्घ्राणकर्णवित् ।
 श्लेष्माशुद्धूपिकास्वेदो द्वादशैतेनृणांमलाः ॥
 एकालिङ्गेगुदेतिस्-स्तथैकत्रकरेदश ।
 उभयोःसप्तदातव्या मृदःशुद्धिमभीप्सता ॥
 एतच्छौचगृहस्थानां द्विगुणंब्रह्मचारिणाम् ।
 त्रिगुणांस्याद्वनस्थानां यतीनांतुचतुर्गुणम् ॥
 कृत्वामूत्रंपुरीषंवा खान्याचान्तुपस्पृशेत् ।
 वेदमध्येष्यमाणश्च-अन्नमश्नंश्चसर्वदा ॥
 त्रिराचामेदपःपूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततोमुखम् ।
 शारीरंशौचमिच्छन्हि स्त्रीशूद्रस्तुसकृत्सकृत् ॥
 शूद्राणांसासिकंकार्यं वपनंन्यायवर्तिनाम् ।
 वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं चभोजनम्

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गेपतन्तियाः ।
न प्रमश्रूणि गतान्यास्यं नदन्तान्तरधिष्ठितम् ॥

[अजाशवंमुखतोमेध्यं गावोमेध्याश्रुपृष्ठतः ।
ब्राह्मणाः पादतोमेध्याः स्त्रियोमेध्याश्रुसर्वतः ॥
गौरमेध्यामुखे प्रोक्ता अजामेध्याततः स्मृता ।
गोःपुरीषंचमूत्रंच मेध्यमित्यब्रवीन्मनुः ॥]

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ यत्राचामयतः परान् ।
भौमिकैस्ते समाज्ञेया नतैरप्रयतो भवेत् ॥

[दन्तवदन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शेषु चैव तु ।
परिच्युतेषु तत्स्थाना-न्निगिरन्नेव तच्छुचिः ॥]

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन ।
अनिधायैव तद्द्रव्य-माचान्तःशुचितामियात् ।
वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् ।
आचामे देवभुक्त्वाऽन्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥

[अनृतौ तु मृदाशौचं कार्यं मूत्रपुरीषवत् ।
ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वा-त्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥]

सुप्त्वा स्रुत्वा च भुक्त्वा च निषठीव्योक्त्वानृता-
नि च । पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च-आचामेत्प्र-
यतोऽपिसन् ॥ एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्य-
शुद्धिस्तथैव च । उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां-
धर्मान्निबोधत ॥ १४६ ॥

अ०-यतो देहाधोभागस्थपायूपस्थाभ्यामेव मला वि-
 गमूत्ररूपा मालिन्यप्रधानाः प्रकाराश्च्यवन्ते तस्मादेव ना-
 भेरधस्थान्यङ्गान्यपवित्राणि सन्ति । मक्षिकादयोऽपवित्रे-
 ण सम्बद्धा अपि स्पर्शोऽपवित्रा नैव मन्तव्याः । सर्वाण्ये-
 तानि लघुत्वप्रधानानि वायव्यानि कानिचिदाग्नेयानीति
 मत्वा मेध्यानि मन्तव्यानि । सर्वमलापगमार्थं शुद्धिनिमित्तं
 मृद्धारि — अर्थवत्प्रयोजनवदादेयमपवित्रत्वतारतम्यमव-
 लोक्य मलापगमोपायरूपशुद्धेरपि तादृशमेव भेद तारतम्यं
 विज्ञेयम् । यो रोमकूपादिनिस्सृतः स्नेहो वस्त्रादिषु लग्नो
 दृश्यते सा वसा, शुक्रमार्त्तवं च, असृगूरुधिरम्, मज्जा-क-
 क्षादिस्थरोमेषु ग्रीष्मवर्षाकाले लग्नो दृष्टः स्नेहः । इत्याद-
 यो नृणां द्वादशविधा मला अभिमता ऋषिभिः । मूत्रं पु-
 रीषं वा कृत्वाऽऽचान्तः कृताचमनः, वेदमध्येष्यमाणश्च
 सर्वदान्ममन्त्रश्चाचान्तः खान्युपस्पृशेदद्विरिति शेषः । स्त्री
 शूद्रौ सकृत्सकृदाचमनं छिद्रस्पर्शं च कुर्याताम् । न्यायपथगा-
 मिभिः शूद्रैर्मांसिकं वपनं कार्यम् । वैश्यवच्छौचकल्पश्च वै-
 श्यः पञ्चदशाहेनेत्युक्तप्रकारकं शौचं कर्त्तव्यम् । सच्छूद्रविषयकं
 कथनमेतत् । मुख्या विप्रुषो या अङ्गे पतन्ति यानि श्मश्रु-
 गतानि जलादिकण्जातानि यदन्तान्तरधिष्ठितं भुक्तावशि-
 ष्टमन्नमङ्गमास्यं चोच्छिष्टं न कुरुते । तैरप्रयतोऽशुचिर्न भ-
 वेत् । उच्छिष्टेन शौचार्हेण केनापि पुरुषेण प्राणिना वा
 तादृशजलान्नादिना वा कथमपि भक्ष्यभोज्यादिवस्तु हस्ते
 समुपाददानोऽन्यः पुरुषः संस्पृष्टः स्यात्तदा तद्द्रव्यमनि-
 धायैवाधृतवैवाचान्तः कृतजलक्रियः शुचितां शुचित्वमा-

मुयात् । वमनविरेचनानन्तरं स्नानं घृतप्राशनं च विशु-
द्धये कार्यम् । अन्नं भुक्त्वाऽऽचमनमेव, मैथुनानन्तरं स्नानं
कार्यम् । स्वप्राच्यनन्तरं शुद्धेनाप्याचमनं कार्यम् । एष कृत्स्नः
शौचविधिरुक्तः स्त्रीधर्माश्च वक्ष्यमाणास्त्रिविधो धतेति भृगुराह ॥

भा०--मलिनं स्वभावेनाधो गच्छति यच्च प्रकृत्या म-
लिनं तदेवाधो गच्छति तस्माच्चाधस्थस्य निकृष्टत्वं तदपे-
क्षयोपरिस्थस्य च सदा सर्वत्रैवोत्कृष्टत्वं च न्यायसिद्धमेव
मन्तव्यम् । मक्षिकास्वभावेन मलिनास्तासां स्पर्शा विष्टा-
द्यपेक्षया मेध्यो मक्षिकास्पर्शाभावापेक्षया च स्पर्शस्यामेधत्व-
मेव मक्षिकादयोऽपि स्पर्शादन्यत्र भक्षणादावमेध्याएवेत्य-
र्थादापद्यते । सर्वस्यैवालपः स्पर्शश्च स्नानादिशौचावश्यकतां
नैव जनयति । अल्पममेध्यत्वं मक्षिकादिस्पर्शं जायमान-
मप्यमेध्यपक्षे न परिगणयते । एकान्नकणस्य भक्षणात्मक-
विन्दोर्जलस्य पानं च भोजनजलपानपक्षयोर्न परिगणयते ।
वसादीनां ग्रहणमुपलक्षणार्थं तेन पूयसिरास्नायुमांसादी-
नामपि मलत्वमस्त्येव । लिङ्गादिषु लग्नस्य मूत्रादिजन्य-
दुर्गन्धस्य सकृदादिमृद्वारिप्रयोगो वारकः यदि च कुत्रचि-
न्न्यूनाधिकसंख्याकमृद्वारिप्रयोगेण तत्कृतो गन्धो लेपश्च
निवर्तते तदा तावद्दारमेव मृद्वार्यादेयम् । गृहस्थापेक्षया च
ब्रह्मचार्यादिभिर्न्यायतएव शौचाधिक्यमनुष्ठेयम् । तस्मादे-
वोत्तरोत्तरस्य शौचाधिक्यमभिहितम् । जलं च पावनं त-
स्याचमनं तेनेन्द्रियस्पर्शश्च शोधनहेतुः । वमनविरेचनयो-
र्यद्वैषम्यं जायते तत्स्नानघृतप्राशनाभ्यां निवर्तते । आच-
मनं चापानजन्यमालिन्यं स्वप्नादिकालउपरिधावतितदधो-
गमयति तस्माच्छोधनम् ॥ १४६ ॥

भाषार्थः—(नाभेरुर्ध्वं यानि खानि तानि सर्वशः मेध्यानि) नाभि से ऊपर शिर में जो मुख, आंख, नाक, कान ये सप्तर्षि नामक सप्तछिद्र हैं वे सब प्रकार नाम प्रत्यक्ष परोक्ष स्थूल सूक्ष्म सब प्रकार से पवित्र हैं । (देहाश्चैव मलाश्च्युता यान्यधस्तान्यमेध्यानि) जिस कारण शरीर के नीचे भाग में स्थित गुदा और उपस्थ से ही मलिनता में सर्वोपरि प्रधान विष्टा मूत्रस्वरूप मल के प्रकार निकलते हैं इसी कारण नाभि से नीचे के इन्द्रिय छिद्र अपवित्र अशुद्ध हैं (मक्षिकाविप्रुश्छाया) मक्खी अपवित्र वा जूटे जल के ढींटा, किसी अशुद्ध मनुष्यादि की छाया (गौरश्वःसूर्यरश्मयः) महानर आदि के बुबे हुए गौ, घोड़ा, किसी अपवित्र वस्तु पर पड़े हुए सूर्य के किरण (रजोभूर्वायुरग्निश्च) अपवित्र विष्टादि लगी उड़ती धूलि, चाण्डालादि से छुई पृथिवी, किसी को स्पर्श कर आया वायु और चाण्डालादि के घर का अग्नि (स्पर्शं मेध्यानि निर्दिशेत्) इन सब को स्पर्श करनेमात्र में शुद्ध मानना चाहिये अर्थात् अशुद्ध न माने । अर्थात् ये सब कोई हल्केपन में प्रधान होने से वायु तत्त्व की प्रधानता वाले तथा कोई आग्नेय हैं ऐसा मान कर शुद्ध माने (देहिकानां मलानां च द्वादशस्वपि शुद्धिषु) अगले श्लोक में कहे बारह प्रकार के मनुष्य देहस्थमल वा मलिनताओं की शुद्धियों नाम अपवित्रताओं के हटाने के लिये तथा (विषमूत्रोत्सर्गशुद्धधर्मम्) विशेष कर प्रधान मल—विष्टामूत्र के त्याग में शेष की शुद्धि के लिये (अर्धवन्मृदायां देयम्) प्रयोजनानुकूल—जितने से जितने बार मांजने धोने से अवित्रता छूट सकती है उतनी वा उतने बार जल मट्टी मांजने धोने में लेनी चाहिये [इसी श्लोक के विशेष व्याख्यानरूप अगले १३६ । १३७ श्लोक हैं । अर्थात् सामान्य कर उतने ही बार मट्टी जल वहां लगाने से उचित शुद्धि उस २ स्थान की हो सकती है] (वसाशुक्रमसृङ्मज्जा रोम कूपादि द्वारा निकलने वाला चिकना मल जो पहिने हुए वस्त्रादि में लगा दीखता है वह वसा१, शुक्र-वीर्य आर्त्तव रुधिर२ वा सामान्य रुधिर, ३ वगल आदिस्थ लोमों में विशेष कर ग्रीष्म और वर्षा के समय लगने वाला चिकना मल मज्जा ४ (मूत्रत्रिङ्घ्राणकर्णविट्) मूत्र, ५ विष्टा, ६ रेंट ७ (नाक का मैल) कान का मैल—ठेंठ ८ (श्लेष्माशुद्धयिकास्वेदः) कफ—खखार, ९ आंसू १० कीचड़ ११ और पसीना १२ (द्वादशैते नृणांमलाः) ये बारह प्रकार के मल मनुष्यों के शरीरों में होते हैं (एका लिङ्गे गुदे तिस्रः) दिशा पाखाने जाने पर और पेशाव करने पर उन २ स्थानों की उचित शुद्धि के लिये पेशाव के स्थान में

एक वार मट्टी जल लगा कर माजे धोवे, गुदा में तीन वार माटी लगा २ कर जल से धोवे (तथैकत्र करे दश) तथा एक बायें हाथ को [जिस से मलमूत्रस्थान धोया मांजा हो] दश वार मट्टी जल लगा २ कर धोवे और (शुद्धिमभीप्सता) शुद्धि चाहने वाले को उचित है कि (उभयोः सप्त मृदो दातव्याः) दोनों हाथों को मिलाकर सात वार माजे धोवे (एतच्छौचं गृहस्थानाम्) यह उक्त प्रकार एक वार उपस्थ को और तीन वार गुदस्थान को मांजने धोने आदि की शुद्धि गृहस्थाश्रम वालों के लिये कही है (द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्) ब्रह्मचारी इस से दूनी शुद्धि करे (त्रिगुणं स्याद्गनस्थानाम्) वानप्रस्थों के लिये उस से तीन गुणी शुद्धि होनी चाहिये और (यतीनां तु चतुर्गुणम्) संन्यासियों को चौगुणी शुद्धि करना ठीक है (सूत्रं पुरीषं वा कृत्वा) मल सूत्र त्याग करने पश्चात् (सर्वदाऽन्नमश्रंश्च) सब काल में नित्य २ भोजन करने के समय (च) और (वेदमध्येष्यमाणश्च) वेद पढ़ने के आरम्भ वा समाप्ति में (आचान्तः खान्युपस्पृशेत्) आचमन कर के इन्द्रियों का स्पर्श करे । (पूर्वमपस्त्रिराचामेत्) प्रथम तीन वार जलों का आचमन करे (ततो मुखं द्विःप्रमृज्यात्) तदनन्तर दो वार मुख को धोकर शुद्ध करे (स्त्री शूद्रस्तु शारीरं शौचमिच्छन् हि सकृत्सकृत्) स्त्री और शूद्र अपने २ शरीर की शुद्धि चाहते हुए एक २ वार आचमन और मुख शुद्धि करके शुद्ध रहें । [स्त्री सोमतरव हीने से प्रधान स्वतः शुद्ध है सो १३० श्लोक में भी कह चुके हैं इस से वह थोड़ी शुद्धि से भी शुद्ध हो जाती और बालक मूर्ख के समान शूद्र भी कम अशुद्ध होता है इसी लिये दोनों को कम शुद्धि करना कहा वा द्विज पुरुषों की अपेक्षा ये दोनों हीन दशा में हैं यही जताने दिखाने के लिये दोनों को कम २ आचमनादि कहा है] (न्यायवर्तिनां शूद्राणां मासिकं वपनं कार्यम्) न्यायानुकूल पञ्चमहायज्ञों को तथा ब्राह्मणादि की ठीक २ सेवा करने वाले शूद्रों को महिने भर में एक वार सब केशों का मुण्डन कराना चाहिये (वैश्यवच्छौचकल्पश्च) वैश्य के कुल में गमी ही तो १५ दिन में शुद्ध होता है और शूद्र के लिये एक महिने में शुद्ध होना पूर्व कह चुके हैं पर यहां सच्छूद्र को गुण कर्मानुसार वैश्यमान कर उसी के तुल्य शौच कहा है (च) और (द्विजोच्छिष्टं भोजनम्) ब्राह्मणादि द्विजों के भोजन कर लेने पर बचे भोजन को सेवक शूद्र लोग खावें [अर्थात्—उच्छिष्ट किसी को न देवे—ऐसा जो कह चुके हैं वह सेवक और

शिष्य को छोड़ अन्य के लिये है । यहां सेवक को तो स्वयमेव मालिक का उ-
च्छिष्ट खाना चाहिये यह आज्ञा शास्त्रकार ने दी है (या मुख्या विप्रुषोऽङ्गे प-
तन्ति नोच्छिष्टं कुर्वते) बात करते समय अपने वा अन्य के मुख से जो सूक्ष्म
जलांश वा थूक के कण शरीर पर पड़ते हैं वे उन २ अङ्गों को (श्मश्रूणि गतानि
आस्यम्) डाढ़ी मोछीं में लगे अदृष्ट थूक के सूक्ष्मांश मुख को और (दन्तान्तर-
धिष्ठितम्) सर्वथा ठीक २ शुद्धि कुल्ला कर लेने पर भी दांतों के बीच कहीं २
जो अन्न का सूक्ष्मांश रह जाता है वह भी मुख को जूटा बनाने वा ठहराने वाला
नहीं माना जाता अर्थात् वह थूक का सूक्ष्म छींटादि जो अनिवार्य है मनुष्य
को उच्छिष्ट वा अपवित्र करने वाला नहीं होता । यदि ये भी अपवित्र करें तो
कोई कभी शुद्ध भी नहीं कहा जा सकता है । सर्वथा स्नानादि से शुद्ध हुआ
कोई यज्ञ करते समय मन्त्र पढ़े तभी मुख की वाष्पद्वारा थूक के सूक्ष्मांश श-
रीर पर अवश्य पड़ेंगे [यहां १४१ श्लोक के आगे दो श्लोक पीछे मिलाये गये
हैं जिन का अर्थ—बकरा—घोड़ा मुख से पवित्र, गौ और बैल पीठ से पवित्र
ब्राह्मण लोग पावों से पवित्र और स्त्रियां सब ओर से पवित्र हैं । गौ और
बकरी मुख से अपवित्र और गौ का सूत्र तथा गोबर दोनों को मनु जी ने प-
वित्र कहा है] (परानाचामयतो ये विन्दवः पादौ स्पृशन्ति) अन्यो को
जल पिलाते समय जो जल के छींटा पगों पर पड़ते हैं (ते भौमिकैः समा-
ज्ञेयास्तैरप्रयतो न भवेत्) उन को भूमि में वर्षने वाले विन्दुओं के समान शुद्ध
जानी (तैरप्रयतो न भवेत्) उन से अप्रयतनाम अशुद्ध नहीं होता क्योंकि वे
सूक्ष्म जल कण वायु के स्पर्श से शुद्ध हो जाते हैं [इस १४२ के आगे भी १ श्लो-
क किसी ने पीछे से मिलाया है जिस का अर्थः—दान्तों में लगा अन्न दांतों
के तुल्य शुद्ध माना जाय, यदि वह जिह्वा से छुआ न जाता हो तो और दां-
तों में लगा अन्न वहां से छूट जाय तो उस की निगल जाने पर शुद्धि हो जाती
है] (द्रव्यहस्तः कथंचनोच्छिष्टेन संस्पृष्टः) जूटे वा शुद्धि करने योग्य अपवित्र
किसी पुरुष—प्राणी वा अशुद्ध जल अन्न आदि से खाने पीने आदि के पदार्थ को
हाथ में लिये हुए कोई अन्य पुरुष सम्यक् छुवा गया हो तो (तद्द्रव्यमनिधा-
यैवाचान्तः शुचितामियात्) उस लिये हुए वस्तु को कहीं न धर के पास में लिये
हुए ही आचमन कर के वा जो भागछुवा गया हो उसी को जल से शुद्ध करके
पवित्र हो जावे वा हो सकता है (वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु) वसन और वि-

रेचन होने पश्चात् स्नान करके (घृतप्राशनमाचरेत्) थोड़ा घी पीवे ती शुद्ध होता । (भुङ्क्त्वाऽन्नमाचामेदेव) भोजन करने पश्चात् आचमन ही करे किन्तु स्नान नहीं जिस से भीतरी कण्ठादि धो जावे किन्तु भोजन करने में बाहरी अशुद्धि कुछ नहीं होती इसी से स्नान नामक वाच्य शुद्धि की वहां आवश्यकता नहीं (मैथुनिनः स्नानं स्मृतम्) स्त्री से मैथुन करने वाले पुरुष को स्नान करना चाहिये । [इस के आगे भी एक श्लोक पीछे मिलाया गया है उस का अर्थः—ऋतु समय से भिन्न काल में स्त्री से संयोग करे तो वहां मूत्र के तुल्य मट्टी जल से शुद्धि करले और ऋतु काल में मैथुन से गर्भस्थिति की सम्भावना होने के कारण मैथुन करने वाला स्नान करे] (सुप्त्वा क्षुत्वा च भुङ्क्त्वा च) सोने, छोकने भोजन करने (निदीव्योक्त्वा नृतानि च) धूकने, झूठ बोलने (पीत्वाऽऽपोऽध्येष्यमाणश्च) जल पीने पर और वेदाध्ययन का आरम्भ करता हुए (प्रयतोऽपि सन्नाचामेत्) शुद्ध पुरुष को भी आचमन करना चाहिये (एष कृत्स्नः शौचविधिस्तथैव च द्रव्यशुद्धिः सर्ववर्णानां व उक्तः) यह सब ब्राह्मणादि वर्णों का सम्पूर्ण शौचविधि और वैसे ही द्रव्यशुद्धि तुम श्रोता लोगों से कहती अब (स्त्रीणां धर्मान्निबोधत) स्त्रियों के धर्म ९० श्लोकों में कहेंगे यह भृगु जी प्रतिज्ञा करते हैं ॥

भा०—मलिन वस्तु स्वभाव से नीचे को जाता और स्वभाव से मलिन होता वही नीचे को जाता है तिस से नीचे वाले का निकृष्ट होना और उस की अपेक्षा उपरिस्थ का सदा सर्वत्र उत्तम होना न्यायसिद्ध ही मानना चाहिये । मक्खी स्वभाव से ही मलिन होतीं उन का स्पर्श होना विद्यादि की अपेक्षा शुद्ध है किन्तु मक्खियों का स्पर्श न होने की अपेक्षा स्पर्श होना अपवित्र ही है । और मक्षिकादि भी स्पर्श से अन्यत्र खा जाने आदि में अपवित्र ही हैं यह अर्थापत्ति से सिद्ध है सभी अपवित्र वस्तु के साथ थोड़ा स्पर्श होना स्नानादि शुद्धि की आवश्यकता को प्रकट नहीं करता । मक्खी आदि के छूने में हुई भी थोड़ी अशुद्धि—अशुद्धि पक्ष में नहीं गिनी जाती जैसे अन्न के एक दाने का खाना वा एक विन्दु जल का पीना भोजन और जल पान पक्ष में नहीं गिने जाते । वसादि का ग्रहण उपलक्षणार्थ है तिस से नाडी नस मांस पीवादि भी सब मल ही हैं । लिङ्गादि में लगे मूत्रादि से हुए दुर्गन्ध का एक वार आदि मट्टी जल से सांजना धोना निवृत्त करने वाला है । यदि कहीं न्यूनाधिक वार मट्टी जल के संयोग से उस मूत्रादि सम्बन्धी गन्ध और लेप छूट वा निवृत्त हो जाता है

तो वहां उतने ही बार मट्टी जल देना चाहिये । गृहस्थ की अपेक्षा ब्रह्मचारी आदि को न्यायानुकूल ही अधिक शुद्धि करनी चाहिये क्योंकि वे लोग आगे-२ शुद्धिरूप धर्म के सहारे से ही परमपद को प्राप्त कर सकते हैं । इसी कारण ग्रन्थकार ने अगले २ को अधिक शौच कहा है । जल स्वयमेव पावन है उस का आचमन और उस से इन्द्रियस्पर्श करना शोधक है । वसन विरेचन में जो कायिक वा मानस ग्लानिरूप वह विषमता होती स्नान और घृत खाने द्वारा निवृत्त हो जाती है । जो अपान सम्बन्धिनी मलिनता स्वप्नादि के समय ऊपर को चढ़ती है जिस से मुख में मल जम जाता वा दुर्गन्ध आने लगता है उस को नीचे गिराने वाला होने से आचमन शोधक है ॥१४६॥

बालयावायुवत्यावा वृद्धयावापियोषिता ।
 नस्वातन्त्र्येणाकर्त्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि ॥
 बाल्येपितुर्वशेतिष्ठे-त्पाणिग्राहस्यथौवने ।
 पुत्राणां भर्त्तरिप्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥
 पित्राभर्त्तासुतैर्वापि नैच्छेद्विरहमात्मनः ।
 एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्यं कुर्यादुभेकुले ॥
 सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
 सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥
 यस्मै दद्यात्पितात्वेनां स्नाता चानुसतेपितुः ।
 तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥
 सङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।
 प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥
 अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ।

सुखस्यनित्यंदातेह परलोकेचयोषितः ॥

विशीलःकामवृत्तोवा गुणैर्वापरिवर्जितः ।

उपचर्यःस्त्रियासाध्व्या सततंदेववत्पतिः ॥

[दानप्रभृतियातुस्या-द्यावदायुःपतिव्रता ।

भर्तृलोकंनत्यजति यथैवारुन्धतीतथा ॥]

नास्तिस्त्रीणांपृथग्यज्ञो नव्रतंनाप्युपोषितम् ।

पतिंशुश्रूषतेयेन तेनस्वर्गमहीयते ॥

[पत्यौजीवतियातुस्त्री-उपवासंन्रतंचरेत् ।

आयुष्यंहरतेभर्तु-नरकंचैवगच्छति ॥]

पाणिग्राहस्यसाध्वीस्त्री जीवतोवामृतस्यवा ।

पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥

अ०-प्रायेण गृहसंबद्धानि कार्याणि स्त्रिया स्वप्रव-
न्धेन साध्यानि तत्रापि भर्तुराज्ञा प्रधाना रक्षणीया । प्रथ-
मस्यैव द्वितीयतृतीययोः पत्ययोः प्रपञ्चः । सदा प्रसादहेतु-
ष्वसत्स्वपि विशिष्टभूषणवसनाशनेषु पत्यादिभ्योऽनुपल-
भ्यमानेष्वपि कान्तया प्रहृष्ट्यैव भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया
व्यवहारे चतुरया सर्ववस्तुशोधनतत्परया व्ययेचामुक्तौ बद्धौ
हस्तौ यस्या येन व्ययाधिक्यं न स्यात्तथा तथा भाव्यम् ।
संस्थितं मृतमपि न लङ्घयेदन्यं पतिं न कुर्यात्तमेव पतिं
मन्वाना पत्यन्तरेच्छां च धर्म्यात्पथो विचालिकां जानाना
जन्म व्यतीयात् । आसां विवाहेषु प्रजापतेर्यज्ञो मङ्गलार्थं
वस्त्ययनं प्रयुज्यते । प्रजापत्यादिदेवोद्देशेन यो यज्ञस्त-

न्मङ्गलभूतये सुखपूर्विकां सम्यक्स्थितिं यथामुयादेतदर्थः
 सर्वा विधिर्नतु-इयमस्य भाग्याऽयमस्याः प्रतिः स्वाम्य-
 स्तीति भावरूपस्य विवाहपदवाच्यार्थस्य प्रधानविवाहस्य
 प्रधानं कारणं सप्तपदीपर्यन्तो विधिरपि तु प्रदानं स्वा-
 म्यकारणं पित्रा तदनुमत्या भ्रात्रा वा यस्मै सा दीयते-अ-
 मुकगोत्राममुकस्य पुत्रीं पौत्रीं प्रपौत्रीं वाऽमुकनाम्नीमल-
 ड्कृतांशुभां कन्यामिमाममुकगोत्रायामुकस्य पुत्राय पौत्राय
 प्रपौत्राय चामुकनाम्नेवरायतुभ्यमहं सम्प्रददे । इत्येवं प्रति-
 ज्ञापुस्सरं वाचा हस्तेन च कन्याया दानमेव स्वामिभावस्य
 कारणम् । तद्दानकालमारभ्य कन्यायाः शरीररोमापि सर्वं
 पत्युः सर्वस्य सएव स्वामी स्त्रियाः स्वदेहस्य कस्मिन्नपि
 भागे स्वत्वमेव नास्ति तस्मात्तदिच्छाविरुद्धं सा न किमप्या-
 चरेत् । अनृतावृत्तुकाले चेह परलोके च मन्त्रसंस्कारकृत्प-
 तिर्नित्यं सुखस्य दाताऽस्ति । विशीलः कामवृत्तोवा गुणै-
 र्वा परिवर्जितः पतिः साधव्या स्त्रिया सततं देववदुपचर्यः ।
 अस्याग्रएकं पद्यं पश्चात् क्षिप्रमुपलभ्यते । पतिलोकमभी-
 षन्ती साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा पाणिग्राहस्य
 किञ्चिदप्रियं नाचरेत् । अपितु प्रियमनुकूलमेवाचरेत् ॥

भा०-स्त्रिया कर्तव्य आचरणीयः स्त्रीधर्मः । तासां
 पाठनं शिक्षणादिकं च पित्रादिपुरुषस्य कृत्यमतो नासौ
 स्त्रीधर्मः । यद्यस्य कृत्यं तत् तस्य धर्मइति सर्वत्रैव बोध्यम् ।
 नचायमेवाल्पो वामानां धर्माऽपितु यः पुरुषस्य स सर्वएव
 तदङ्गभूताया स्त्रिया अप्यागत एव पुमान् स्त्रियेति पुंसा
 तस्याएकशेषविधानमप्यप्रधानाङ्गत्वं तस्याः स्फुटयति । यत्र
 पुरुषवाचका ब्राह्मणादयः शब्दा धर्माधिकारार्थं शास्त्रेषु

दृश्यन्ते तत्रतत्र ब्राह्मणयादीनामपि तेष्वन्तर्भावात् स्त्री-
 णामपि सर्वमेव पूर्वोक्तं कर्त्तव्यमागतम् । अतस्तासामल्पो
 धर्मो नास्त्यपितु व्याप्तोऽनन्तो धर्मोऽसंख्यजन्मान्तरैरपि
 सर्वोऽनुष्ठातुमशक्यः । अयन्तु स्त्रीणां विशिष्टः प्रधानो मु-
 ख्यो वा धर्मः । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति
 तस्मिंश्च कृतेऽप्रधानं तदन्तर्गतं भवति । अतोऽस्मिन्
 प्रधाने स्वधर्मोऽनुष्ठितेऽसेवितमपि सेवितमेवाप्रधानम् ।
 धर्मप्रसारस्यानन्त्यान्न सर्वो धर्मः केनाप्यनुष्ठातुं शक्यते त-
 स्मात्प्रधानएव सर्वैरनुष्ठेयः । अस्यां सृष्टौ मुख्यं गौणं च
 प्रधानमप्रधानंच, स्वामी स्वं च द्विविधमेव सर्वं दृश्यते
 तत्र यद्वैश्यामप्रधानं स्वं च सा स्त्री यन्मुख्यं प्रधानं स्वामी
 च स पुरुषः । प्राकृतनियमेनैव स्त्रिया अप्रधानत्वं स्वत्वं च
 यद्वा यत्स्वभावेनैवाप्रधानं कस्यापि स्वं च सा स्त्री । य-
 त्रयत्र यादृशं स्वत्वमप्रधानत्वं च तत्रतत्र तादृशं स्त्रीत्वम् ।
 एवं च यदि स्त्री स्वतन्त्रा स्यात्तदा प्राकृतनियमविधाता-
 देव तदर्थं महद्द्वयम् । प्राकृतनियमानुकूलाचरणमेव धर्म
 स्तस्मात्स्त्रिया पित्रादिवशएव स्थातव्यम् । विदुरेणाप्यु-
 क्तम्—त्रयएवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः । एकमेव
 पुरुषं स्त्री भजेत । गुणैः परिवर्जितेऽप्येकस्मिन्सेव्यमाने य-
 त्सुखं न तद्बहुषु तस्मान्मृतेऽपि तस्मिन्नान्यं सेवेत । मन्त्र-
 संस्कारपूर्वकं ययोर्विवाहस्ते प्रायेणवियुक्ताः परस्परं सुख-
 प्रदाश्च स्त्रीपुरुषा लोके दृश्यन्ते । येचान्यप्रकारैःस्त्रीसम्ब-
 न्धं कुर्वन्ति कामपि कथमपि गृहे स्थापयन्ति न तां पा-
 णिगृहीतीमिव सुखयन्तो लोके दृश्यन्ते । तस्मात्पाणिग्रहं

विहाय नान्यत्र सुखमस्तीति मत्वा कयापि कदापि पत्यु-
र्व्यभिचारो न कार्यः । यश्च गुणो न कदापि यतो निवर्त्तते
स तस्य सर्वैः स्वाभाविको मन्यते । स्त्रिया अपि पुरुषाश्रय-
त्वं न कदापि निवर्त्तते सा च स्वसम्बन्धिनं पित्रादिपुरुषं बा-
ल्यादिकालउपेक्षमाणा पुरुषान्तरमसंबद्धमाश्रयन्ती कुलद्व-
यमपि दुःखशोकान्वितं करोति । यदा पित्रादिगृहे स्त्री सदा
प्रहृष्टा, गृहकर्मणि चतुरा शुद्धिपरा शुद्धपाचिका नियत-
व्ययकरी च भवति तदा पित्रादीन् तोषयन्ती स्वयं च तुष्टा
सुखमाप्नोति । यस्य फलं सुखं स धर्मो धर्मस्यैव सुखं फ-
लम् । पित्राद्याश्रयेण तदाधीनतया स्थितिश्च सुखशान्ति-
हेतुकाऽतस्तादृशमाचरणं स्त्रिया धर्मएवास्ति । पतिव्रतात्वं
च स्त्रियाः सर्वात्कृष्टः सनातनो धर्मः । पत्यन्तरविधिश्च यदि
कथमपि शास्त्रेष्वयाति चेदपवादः सउत्सर्गनियमं न बा-
धते । सचापद्धर्मोऽप्रधानो गौणोऽयं च सनातनो धर्मः ।
या सनातनधर्मे स्थिता तदपेक्षया नियोगादिना पत्यन्तरम-
ङ्गीकुर्वती महाधमा वर्त्ततएव । पत्युर्विशीलत्वादिकमत्र नैव
विधीयतेऽपितु साध्व्या स्त्रिया विशीलादिरपि पतिर्नाना-
दरणीयः । याश्चानाद्रियन्ते ता लोकेपि निन्दिताः सत्यो
महद्दुःखमाप्नुवन्ति । अतः पतिव्रताधर्मएवान्यसर्वकृत्यापे-
क्षया स्त्रियाः प्रधानं कर्त्तव्यं सएव धर्मस्तस्मिन्सम्यगनुष्ठि-
ते यशः कीर्त्तिः सुखं च सर्वविधमाप्यते ॥१५६॥

भाषार्थः— (बाल्या वा युवत्या वा वृद्ध्या वापि योषिता) बालिका,
युवति और वृद्ध तीनों अवस्था में रहती हुई स्त्री को चाहिये कि (गृहेष्वपि
स्वातन्त्र्येण किञ्चित्कार्यं न कर्त्तव्यम्) घरों में भी स्वतन्त्रता से कुछ भी कार्य

न करे। अर्थात् घर सम्बन्धी प्रायः सब काम स्त्री की इच्छा और प्रबन्ध से होने चाहिये पर उन घर प्रबन्धों में भी पिता पति आदि की आज्ञा वा सस्मति को ही प्रधान रखे (वाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्) स्त्री बाल्यावस्था में पिता के आधीन (पाणिग्राहस्य यौवने) युवावस्था में पति के आधीन (प्रेते भर्त्तरि पुत्राणाम्) पति के न रहने पर वा संन्यासी आदि हो जाने पर पुत्रों के आधीन रहे किन्तु (स्त्रीस्वतन्त्रतां न भजेत्) स्त्री स्वतन्त्र न रहे स्वतन्त्र का सेवन करना कभी न चाहे। (पित्रा भर्त्रा सुतैर्वाप्यात्मनो विरहं नेच्छेत्) पिता पति और पुत्रों से अलग हो कर कभी रहने की इच्छा न करे। अर्थात् उन २ अवस्थाओं में पुत्री, भार्या तथा माता को अन्य पुरुष से जैसा पिता, पति और पुत्र बचाना चाहता है वैसा अन्य कोई बचाने की चेष्टा नहीं कर सकता अन्य तो फसाने की चेष्टा करे तो आश्चर्य नहीं! इसी कारण (एषां हि विरहेण स्त्री गह्यै कुर्यादुभे कुले) इन पिताआदि से अलग रहने पर स्त्री पिता और पति दोनों के कुलों को कलङ्कित कर देती है इस कारण उस २ अवस्था में पितादि के आधीन उनर की निगरानी में रहे। इन दूसरे तीसरे श्लोकों में पहिले ही श्लोक का व्याख्यान है (सदा प्रहृष्टया—भाव्यम्) स्त्री को सदा प्रसन्न रहना चाहिये [अर्थात् पति आदि धनादि पदार्थों को संचित कर २ न लाते न देते हों वा अधिक अच्छे २ वस्त्र आभूषण भोजन न मिलते हों तब भी वैसी ही प्रसन्न रहे जैसी कि धनादि के मिलने पर रहती हो (भार्यां च विभक्तये) धन के न रहने वा मिलने पर भी यदि स्त्री पूर्ववत् प्रीति करे प्रसन्न रहे तो जानो उस की परीक्षा हो गयी वह ठीक धर्मानुकूल स्त्री है नहीं तो धन की दासी होना सिद्ध है] (गृहकार्येषु दक्षया) घर के कामों में चतुर हो दिन लेनाआदि व्यवहार ठीक उचित चतुराई से करे (सुसंस्कृतोपस्करया) अच्छे शुद्ध वस्त्र वर्त्तन और घर के अन्य सब वस्तु को रखने शुद्धान्न पकाने वाली हो और (व्यये चासुक्तहस्तया) खर्च करने में हाथ को रोकने वाली हो समझ पूर्वक कम खर्च करे अधिक खरचीली स्त्री का घर उजड़ जाता और इसी से वह दुःख भोगा करती है (यस्मै त्वेनां पिता पितुरनुमते च भ्राता दद्यात्) जिस पुरुष को इस का पिता वा पिता की आज्ञा से भाई दान कर दे जिस के साथ विवाह कर देवे (तं जीवन्तं शुश्रूषेत) जब तक जीवित रहे उसी पति की सेवा शुश्रूषा करे अर्थात् उस की सेवा को विद्यमान दशा में कदापि न त्यागे उस से उदासीन होके वा अभिमान रखती हुई न रहे और (संस्थितं च न लङ्घयेत्) यदि पति मर जावे तो उस के पीछे भी उस का निरादर न करे अन्य किसी पुरुष को पति बनाने

का स्वप्न में भी संकल्प न करे [यद्यपि मर जाने वाला पीछे नहीं जानता कि मेरी स्त्री ने मेरा निरादर किया इसी से उस को दुःख होना भी नहीं कहा जायगा । पर विद्यमान अन्य साक्षी लोग अवश्य जानते हैं कि इसने अपने पति का निरादर किया पतिव्रता धर्म का पालन करती हुई ब्रह्मचारिणी तपस्विनी नहीं बनी इसी कारण ब्रह्मचारिणी रहने वाली विधवा की प्रतिष्ठा व्यभिचारिणी की अपेक्षा लोक में प्रसिद्ध ही अधिक है । और द्वितीय वह स्वयं जानती है कि मैंने अपने पति का निरादर रूप पाप किया है इसी कारण वह सब के सामने लज्जित संकुचित भयभीत रहती है इस दोनों प्रकार के जानकारिरूप संचित पाप का फल वही स्त्री भोगती है जिसने अपने मृत पति का अनादर किया है इस से इस लोक परलोक में सुख चाहने वाली स्त्री कदापि अपने पति से विरुद्ध न चले] (आसां विवाहेषु प्रजापतेर्यज्ञो मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं प्रयुज्यते) इन स्त्रियों के विवाहों में प्रजापति आदि देवताओं की संतुष्टि प्रसन्नता के उद्देश से होने वाला यज्ञ मङ्गल होने के लिये कि गृहाश्रम में सुख पूर्वक सम्यक् स्थिरता को स्त्री प्राप्त हो इत्यादि उद्देश के लिये वेदी पर होने वाला सप्त पदीपर्यन्त क्रिया का विधान है किन्तु यह इस की स्त्री और यह इस स्त्रीका पति-स्वामी-पुरुष है इस प्रकार के सम्बन्ध का नाम मुख्यकर विवाह है इस प्रकार के भाव सम्बन्धरूप विवाह का कारण सप्तपदी पर्यन्त होने वाला विधान नहीं है किन्तु (स्वाभ्यकारणं प्रदानम्) स्वस्वामी सम्बन्ध रूप विवाह संयोग का कारण केवल कन्यादान है । पिता वा उस की आज्ञा से भाई जिस को देवे अर्थात् अमुक गोत्र वा अमुक नाम वाली अमुक की पुत्री कन्या को अमुक गोत्री अमुक नामी अमुक के पुत्र पुरुष के लिये मैं देता हूँ इत्यादि प्रकार संकल्प करके दे देने मात्र से जो पति पत्नी भाव दोनों के सर्व देहांश में व्याप्त हो जाता है कि यह मेरा पति और यह मेरी स्त्री है इस का ही नाम विवाह है । इस से प्रतिज्ञा पूर्वक वाणी तथा हाथ से कन्या का दान कर देना ही स्वामी हो जाने का कारण है । उस दान के समय से लेकर कन्या के शरीर का रोम तक भी पति का ही सब हो जाता है सब का वही स्वामी हो जाता अपने शरीर के किसी भाग में भी स्त्री का भिन्न स्वत्व नहीं रहता तिस से उस पति की इच्छा से विरुद्ध वह स्त्री कुछ भी न करे (इहानृतावृतुकाले च परलोके च) इस वर्तमान जन्म में ऋतु समय हो वा ऋतु समय न हो और परलोक जन्मान्तर में (मन्त्रसंस्कारकृतपतिर्योषितो नित्यं सुखस्य दाता)

मन्त्रों द्वारा संस्कार करने अर्थात् मन्त्रों द्वारा पति पत्नी भाव के संस्कार वासनाओं को संचित करने वाला पति स्त्री के लिये सर्वदा सुख को देने वाला है (विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितःपतिः) खोटे स्वभाव वाला, कामी अथवा गुण हीन कुछ कर्त्तव्य वा सुधार न जानने वाला कैसा ही गया बीता अपना पति हो (साध्या स्त्रिया देववदुपचर्यः) सुशील सच्ची निर्दोष स्त्री उस पति की देवता वा ईश्वर के तुल्य ही सेवा पूजा करे उस को नीच समझ के निरादर करने से स्त्री का ही निरादर होगा । इस के आगे एक श्लोक किसी ने पीछे से मिलाया है उस का अर्थः—कन्यादान होने समय से लेकर जो स्त्री जीवन पर्यन्त पतिव्रता रहती है वह पति के दर्शन से अलग रह कर विधवादि दशा में दुःख नहीं भोगती जैसे कि अरुन्धती का पति से कभी वियोग नहीं होता । (स्त्रीणां पृथग्यज्ञो नास्ति न व्रतं नाप्युपोषितम्) स्त्रियों के लिये पुरुष-पति से अलग स्वतन्त्र रह कर कोई यज्ञ नहीं है न कोई व्रत नाम चान्द्रायणादि व्रत का नियम और न कोई उपवास है किन्तु (येन पतिं शुश्रूषते तेन स्वर्गं महीयते) पति की सेवा शुश्रूषा जिस भाव से जैसी करती है वैसे स्वर्ग सुख से वह पूजित संरक्षित होती है इस के आगे भी एक श्लोक पीछे से मिलाया है जिस का अर्थः—जो स्त्री अपने पति के जीवित विद्यमान रहते हुए भी व्रत वा उपवास करती है वह पति की अवस्था को क्षीण करती और नरक को प्राप्त होती है । (पतिलोकमभीप्सन्ती साध्वी स्त्री) पति के निकट रहना चाहती अर्थात् पति के बिना विधवा दशा में न रहना चाहती अथवा पुण्य बल से पति को जो लोक मिला उसी का निवास चाहती हुई (जीवतो वा मृतस्य वा पाणिग्राहस्य) जीवित वा मृत हुए पाणिगृहीता—अपना हाथ पकड़ने वाले पति का (किञ्चिदप्रियं नाचरेत्) कुछ भी अप्रिय आचरण न करे पति के प्रतिकूल किञ्चित् भी न चले किन्तु सर्वथा अनुकूल ही आचरण करे ॥

भा०—स्त्री का कर्त्तव्य—आचरण ही उस का धर्म है । उन स्त्रियों का पढ़ाना शिक्षादि करना पितादि पुरुष का धर्म है इस से वह स्त्री का धर्म नहीं है । जिस को जो ठीक अच्छा कर सकता वही उस को करना चाहिये और जो जिस को करना चाहिये वही उस का धर्म है यह सर्वत्र ही नियम जानो । और यहां इस प्रकरण में कहा यह स्त्रियों का धर्म वा कर्त्तव्य थोड़ासा ही नहीं है किन्तु जो २ पुरुष का धर्म वा कर्त्तव्य है वह सभी उस पुरुष की अङ्ग भूत स्त्री का भी कर्त्तव्य आजाता है क्योंकि (पुमान्—स्त्रिया) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार ब्राह्मण आदि पुरुष वाची शब्द के साथ ब्राह्मणी आदि

शब्द का एकशेष होने से स्त्री शक्ति का अप्रधानाङ्ग होना स्पष्ट ही सिद्ध है । जहां २ पुरुष वाची द्विज वा ब्राह्मणादि शब्द धर्म कर्माधिकार के लिये शास्त्रों में दीखते हैं वहां २ उन २ में ब्राह्मणी आदि शब्द भी अन्तर्गत ही हैं इस कारण धर्मशास्त्रों में कहा सभी कृत्य स्त्रियों के लिये भी आजाता है । इस से स्त्रियों का धर्म वा कर्तव्य अल्प नहीं है किन्तु पुरुषों के तुल्य उन के अनन्त सभी धर्म हैं जिस से सब का सेवन असंख्य जन्मों में भी नहीं हो सकता । पर यहां कहा स्त्रियों का कर्तव्य प्रधान, मुख्य वा विशेष धर्म है । प्रधान की प्राप्त्यर्थ किया उपाय अधिक उत्तम फल वाला होता उस प्रधान के कर लेने पर अप्रधान कृत्य उसी के अन्तर्गत आजाता है । इस से अपने इस प्रधान धर्म के सेवन कर लेने पर न सेवन किया भी अप्रधान सेवित ही हो जाता है । धर्म का फैलाव अनन्त है इस से कोई भी सब धर्म का सेवन नहीं कर सकता तिस से प्रधान का ही सेवन सब को कर्तव्य है । इस संसार में गौण-मुख्य, प्रधान-अप्रधान तथा स्व और स्वामी दो प्रकार में विभक्त सब कुछ दीखता है उस में जो गौण, अप्रधान तथा स्व—[मिलिक्यत] है वह स्त्री और जो मुख्य प्रधान स्वामी [मालिक] है वह पुरुष है । स्वाभाविक नियम से ही स्त्री अप्रधान और स्व [सिन्कियत] है अथवा जो स्वभाव से ही अप्रधान वा किसी का स्व है वह स्त्री है । जिस २ में जैसा २ स्वत्व वा अप्रधानता है उस २ में वैसा २ स्त्रीपन है । एवं च यदि स्त्री स्वतन्त्र होना चाहे तो स्वाभाविक नियम तोड़ने से ही उस स्त्री के लिये बड़ा डर है और प्राकृत नियम के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है तिस से स्त्री को पिता आदि के वश में ही रहना चाहिये । विदुर जी ने भी कहा है कि “ हे राजन् तीन ही अधन नाम उन का कोई पुरुष धन नहीं किन्तु वे स्वयं किसी का धन हैं उन में १-स्त्री, २-दास-सेवक शूद्र तथा ३-पुत्र ” एक ही पुरुष का सेवन स्त्री करे । गुणों से रहित होने पर भी एक पुरुष का सेवन करने में जो सुख होता वह वा वैसा बहुतों के सेवन में नहीं है तिस से उसके मर जाने पर भी अन्य पुरुष का सेवन न करे । मन्त्रों से संस्कार होने पूर्वक जिन स्त्री पुरुषों का विवाह होता वे परस्पर त्रियुक्त न हुए प्रायः एक दूसरे को सुख देने वाले होते और लोक में दीखते हैं । और जो भगालाने आदि प्रकार से किसी को स्त्री कर लेते-किसी को किसी प्रकार घर में डाल लेते हैं उस को विधिपूर्वक विवाहिता के समान सुख देते नहीं दीखते तिस से हाथ पकड़ने वाले पति को छोड़ कर अन्यत्र सुख नहीं आगे दुःख ही दुःख

है ऐसा मान के किसी स्त्री को कभी अपने पति से व्यभिचार वा विरोध नहीं करना चाहिये । जो गुण जिस से कभी अलग नहीं होता वह उस का स्वाभाविक माना जाता है स्त्री का भी पुरुष के आधीन रहना, साक्षात् वा परम्परागत पुरुष की सहायता के बिना निर्वाह न कर सकना स्वाभाविक गुण है वह कदापि निवृत्त नहीं होता । यदि वह स्त्री वास्यावस्थादि में अपने सम्बन्धी आश्रयभूत पिता आदि पुरुष की अपेक्षा [वेपरवाही] करने पर स्वभावानुसार असम्बन्धी किसी अन्य पुरुष का आश्रय करती है तो पिता और पति दोनों के कुल को दुःखित और शोकातुर करती है । जब पति घर में स्त्री सदा प्रसन्न घर के कामों में चतुर शुद्धि करने में तत्पर शुद्धान्न पकाने वाली और उचित वा नियमित खर्च करने वाली होती है तब उस कर्म से पतिआदि की सन्तुष्ट करती और स्वयं सन्तुष्ट हुई सुख पाती है । जिस कर्म का फल सुख है वही धर्म है और धर्म का ही फल सुख होता है । पिता आदि का सहारा लेकर उन के वशमें रहना सुख और शान्ति का हेतु है इस कारण वैसा आचरण स्त्री का धर्म ही है । पतिव्रता होना स्त्री का सनातन परमधर्म है । और अन्य पति करने का विधान यदि शास्त्रों में किसी प्रकार आता है तो वह अपवादरूप हुआ उत्सर्ग के नियम का बाधक नहीं है । वह नियोगादि आपद्धर्म गौण अप्रधान है और यह सनातन धर्म है । जो स्त्री सनातन धर्म पर स्थिर है उस की अपेक्षा नियोगादि द्वारा द्वितीय पति को स्वीकार करती हुई महा नीच ठहरती है । पति का विशीलादि होना यहां विहित नहीं है किन्तु अच्छी धर्मनिष्ठ निर्दोष स्त्री विशील निकृष्ट स्वभाव वाले पति का भी अनादर न करे और जो स्त्रियां पति का अनादर करती हैं वे लोक में भी निन्दित हुई बड़ा दुःख पाती हैं । इस से पतिव्रता धर्म ही अन्य सब कर्त्तव्य की अपेक्षा स्त्री का बड़ा कर्त्तव्य और वही मुख्य धर्म है उस की अपेक्षा अन्य सब धर्म छोटे हैं । उस के ठीक २ सेवन करने पर यश कीर्ति और सब प्रकार का सुख प्राप्त होता है ॥ १५६ ॥

कामंतुक्षपयेद्देहं शाकमूलफलैःशुभैः ।

नतुनामापिगृह्णीया-त्पत्यौप्रेतेपरस्यतु ॥

आसीतामरणात्क्षान्ता नियताब्रह्मचारिणी ।

यो धर्मश्चकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥
 अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
 दिवंगतानि विप्राणा-मकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥
 मृते भर्तारि साध्वीस्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।
 स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथाते ब्रह्मचारिणः ॥
 अपत्यलोभाद्वा तुस्त्री भर्तारमतिवर्तते ।
 सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥
 नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे ।
 न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तापदिश्यते १६२

अ०—पत्यौ प्रेते विधवा स्त्री देहं रसरक्तमांसादिरूपेणोपचितं नितम्बकुचादिरूपं कामासक्तिसम्बद्धं पापहेतुकं कामन्तु क्षपयेद्रसरुधिरादिवृद्धिहेतुतया कामोत्पादकं पयः शाल्योदनादिभोज्यं हित्वा शाकमूलफलैरल्पैर्भक्षितैरल्पाहारैरुपवासैर्वा शरीरं शोषयेदेतद्वरं किन्तु परस्यान्यपुरुषस्य पतित्वेन नामापि न गृह्णीयात् । एक एव पतिरासां तासां पतिव्रतानां यो धर्मस्ताभिः सर्वसुखहेतुर्यो गुणो धृतस्तमनुत्तमं धर्मं काङ्क्षन्ती-आमरणान्मरणावधि क्षान्ता कामोद्वेगं सहमाना नियता सर्वेन्द्रियाणि वशीकुर्वती ब्रह्मचारिण्यासीत् । नच नियोगादिना पत्यन्तरं कुर्वती कापि पतिव्रता सम्भवति । यथा विप्राणां कुमारब्रह्मचारिणामनेकानि सहस्राणि कुलसन्ततिमकृत्वा दिवं गतानि स्वर्ग-

माप्तानि तथा मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता साध्वी स्त्री-
 अपुत्रापि निर्वंशाऽपि स्वर्गं गच्छति । या स्त्री त्वपत्यलो-
 पान्नियोगादिना स्वकुक्षिजं पुत्रमिच्छन्ती मृतं भर्त्तारमति-
 वर्त्तते तमतिक्रम्य पुरुषान्तरेण सह संवसति । सेह लोके
 निन्दामवाप्नोति प्रत्यक्षमिदमनिष्टं, पतिलोकाच्च जन्मान्तरे
 हीयते नैव सा जन्मान्तरेऽपि पतिं लभते लब्ध्वा वा पति-
 हीना जायते । अन्येन पुरुषेण नियुक्तेनोत्पन्ना प्रजा नास्ति
 तत्कुलस्य सन्ततिः सा न भवति । नचाप्यन्यस्य भार्या-
 यामुत्पादिता प्रजोत्पादकस्य भवति यथा शणुसूत्रनिर्मि-
 तं वसनं न क्षुमायाः सम्भवति । अतएव साध्वीनामुत्तम-
 कोटिस्थयोषितां सनातनं धर्मं पालयन्तीनां न क्वापि धर्म-
 शास्त्रादिषु द्वितीयः पतिः कर्तुमुपदिश्यतेऽपितु मध्यमाना-
 मसाध्वीनां सनातनधर्मपालनाक्षमाणां स नियोगादिरूप-
 आपद्दुर्मउच्यते ॥

भा०-तपस्विनीनां विधवानामयमेव प्रधानो मुख्यो
 धर्मो यन्निःसत्त्वैरल्पाहारैरुपवासैर्व्रतैर्वा शरीरमपि शोषयेयुः
 किन्तु पत्यन्तराशां स्वप्नेऽपि न कुर्युः । अस्मिन्कृच्छ्रतमे
 व्रते यादृशं कष्टसहनाधिक्यं तादृशमेव भविष्यति विशिष्टं
 सुखम् । याश्चास्मिन् मरणावधिके व्रते ब्रह्मचर्ये स्थातुम-
 शक्तास्ताभिरापदि नियोगादिवक्ष्यमाणविधिना पत्यन्तरः
 स्वीकार्यः । भूणहत्यागर्भस्त्रावपण्ययोषिद्वृत्त्या जीवनापे-
 क्षया नियोगादिना पत्यन्तरस्वीकारोऽपि धर्म्यः साधुरेव
 सनातनधर्मापेक्षयानिन्दितश्च । अपुत्रस्य गतिर्नास्तीति के-

चन मन्यन्ते तच्च न सार्वदेशिकं कथनमिति मनुमतम् ।
यथा विशिष्टबलिनः सहायं नापेक्षन्त एवमुत्तमसनातन-
ब्रह्मचर्यादिप्रबलधर्मसेविनः पुत्रैर्विनापि स्वकर्मभिरेव स्व-
र्गसुखमाप्नुवन्ति । नच ते सन्तानाभावदुःखानलेन दह्यन्ते
तेषां तु सुगतिर्भवत्येव । येचाधमाः सन्तानाभावदुःखान-
लेन दन्दह्यमाना भृशं पीडिता यथाकथमपि जन्म व्यतीत्य
म्रियन्ते न तेषां सुगतिर्नच तेषां तादृशं सुकृतमस्ति । त-
स्मादपुत्रस्य गतिर्नास्तीति जनश्रुतिरेकदेशिनी स्पष्टा । नि-
योगादिना जायमानाः क्षेत्रजादयः पुत्राः सन्तानाभावका-
लेऽङ्गीकृता अपि वस्तुतस्तत्पुत्रा न भवन्ति—अर्थादौरसा-
पेक्षया तेषामपुत्रत्वं निःकृष्टत्वं चोचितमेव । निःसन्ताना-
पेक्षया च तेषां यथाकथमपि सन्तानत्वमस्त्येव । यथाऽ-
न्यक्षेत्रोत्पन्ने स्वस्य बीजमतो बीजद्वारेणान्यत्र क्षेत्रद्वारेण
सन्तानत्वं मन्तव्यम् ॥ १६२ ॥

भाषार्थः—(पत्यौ प्रेते) पति के मर जाने पर विधवा स्त्री (शुभैः शाकमू-
लफलैर्देहं कामन्तु क्षपयेत्) रस, रुधिर और मांसादि को बढ़ाने वाले होने से
कामोत्पादक दूध भात आदि उत्तम भोजन को छोड़ कर जो निषिद्ध तमोगुणी
वा कामोद्दीपक रजोगुणी न हों ऐसे सत्त्वगुणी शुद्ध शाक मूल और फलों के अ-
त्यल्प आहारों से वा कभी २ उपवासों से रस रुधिर वा मांसादि रूप से संचित
हुए—मुट्टाये नितम्ब तथा छाती=कुचादि रूप—कामासक्ति सम्बन्धी पाप के हेतु
शरीर के मोटापन को भले ही क्षीण कर दे—सुखा डाले [शरीर में मोटापन न रहेगा
छाती आदि का सब मांस सूख जावेगा हड्डी मात्र रह जायगा । तब उस को
कामभोग की इच्छा स्वयं न होगी और न कोई पुरुष उस को देख कर चाहेगा
अर्थात् कुचादि का मांस ही काम का कारण है । यद्यपि शरीर को दुःख दे २
कर सुखाना जिस को अपने भीतर से कोई नहीं चाहता वह अच्छा काम

नहीं है तथापि पर पुरुष से संयोग करना उस से भी अत्यन्त बुरा है । इस कारण शरीर सुखाना सापेक्ष अच्छा हुआ] (परस्य तु नामापि न गृह्णीयात्) विधवा स्त्री अपने मृत पति से भिन्न अन्य पुरुष का पति करने के उद्देश से कभी नाम भी न लेवे (यएकपत्नीनां धर्मस्तमनुत्तमं काङ्क्षन्ती) एक ही जिन का पति होता, अन्य पति का स्वप्न में भी जो ध्यान नहीं करती ऐसी पतिव्रता स्त्रियों का जो धर्म है उन्होंने ने सब सुखों के हेतु जिस उत्तमोत्तम गुण को धारण किया है उस पतिव्रताओं के सर्वोत्तम धर्म की काङ्क्षा करती हुई विधवा स्त्री (आमरणादक्षान्ता नियता ब्रह्मचारिण्यासीत्) मरण पर्यन्त काम भोग के वेग को सहती तथा इन्द्रियों को वशीभूत रखती हुई ब्रह्मचारिणी हो कर बैठी रहे तब वह तपस्विनी पूज्या देवी हो जायगी उस का उज्ज्वल धर्म उदित होगा । नियोगादि के नाम से किसी पुरुषान्तर से संयोग करने वाली स्त्री पतिव्रता कदापि नहीं हो सकती (विप्राणां कुमारब्रह्मचारिणामनेकानि सहस्राणि कुलसन्ततिमकृत्वा दिवं गतानि) वाल्यावस्था से कुमार ब्रह्मचारी अनेक सहस्रों ब्राह्मण सन्तानोत्पत्ति किये विना ही स्वर्ग सुख को प्राप्त हो गये (यथा ते ब्रह्मचारिणः) जैसे वे ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता लोग निर्वंश पुत्र हीन होने पर भी परमपद को प्राप्त हो गये वैसे ही (मृते भर्तारि ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिताऽपुत्रापि साध्वी स्त्री) पति के मर जाने पर पूर्ण ब्रह्मचारिणी रहती तप करती हुई सच्ची शुद्धा स्त्री पुत्रहीन निर्वंश होने पर भी (स्वर्गं गच्छति) परम पद स्वर्ग धाम को प्राप्त हो जाती है (यातु स्त्री-अपरयलोभाद् भर्तारमतिवर्त्तते) जो स्त्री पति के न रहने पर सन्तानोत्पत्ति के लोभ से नियोगादि द्वारा सन्तान चाहती हुई अपने पति का उल्लङ्घन कर अन्य पुरुष से संयोग करती है (सेह निन्दामवाप्नोति) वह इस जन्म में निन्दा को प्राप्त होती यह बड़ा प्रत्यक्ष अनिष्ट फल है और (पतिलोकाच्च हीयते) जन्मान्तर में पति को प्राप्त नहीं होती वा पति मिलता है तो रहता नहीं विधवा हो जाती है (इहान्योत्पन्ना प्रजा नास्ति) अन्य नियुक्तादि पुरुष से उत्पन्न हुई पुत्रादि प्रजा उस कुल की वा उस पुरुष की नहीं होती जिस की स्त्री में उत्पन्न हुई है और (नचाप्यन्यपरिग्रहे) और अपने वीर्य से अन्य की स्त्री में उत्पन्न किया पुत्र भी अपना पुत्र नहीं होता, [जैसे कि सन के सूत्रों से बना वस्त्र रेशमी नहीं हो सकता वैसे अन्य पुरुषके उपादान कारण वीर्यसे हुआ पुत्र स्त्रीवाले का कैसे होगा ?]

कदापि नहीं । इस कारण नियोगादि द्वारा सन्तानोत्पत्ति करना उत्तम पक्ष नहीं] इसी कारण (साध्वीनां क्वचिद्द्वितीयश्च भर्ता नोपदिश्यते) उत्तमको-
टिस्थ धर्मनिष्ठ सनातन धर्म का पालन करती हुई स्त्रियों के लिये कहीं धर्म-
शास्त्रादि में द्वितीय पति करने का उपदेश—आज्ञा नहीं है । किन्तु सनातन
धर्म का पालन करने में असमर्थ असाधु मध्यम कक्षा की स्त्रियों के लिये वह
नियोगादिरूप आपत्काल का धर्म कहा गया है ॥

भा०—तपस्विनी विधवा स्त्रियों का प्रधान वा मुख्य धर्म यही है कि कम
शक्ति वाले सूक्ष्म आहारों उपवासों वा व्रतों द्वारा शरीर को भी सुखादेवें कि-
न्तु दूसरे पुरुष से संयोग करने की इच्छा कभी स्वप्न में भी न करे । इस अत्यन्त
कठिन व्रत में जितना अधिक कष्ट सहने पड़ेगा वैसा ही भविष्यत् में अधिक
सुख होगा । जो विधवा स्त्रियां मनु जी की धर्मानुकूल आज्ञा का पालन करती
हुई मरण पर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत से ठहर सकती हैं उन के लिये नियोगादि नहीं है
और जो जन्मपर्यन्त इस ब्रह्मचर्यव्रत का पालन नहीं कर सकतीं उन को आ-
पत्काल में आगे कहे नियोगादि के प्रकार से अन्य पुरुष को पति कर लेना चा-
हिये । गर्भगिराने गर्भहत्या करने और वेश्यावृत्ति से जीविका करने की अपे-
क्षा नियोगादि के साथ अन्य पति का स्वीकार करलेना भी धर्मानुकूल अच्छा
ही है परन्तु सनातन धर्म की अपेक्षा आपद्गुर्भरूप नियोगादि निन्दित भी है ।
कोई लोग मानते हैं कि निर्धन्वी की अच्छी गति नहीं होती सो यह सर्वदेशी
वात नहीं है यह मनु जी का मत है । जैसे अधिक बलवान् लोग किसी स-
हायक की अपेक्षा नहीं रखते । इसी प्रकार उत्तम सनातन ब्रह्मचर्यादि प्रबल
धर्म का सेवन करने वाले पुत्रों के विना भी अपने कर्मों से ही स्वर्ग सुख को
प्राप्त होते हैं किन्तु उन लोगों का हृदय सन्तान के अभावरूप दुःखाग्नि से दग्ध
नहीं होता । उन की तो सुगति होती ही है । और जो सन्तान के न होने-
रूप दुःखाग्नि से जलने वाले अत्यन्त पीड़ित नीच कक्षा के मनुष्य जिस किसी
प्रकार जन्म बिताकर मरते हैं उन का न वैसा सुकृत पुण्य होता और न उन
की अच्छी गति होती है । तिस से अपुत्र की गति नहीं होती यह जनश्रुति-
स्पष्ट ही एकदेशी है नियोगादि से होने वाले क्षेत्रज आदि सन्तान, औरस निज
पुत्र के न होने पर स्वीकार वा प्राप्त किये भी वास्तव में उस के पुत्र नहीं
होते अर्थात् औरस पुत्र की अपेक्षा उन को अपुत्र कहना वा नीच मानना
उचित ही है । और सन्तानों के सर्षथा न होने की अपेक्षा तो कुछ २ पुत्रत्व

होता ही है । परन्तु औरस सन्तान वाले से भी निस्सन्तान तपस्वी पूर्ण ब्रह्म-
चारी जन्मान्तर में अधिक सुख स्वर्ग पाता है और सन्तानों वाला होने पर
भी अच्छा तपस्वी विरक्त हो तो पूर्ण ब्रह्मचारी से नीचे औरस सन्तान वाले
सामान्य से ऊपर रहेगा । अन्य के खेतरूप स्त्री में उत्पन्न हुए में अपना बीज
होने से और अपनी स्त्री में अन्य से उत्पन्न हुए में खेत के द्वारा सन्तानपन
आता है वह व्यभिचार वा वेश्या कर्म से अति अच्छा है ॥ १६२ ॥

पतिं हित्वा पकृष्टं स्व-मुत्कृष्टं यानि षेवते ।

निन्द्यैव सा भवेत्लोकं परं पूर्वेति चोच्यते ॥

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।

शृगालयोनिं प्राप्नोति पाप रोगैश्च पीडयते ॥

पतियानाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।

सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥

अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ।

इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।

दाहयेद्ग्नित्त्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि ।

पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥

अनेन विधिनानित्यं पञ्चयज्ञान्नहापयेत् ।

द्वितीयमायुषोभागं कृतदारोगृहे वसेत् ॥ १६६ ॥

इति श्रीमानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां

शौचविधिः पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अ०—अपकृष्टं रूपगुणादिहीनं स्वं पतिं हित्वोत्कृष्टमन्यं पुरुषं पतित्वेन या निषेवते सा लोके निन्द्यैव भवति नतु प्रशस्या परपूर्वैति निन्दितनाम्ना चोच्यते लोकैः । भर्तुर्व्यभिचाराल्लोके स्त्री निन्द्यत्वं प्राप्नोति शृगालयोनिं चाप्नोति जन्मान्तरे । तत्रात्रच पापयोगैः कुष्ठादिभिश्च पीड्यते । या च मनोवाग्देहसंयता सती पतिं नाभिचरति सा भर्तृलोकं सम्यक्पोषकपालकसुखदसामीप्यं प्राप्ना सद्भिः साध्वीतिपदेनोच्यते । अनेन वृत्तेन सह वर्तमाना मनोवाग्देहसंयता नारी—इहलोकेऽद्यां कीर्त्तिं परत्र च पतिलोकं स्वर्गमाप्नोति । एवंवृत्तां पूर्वमारिणीं सवर्णां स्त्रीं धर्मविद्वद्विजातिरग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च सह दाहयेत् । पूर्वमारिण्यै भार्याया अन्त्यकर्मण्यग्नीन्दत्वा पुनर्दारक्रियां पुनर्विवाहं पुनराधानमावसध्याधानमेव च कुर्यात् । एवमायुषो द्वितीयभागावधि कृतदारो गृहे वसन्ननेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् न त्यजेत् ॥

भा०—यदादौ केनापि विशिष्टसमारोहपुरस्सरं बहून्सज्जनान्परीक्षकान्विदुषो लौकिकांश्च प्राज्ञान् साक्षिणः कृत्वा प्रतिज्ञायतइदमित्थमेव करिष्यामीति तस्य परिवर्त्तने परित्यागे चात्यन्तं पापं न्यायसिद्धमेव । विवाहकाले च स्त्रीपुंसाभ्यां मनुष्याएव साक्षिणो नैव क्रियन्तेऽपितु सर्वाध्यक्षः सत्यः सनातनः सर्वनियन्तेश्वरोऽपि ताभ्यां स्वप्रतिज्ञायां मध्यस्थः क्रियते तस्या विघाते मध्यस्थः कुप्यति तद्गयान्न

कयापि पतिरनादरणीयः । यदि निरपराधां भार्यां पुरुषो ज-
ह्यात्वलेशयेद्वा तदा सोऽपि तथैव पापः । स्त्री च पराधीना
सती सापराधमपि न जह्यादपितु सेवेत । नच पुरुषेऽपरा-
धिनि भार्या पापिनी भवति । तस्माद्द्वामया सदैव पत्युरनुव्र-
तया भाव्यम् । यदि पतिव्रता स्त्री सर्वथा पतिमेव भजमाना
पूर्वं म्रियेत तदा स गृही जनोऽग्निहोत्रपात्रादिभिः सहैव तां
दग्ध्वा पुनर्दारक्रियामन्यया कन्यया पुनर्विवाहं पुनर्गार्हप-
त्याधानं च कुर्यात् । तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या
सहोदितः । इति नवमे वक्ष्यति तेन यो वैदिकं धर्ममनु-
तिष्ठासुस्सएव पुनर्विवाहं कुर्यान्नतु सर्वः । यश्चाग्निहोत्रा-
दिकं भार्यया सह नियमेन न करोति तस्यैकोऽपि विवाहो
नैव धर्महेतुरपितु धर्मबाधकएव तदा कुतस्तस्य द्वि-
तीयः परिणयः । यश्च केवलेन ब्रह्मयज्ञेन सह तपोऽनुतिष्ठति
वैराग्ये चाधिकृतस्तेनापि पुनर्विवाहो न कार्योऽपितु स
तपोवनमाश्रयेत् । वानप्रस्थो वा स्यात् ॥ १६९ ॥

भाषार्थः—(या स्वमपकृष्टं पतिं हिस्वीकृष्टं निषेवते) जो स्त्री रूप वा
धनादि रहित अपने विवाहित निकृष्ट पति को छोड़ के अन्य रूपवान् धनवान्
आदि का सेवन करती—वैसे को पति बनाती है । (सा लोके निन्द्यैव भवेत्)
वह लोक में निन्दा के योग्य ही होती किन्तु उस की प्रशंसा कोई नहीं करता
(परपूर्वतिचोच्यते) अन्य २ पुरुष से संयोग करने वाली परपूर्वा इस निन्दित नाम
से कही जाती है (भर्तुर्व्यभिचारात्) स्त्री लोके निन्द्यतां प्राप्नोति) पति का अपमान
और त्याग कर अन्य पुरुष से व्यभिचार करने वाली स्त्री लोक में निन्दा को
प्राप्त होती तथा जन्मान्तर में (शृगालयोनिं प्राप्नोति) श्यार की योनि में जन्म
लेती अथवा मनुष्यादि योनि में (पापरोगैश्च पीड्यते) कुष्ठादि असाध्य पाप
के फल रूप रोगों से पीडित होती है (या मनोवाग्देहसंयता पतिं नाभिचरति)

जो मन वाणी और अपने शरीरस्य इन्द्रियों को सुरक्षित वशीभूत निश्चल बुराई से अलग रखती हुई अपने पति से भिन्न पुरुष की कदापि चाहना नहीं करती पति से विरोध व्यभिचार नहीं करती (सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते) वह सम्यक् पालन पोषण करने सुख देने वाले पुरुष के समीप पतिव्रता होकर रहती हुई श्रेष्ठ पुरुषों से साध्वी कहाती है (अनेन वृत्तेन मनोघाग्देहसंयता नारी) इस उक्त वर्त्ताव के सहित वर्त्तमान, मन वाणी और इन्द्रियों को वश रखती हुई नारी (इहाग्र्यां कीर्त्तिमाप्नोति) इस लोक वा आगेजन्म में उत्तम निर्मलकीर्त्ति को पाती (परत्र च पतिलोकम्) और जन्मान्तर में पति के उत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त होती है (एवंवृत्तां पूर्वमारिणीं सवर्णाम् स्त्रीम्) ऐसे वर्त्ताव वाली स्वर्ण की पहिले मरी हुई स्त्री को (धर्मविदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च दाहयेत्) धर्मज्ञ पति अग्निहोत्र और यज्ञपात्रों के सहित जला देवे (पूर्वमारिण्यै भार्यायाअन्त्यकर्मण) अपने से पहिले मरी स्त्री को अन्त्येष्टि कर्म में (अग्नीम् दत्त्वा) आहवनीयादि तीनों अग्नि देकर (पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च) फिर विवाह करे और फिर से विवाहाग्नि का विधिपूर्वक आधान कर अग्निहोत्र लेवे (अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान् दाहयेत्) इस उक्त प्रकार से वर्त्ताव करता हुआ पुरुष पञ्चमहायज्ञों का नित्य ही त्याग न करे किन्तु सेवन करे और इस उक्त रीति से (द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्) आयु के द्वितीय भाग नाम २५-५० वर्ष तक में विवाह कर स्त्री के समीप घर में रहे ॥

भा०—कोई पुरुष प्रथम आरम्भ में ही जिस कर्त्तव्य की दृढ़ प्रतिज्ञा विशेष समारोह पूर्वक बहुत सज्जन परीक्षक विद्वानों तथा लौकिक घुम्तिमानों को साक्षी करके करता है कि मैं इस काम को ऐसा ही करूंगा । उस के लौटने वा छोड़ देने में अत्यन्त पाप न्यायसिद्ध ही है । इसी के अनुसार विवाह समय में स्त्री पुरुष केवल मनुष्यों को ही साक्षी नहीं बनाते किन्तु वे दोनों सत्य सनातन सर्व नियन्ता सर्वाध्यक्ष ईश्वर को भी अपनी प्रतिज्ञा में मध्यस्थ करते ही हैं उस प्रतिज्ञा के तोड़ देने पर मध्यस्थ साक्षी ईश्वर भी उन पर क्रोध करता है । इसी ईश्वरीय क्रोध के भय से किसी स्त्री को पति का अनादर कभी नहीं करना चाहिये । यदि निरपराध स्त्री को पुरुष छोड़ दे वा दुःख देवे तो वह भी वैसा ही पापी होता है । पर स्वभाव से पराधीन रहने वाली स्त्री

अपराधी पति को भी न त्यागे किन्तु उस की सेवा ही करे । क्योंकि पुरुष के अपराधी होने पर स्त्री पापिनी नहीं होती इसी से व्यभिचारी वा चोरादि की स्त्री वैसी न होने पर व्यभिचारिणी आदि नहीं कहाती । इस से स्त्री को सदैव पति की अनुगामिनी अनुकूल वर्त्ताव करने वाली होना चाहिये । यदि पतिव्रता स्त्री सर्वथा पति का ही सेवन करती हुई पति से पहिले मर जावे तो अग्निहोत्र के पात्रादि सहित ही उसकी दाहक्रिया करके अन्य कन्या के साथ पुनर्विवाह करे और फिर से अभ्याधान करे । साधारण गृहाश्रम सम्बन्धी धर्म वेद में पत्नी के साथ मिल के करना कहा है यह आगे नवमाध्याय में कहेंगे । तिस से जो वेदीक्त अग्निहोत्रादि श्रौतकर्म नियम से विधिपूर्वक करना चाहे वही पुनर्विवाह करे सब कोई नहीं । जो पुरुष स्त्री के साथ विधिपूर्वक नियम से अग्निहोत्रादि नहीं करता उस का एक भी विवाह धर्म का हेतु नहीं है किन्तु धर्म का बाधक ही है तब उस का द्वितीय विवाह धर्मानुकूल कैसे हो सकता है ? जो पुरुष केवल ब्रह्मयज्ञ के साथ तप करता और चाहता है वैराग्य की ओर जिस की झुकावट है उस को भी पुनर्विवाह नहीं करना चाहिये किन्तु वह तपोवन का आश्रय करे वा वानप्रस्थ होजावे ॥ १६९ ॥

इति श्री भीमसेनशर्मनिर्मिते मानवधर्ममीमांसाभाष्ये

पञ्चमोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥

अथ षष्ठाध्यायारम्भः ॥

एवंगृहाश्रमेस्थित्वा विधिवत्स्नातकोद्विजः
वनेवसेत्तुनियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥

[अतःपरंप्रवक्ष्यामि धर्मवैखानसाश्रमम् ।

वन्यमूलफलानांच विधिग्रहणमोक्षणे ॥ १ ॥

गृहस्थस्तु यदापश्येद् बलीपलितमात्मनः ।

अपत्यस्यैवचापत्यं तदारण्यंसमाश्रयेत् ॥

संत्यज्यग्रास्यमाहारं सर्वंचैवपरिच्छदम् ।

पुत्रेषुभार्यानिःक्षिप्य वनंगच्छेत्सहैववा ॥

अग्निहोत्रंसमादाय गृह्यंचाग्निपरिच्छदम् ।

ग्रामादरण्यनिःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥

मन्यन्त्रैर्विविधैर्मैर्धैः शाकमूलफलेनवा ।

एतानेवमहायज्ञा-न्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥

वसीतचर्मचीरंवा सायंस्नायात्प्रगेतथा ।

जटाशुचिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानिच ॥

यद्भक्ष्यंस्यात्ततोदद्याद् बलिंभिक्षांचशक्तितः

अस्मूलफलभिक्षाभि-र्चयेदाश्रमागतान् ॥

स्वाध्यायेनित्ययुक्तःस्या-द्दान्तोमैत्रःसमाहितः

दातानित्यमनादाता सवेभूतानुकम्पकः ॥
 वैतानिकञ्च जुहुया-दग्निहोत्रं यथाविधि ।
 दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासंचयोगतः ॥
 ऋक्षेष्ट्याग्रयणंचैव चातुर्मास्यानिचाहरेत् ।
 तुरायणंचक्रमशो दाक्षस्यायनमेवच ॥
 वासन्तशारदैर्मेध्यै-र्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
 पुरोडाशांश्चरुंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥
 देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरंहविः ।
 शेषमात्मनियुञ्जीत लवणंच स्वयंकृतम् ॥१२॥

अ०-स्नातको द्विज एवं विधिवद्गृहाश्रमे स्थित्वा
 यथावद्विजितानीन्द्रियाणि येन तादृशः सन् तपःस्वाध्या-
 यकर्मणि नियतो निरतो वने वसेत् । अत्रैकं पद्यं पाश्चात्यं
 क्षिप्रमस्ति । गृहस्थस्तु यदात्मनः स्वस्य बलीपलितं श्वेत-
 केशानपत्यस्यैव चापत्यमुत्पन्नं पश्येत्तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ।
 ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव ग्राम्यं परिच्छदं सुखसम्भारं संत्यज्य
 पुत्रेषु भार्यां च निःक्षिप्य सहैव वा वनं गच्छेत् । अग्नि-
 होत्रं गृह्यमग्निपरिच्छदं च समादाय ग्रामादरण्यं निःसृत्य
 नियतेन्द्रियो निवसेत् । विविधैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः शाकमूलफलेन
 वैतानुक्तानेवान्नसाध्यान् महायज्ञान् विधिपूर्वकं निर्वपेत् ।
 स तपस्वी वने च निवसन् तृणावल्कलादिजन्यं चर्मणो वा
 चीरं वस्त्रं कौपीनादिकार्यं वसीत । सायं प्रातः स्नायात् ।

श्मश्रुलोमनखानि च जटाश्च नित्यं विभूयात् । स्वसन्निधौ
यद्भक्ष्यं स्यात्ततएव बलिं भिक्षां च शक्तितो दद्यात् । स्वा-
श्रममागतानम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेत् । मैत्रीपरः समाहि-
तइन्द्रियाणि दमयन्स्वाध्याये वेदाध्ययनजपादिकर्मणि नि-
त्ययुक्तः सर्वभूतानुकम्पको नित्यं दाताऽन्यस्मादनादाता च
स्यात् । दर्शं पौर्णमासं च पर्वास्कन्दयन् योगतः स्वकाले
न परित्यजन् वैतानिकं श्रौतमग्निहोत्रं यथाविधि जुहुया-
त् । ऋक्षेष्टिन्नाग्रयणेष्टि, चातुर्मासेष्टि, तुरायणेष्टि-संवत्स-
रेण जायमाना, दाक्षायणेष्टि, एता इष्टीः क्रमशो निर्वपेत् ।
वासन्तैः शारदैश्च मेध्यैर्मुन्न्यन्नैः पुरोडाशांश्चरुंश्चैव पृथक्
निर्वपेत् । तद्वन्यं मेध्यतरं हविर्देवताभ्यो हुत्वा शेषमव-
शिष्टं स्वयं कृतं लवणं चात्मनि युञ्जीत-भुञ्जीत ॥

भा०-अस्मिन्नध्याये द्वाविंशतितमपद्यावधि वानप्र-
स्थधर्मा उच्यन्तेऽनन्तरं च संन्यासिनाम् । सामान्यतया
पञ्चाशद्वर्षायुष्ये पूर्णं वानप्रस्थेन भाव्यमिति विधीयते ।
विशेषतस्तु पुत्राः सुरक्षिताः सुशिक्षिताश्च गृहप्रबन्धक्षमा-
उपार्जनादिक्षमाश्च पौत्रोत्पत्तिकाले प्रायेण भवन्ति । भार्या
च शिथिला गतयौवना स्वस्य मनसो विषयेषु परितोषश्चे-
त्याद्यानुकूल्यं यदा स्यात्तदैव वानप्रस्थेन भाव्यमिति स-
मयविकल्पाशयः । वन्यापेक्षया ग्राम्यं सर्वमपवित्रं सङ्ग-
दोषाद्विषयवासनीदुबोधकं च तस्मादेव ग्राम्यं कार्पासादि-
वासोऽपि त्याज्यमेव । शृङ्गारत्यागाय तपस्विवेषेण स्थित्यै
च जटादीनां धारणम् । यथा गृहस्थेनातिथ्यादीनां सत्कारः
स्वसन्निहितभोज्यपेयादिना क्रियते तथैव मूलफलोदकादिना

वनस्थोऽप्यागतान् सत्कुर्यादेव । वसन्ते शरदि च कालद्वय
एव सर्वाओषधयो ग्राम्या वन्या वा प्रायेण पच्यन्ते स्व-
भावतस्तज्जन्यचरुपुरोडाशादिनैव दर्शपौर्णमासादिकं स-
र्वमेव श्रौतं कर्म गृहस्थवदेव कुर्वीत । घृतादिहव्याभावं
मन्वानो नैव तज्जह्यात् । यत ओषधयन्नादेव भक्षिताद्
दुग्धादिद्वारेण घृतादिकमुत्पद्यते तच्चौषध्यादिकारणे का-
रणरूपेण शुद्धं विद्यतएव । तथा च न तस्याभावः ॥१२॥

भाषार्थः—(स्नातको द्विजः) स्नातक ब्राह्मणादि (एवंविधिवद्गृहाश्रमे
स्थित्वा) इस उक्त प्रकार गृहस्थ के धर्मों का ठीक २ पालन करता हुआ गृ-
हाश्रम में रह कर (यथावद्विजितेन्द्रियो नियतो वने वसेत्) यथावत् जीती हैं
इन्द्रियां जिमने ऐसा हुआ तप और स्वाध्याय कर्म में तत्पर हुआ वन में वसे
इसी के आगे एक श्लोक पीछे का मिलाया है उस का अर्थः—“इस से आगे वै-
खानस ऋषि के कहे तृतीय वानप्रस्थाश्रम के धर्म को और वन के मूल फलों का
ग्रहण वा त्याग करने सम्बन्धी विधान को मैं [भृगु] कहता हूँ” (गृहस्थस्तु य-
दात्मनो बलीपलितमपत्यस्यैव चापत्यं पश्येत्) गृहस्थ पुरुष जब अपनी त्ववा
में वृद्धावस्था की सिमटन, वालों का श्वेत हो जाना अथवा पुत्र का भी पुत्र
हो गया देखे (तदारण्यं समाश्रयेत्) तब वन में रहना स्वीकार करे (ग्राम्यमाहारं
सर्वं चैव परिच्छदं संत्यज्य) ग्राम वा नगर के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए सब आ-
हार और सुख भोग के ग्राम सम्बन्धी सब साधनों को सम्यक् त्याग के (भार्यां
पुत्रेषु निःक्षिप्य) स्त्री को पुत्रों के समीप सोंप कर (सहैव वा) अथवा स्त्री भी
तप करने की इच्छा और शक्ति वा ठीक साहस रखती ही तो स्त्री को साथ ले-
कर ही (वनं गच्छेत्) वन को जावे (अग्निहोत्रं गृह्यं चाग्निपरिच्छदं समा-
दायं) गृहाश्रम में जैसा अग्निहोत्र होता रहा उस को तथा सब यज्ञपात्रादिको
साथ ले कर (ग्रामादरण्यं निःसृत्य) ग्राम से निकल कर वन में (नियतेन्द्रियो
निवसेत्) इन्द्रियों को वशीभूत रखता हुआ वसे (मेधैर्विविधैर्मुन्न्यन्नैः शाक-
मूलफलेन वा) अति पवित्र नानाप्रकार के मुन्न्यन्नों और शाकमूल फलोंरूप सा-
स्यो से (एतानेव महायज्ञान् विधिपूर्वकं निर्वपेत्) इन्हीं पूर्वोक्त अन्नसाध्य
अग्निहोत्रादि महायज्ञों को विधिपूर्वक किया करे अर्थात् अग्निहोत्र में जहां

घृत की आहुति दी जाती हो वहां भी मुन्यन्नादि की आहुति देना अनुचित नहीं है (चर्मवीरं वा वसीत) चर्म का वस्त्र बना के ओढ़े वा वृक्षों की वक्कल अथवा किसी तृणका वस्त्र बना के पहने (सायं तथा प्रगे स्नायात्) सायं प्रातः काल नित्य स्नान करे (जटाश्च श्मश्रुतोमनखानि च नित्यं त्रिभृयात्) शिर के बाल और डाढ़ी मेंछ तथा हाथ पांव के नखों को काटना कटवाना बन्द कर देवे सब बाल और नख रखा लेवे (यद्भक्ष्यं स्यात्ततो भिक्षां बलिं च शक्तितो दद्यात्) जो कुछ खाने का पदार्थ अपने पास हो उसी में से वैश्वदेव करे और शक्ति के अनुसार ब्रह्मचारी आदि को भिक्षा भी देवे, (अमूलफलभिक्षाभिराश्रमागतानर्घयेत्) फल मूत्र वा केवल जल सम्बन्धी भिक्षा से ही अपनी कुटी वा आश्रम पर आये हुआओं का सरकार करे (दान्तो मैत्रः समाहितः) इन्द्रियों को बश में रखता और किसी से लेशमात्र भी द्वेष न करता हुआ किन्तु मित्रबुद्धि से सब का भला चाहता हुआ (स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्) विधिपूर्वक नियमानुकूल वेदाध्ययन वा जपादि करने में नित्य ही तत्पर रहे (दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः) सब प्राणियों पर हृदय से रूपादृष्टि रखता हुआ नित्य ही दानशील कुछ न कुछ पदार्थ अन्यो को देने वाला तथा अन्यो से कुछ भी लेने की चेष्टा न करता हुआ निर्वाह करे इसी दशा में रहने को स्वीकार वा प्रसन्न करे (पौर्णमासं दर्शं च पर्व योगत आस्कन्दयन्) दर्श और पौर्णमास पर्वों में होम वा इष्टि करने के समय को न त्यागता हुआ (वैतानिकमग्निहोत्रं यथाविधि जुहुयात्) श्रौत अग्निहोत्र को भी ब्राह्मणग्रन्थों में जैसा विधान किया है वैसा ही किया करे (ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्) नक्षत्रेष्टि जो कृत्तिकादि नक्षत्रों में विधान कियीं हैं । आग्रयण नाम नवसस्येष्टि, चातुर्मासेष्टि (तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च) तुरायण नाम संवत्सरेष्टि, और दाक्षायणेष्टि इन सब श्रौत इष्टियों को वानप्रस्थ पुरुष नीवारादि नामक धान्य के पुरोडाशादि बना कर किया करे (वासन्तशारदैर्मेधैः स्वयमाहृतैर्मुन्यन्नैः) वसन्त ऋतु चैत्र वैशाख और शरदू ऋतु बवार कातिक में उत्पन्न होने वाले स्वयं वीन बटोर के लाये हुए मुन्यन्नों से (पुरोडाशांश्चकृच्चैव विधिवत्पृथङ्निर्वपेत्) चरु और पुरोडाशों की विधिवत् पृथक् २ बनावे (तन्मेधयतरं वन्यं हविर्देवताभ्यो हुत्वा) उस अति पवित्र वन में उत्पन्न हुए हविष्यान्न का देवताओं के लिये होम करके (शेषमात्मनि युञ्जीत) यज्ञ से शेष बचे की स्वयं खावे (लवणं च स्वयं कृतम्) और वृक्षादि के खार वा मट्टी से स्वयं बनाया लवण खावे ॥

भा०—इस बड़े अध्याय में प्रथम ३२ श्लोकों पर्यन्त वानप्रस्थ के धर्म कहते हैं तदनन्तर संन्यासियों के धर्म कहे हैं । सामान्य कर पचाश वर्ष की अवस्था पूर्ण हो जाने पर मनुष्य को गृहस्थ से वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करना चाहिये और विशेष विचार यह है कि पुत्र सुरक्षित सुशिक्षित और घर का प्रबन्ध करने, कमाने योग्य-पौत्र नाम उन पुत्रों के पुत्र होते समय होते हैं । अपनी स्त्री शिथिल यौवनावस्था से आगे बढ़ हो जाय और अपना भी विषयों से सन्तोष हो जाय भोग की तृष्णा न रहे इत्यादि उचित अनुकूलता जब दीख पड़े तभी मनुष्य को वानप्रस्थाश्रम धारण करना चाहिये यही समय के विकल्प दिखाने का आशय है । वन के पदार्थों की अपेक्षा ग्राम का सभी वस्तु अपवित्र और सङ्ग दोष से विषय वासना का भी उद्बोधक है इसी से ग्राम के सूती वस्त्रादि भी त्याज्य ही हैं । शृङ्गार छोड़ने और तपस्वी के वेष से वन में रहने के लिये उस को जटा केशादि सब रखा लेने चाहिये । जैसे गृहस्थ अपने समीपस्थ भोजन पानादि द्वारा अतिथि आदि आये गये का सत्कार करता है वैसे ही मूल फल तथा जलादि द्वारा वनस्थ भी आये हुएों का सत्कार अवश्य करे । वसन्त और शरद् ऋतु में ही ग्राम वा वन की प्रायः सभी ओषधियां स्वभाव से ही पकती हैं उन्हीं से हुए चरु पुरी-डाशादि द्वारा दर्श पौर्णमासादि सब श्रौत कर्म को गृहस्थ के तुल्य ही करे किन्तु घृतादि हविष्य का अभाव मानता हुआ श्रौत कर्म को न छोड़े क्योंकि उस खाये हुए ओषधि वा अन्न से ही दुग्धादि के द्वारा घृतादि उत्पन्न होता है सो वहां ओषधि आदि कारण द्रव्य में कारणरूप से शुद्ध घृतादि विद्यमान ही है । इस दशा में वानप्रस्थ की स्तुति के लिये श्रौत कर्म को व्यर्थ कहने वाले कुल्लू-कादि का कथन चिन्तनीय है ॥ १२ ॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानिच ।

मेध्यवृक्षोद्भवानद्यात्स्नेहांश्चफलसम्भवान्॥

वर्जयेन्मधुमांसंच भौमानिकवकानिच ।

भूस्तृणांशिग्रुकंचैव श्लेष्मातकफलानिच ॥

त्यजेदाश्वयुजेमासि मुन्यन्नपूर्वसंचितम् ।

जीर्णानिचैववासांसि शाकमूलफलानिच ॥
 नफालकृष्टमश्नीया--दुत्सृष्टमपिकेनचित् ।
 नग्रामजातान्यार्त्ताऽपि मूलानिचफलानिच ॥
 अग्निपक्वाणोवास्या-त्कालपक्वभुगेववा ।
 अप्रसकुट्टोभवेद्वापि दन्तोलूखलिकोपिवा ॥
 सद्यःप्रक्षालकोवास्या-न्माससंचयिकोऽपिवा ।
 षण्मासनिचयोवास्या-त्समानिचयएववा ॥
 नक्तंचान्नंसमश्नीया-द्विवावाहृत्यशक्तिः ।
 चतुर्थकालिकोवास्या-त्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ।
 चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लेकृष्णेचवर्त्तयेत् ।
 पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीया-द्यवागूंकथितांसकृत् ॥
 [यतःपत्रंसमादद्या-न्नततःपुष्पमाहरेत् ।
 यतःपुष्पंसमादद्या-न्नततःफलमाहरेत् ॥]
 पुष्पमूलफलैर्वापि कैवलैर्वर्त्तयेत्सदा ।
 कालपक्वैःस्वयंशीणै-र्वैखानसमतेस्थितः ॥२१॥

अ०-स्थलजानि वास्तुकादीनि,अग्निदकानि मोचकादीनि
 पुष्पमूलफलानि च मेध्यवृक्षोद्भवान्फलसम्भवान्स्नेहांश्चा-
 द्यात् । मधु माक्षिकं मांसं,भौमानि कवकानि च, भूस्तृणं शिशुकं
 श्लेष्मातकफलानि च वर्जयेत् । पूर्वतः संचितमाश्रयुजे मासि
 सर्वमन्नं जीर्णानि वासांसि शाकमूलफलानि च त्यजेत् । केन-

चिदुत्सृष्टं त्यक्तमपि फालकृष्टं कर्षणानन्तरमुत्पन्नमन्नं
ग्रामजातानि मूलानि च फलानि चार्त्ताऽपि नाशनीयात् ।
अग्निपक्वाशनः कालपक्वभुगेव वा स्यादश्मनि कुहितस्य
भक्षणपरो दन्तोलूखलिकोऽपि वा स्यात् । सद्य आनीय प्रक्षाल्य
प्रत्यहं भुञ्जीतमासपरिमितकालाय संचयिकः, षण्मासनि-
चयो वा समानिचयएव वा स्यात् । नक्तं दिवा वा श-
क्तित आहृत्यान्नं समशनीयात् । चतुर्थकालिको वा स्या-
दष्टमकालिको वापि स्यात् । चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्ले
कृष्णौ च पक्षे भोजनं कुर्यात् । क्वथितां यवागूं पक्षान्तयो-
र्वापि सकृदशनीयात् । अत्रैवैकं पद्यं पश्चात्क्षिप्तमुपलभ्यते ।
कालपक्वैः स्वयंशीर्णैः कैवलैः पुष्पमूलफलैर्वापि वैखानस-
मते स्थितः सदा वर्त्तयेत् ॥

भा०—अत्र वानप्रस्थेन यादृशं भक्ष्यं भुक्त्वा निर्वाहः कार्यो
येन भक्ष्येण धर्मा वर्धेत तथा भक्षणनियमो रक्षणीयइति
शास्त्राशयोऽवगतव्यः । उत्पत्तितएव पवित्रस्थानस्य भोजनेन
बुद्धिरपि शुद्धा धर्मानुकूला भवति । मधुमांसादीनि हिंसादि-
दोषदुष्टानि फालकृष्टोत्पन्नमन्नं हिंसादोषदुष्टमफालकृष्टो-
त्पन्नं तु ग्राम्याशुद्धिसम्बद्धं च । अग्निपक्वादयो विकल्पास्तु
शक्तिभेदप्रदर्शनार्थाः संचयतारतम्यं रागवैराग्यभेदार्थम् ।
यश्चान्नं कुतोऽपि निर्दोषस्थानात्सद्यएवानीय भुङ्क्ते पु-
ष्पमूलफलानि वा पक्वानि केवलानि भुङ्क्ते संचयं च न
साधु मन्यते स वशीकृतेन्द्रियग्राम उत्तमो वानप्रस्थः ॥२१॥

भावार्थः—(स्थलजौदकशाकानि) वधुआ आदि स्थल में उत्पन्न हुए तथा नाड़ी
आदि जल में उत्पन्न होने वाले शाक और (मेध्यवृक्षोद्भवानि) पुष्पमूल फ-

लानिच पवित्र सस्वगुणी वृक्षों से उत्पन्न हुए पुष्प मूल और फलों को तथा (फलसम्भवान्स्नेहांश्चाद्यात्) नारियल आदि फलों से निकलने वाली घृतादि चिकनाई को खावे [किन्तु पशु के दुग्ध से निकले घृत को न खावे क्योंकि पशु की निर्बलतादि दुःख देता हुआ दुग्ध तथा घृत प्रकट होता है पर अन्नादि रूप फल में पकने और वृक्ष से अलग होने पर जीव वा जीवन नहीं ठहरता । इसी से वहां हिंसादोष नहीं है] (मधु मांसं च भौसानि कर्षकानि च) शहद, मांस, पृथिवी में वर्षा ऋतु के समय उगने वाले कठफूल (भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च) भूस्तृण नामक शाक, शिग्रुक—सहजना और लसोढ़ा का फल इन सब का खाना वानप्रस्थ (वर्जयेत्) छोड़ देवे (पूर्वसंचितं मुन्यन्नम्) पहिले का संचित जोड़ के धरा मुन्यन्न (जीर्णानि वासांसि चैव) फटे पुराने बल्कलादि के वस्त्र (शाकमूलफलानि च) औरसंचित धरे हुए शाकमूल फलादि जो सूखे होने आदि कारण से कई महिनों तक ठहर सकते हैं उन सब को (आश्वयुजे मासि त्यजेत्) आश्विन महिने में त्याग देवे क्योंकि वर्षा ऋतु में प्रायः सभी पदार्थ विकारी हो जाते हैं उन को खाने से बुद्धि में भी तमोगुणादि पैदा होकर धर्म कर्म की बाधा होगी (केनचिदुत्सृष्टमपि फालकृष्टं नाशनीयात्) किसी मनुष्य ने छोड़ दिया हो जो कहीं एकान्तादि में निरर्थक पड़ा भी हो जैसे हल से जोत २ कर बोये गेहूँ जो आदि अन्न को वानप्रस्थ कदापि न खावे (ग्रामजातानि मूलानि च फलानि चार्त्तंऽपि नाशनीयात्) तथा ग्राम में हल जोते बिना भी उत्पन्न हुए मूल फलादि को भूखों सरता हुआ भी वानप्रस्थ न खावे (अग्निपक्वाशनो वा स्यात् कालपक्वभुगेव वा) वानप्रस्थ नित्य अग्नि से पका कर खाने वाला हो वा समय पाकर पके अन्न को अग्नि में पकाये बिना ही खाने वाला हो (अशमकुटो भवेद्वाऽपि दन्तोलूखलिकोऽपि वा) शिलवटना वा उखली मूसल से फूट पीस वा दरदरा कर खाने वाला हो अथवा केवल दांतों से ही कच्चे अन्न को चबा २ कर खावे शिलवटना आदि का कुछ काम न रखे [यदि दांतों में ठीक शक्ति न हो तो शिल आदि पर कुचल पीस कर खावे और दांत बने हों तो शिल आदि पर पीसने की अपेक्षा दांतों से ही चबाना उत्तम है] (सद्यःप्रक्षालको वा स्यात्) तत्काल खा लेने योग्य ही अन्न नित्य २ लाकर खाने वाला हो जोड़ कर न रखे (माससंचयिकोऽपि वा) अथवा महिने भर खाने के लिये संचय कर लेने वाला हो (षण्मासनिचयो वा स्यात्) वा छः महिने

के लिये जोड़ कर रखने वाला हो (सप्तानिचय एव वा) और अथवा एक वर्ष तक के लिये संचय करने वाला हो । [इन चार पक्षों में कम २ संचय करने वाला अच्छा माना जायगा । सो यदि नित्य २ कहीं से मुन्यन्न वा शाक मूल फलादि तत्काल मिलसकें तो यही पक्ष उत्तम है और ऐसा नहीं सकने पर यथा सम्भव छोटे २ संचय वाले पक्ष अच्छे रहेंगे] (नक्तं चान्नं समश्नीयात्) एक वार रात को अन्न खाया करे (शक्तितो दिवा वाहृत्य) वा शक्ति के अनुसार दिन को कहीं से लाकर एक वार खाया करे (चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वा-प्यष्टमकालिकः) अथवा दिन के चौथे पहर में एक वार खाने वाला हो और अथवा आठवें पहर में थोड़ी रात रहे एक वार खाने का अभ्यास डाले (चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्ले कृष्णे च वर्त्तयेत्) अथवा शुक्लपक्ष की प्रतिपदादि तिथि को पन्द्रह ग्रासों में से एक २ ग्रास घटाता जाय और कृष्णपक्ष में प्रतिपदा को एक द्वितीया को दो इत्यादि प्रकार एक २ ग्रास बढ़ाता जाय इसी प्रकार सदा वर्षों तक भोजन किया करे (क्वथितां यवागूं पक्षान्तयोर्वापि सकृदश्नीयात्) अथवा पकाये हुए यवागू जौ के शीरा को असावास्या और पौर्णमासी दो ही दिन खाया करे [अर्थात् धीरे-२ करके जब ऐसी सहन शीलता हो जाय तब सहिने भर में दो वार और एक वर्ष में चौबीस वार भोजन करता हुआ तप करे । जब इस से भी आगे शक्ति बढ़े तो केवल अब्भक्षी वा केवल वायुभक्षी निराहार हो जावे] इसी के आगे एक श्लोक पीछे मिलाया कहीं २ लिखा मिलता है—जिस वृक्ष के पत्तों से काम निकाले उसी से पुष्प न तोड़े और जिस से पुष्प लेवे उस से फल न लेवे (केवलैः कालपक्कैः स्वयंशीरैः पुष्पमूलफलैर्वा सदा वर्त्तयेत्) अथवा सब मुन्यन्नों का भी खाना छोड़ केवल अपने २ ऋतु समय में पके वृक्ष से स्वयं गिरे पुष्प मूल और फलों को खाकर ही निर्वाह करे यह वैखानस ऋषि का मत है अर्थात् वैखानस भी कोई बड़े तपस्वी वानप्रस्थ महात्मा इस पुराय भूमि पर कभी सुशोभित हो चुके हैं ॥

भा०—इस प्रकरण में—वानप्रस्थ को जैसा वा जितना वा जब २ भोजन खा कर निर्वाह करना चाहिये कि जिस भक्ष्य वस्तु के सेवन से धर्म बढ़े वैसा खाने का नियम रखे यह शास्त्र का संक्षिप्त आशय जानो । उत्पत्ति नाम जड़ से ही जो अन्न पवित्र है उस के भोजन से बुद्धि भी शुद्ध धर्मानुकूल होती है ।

मधु और मांसादि पदार्थ हिंसादि करके मिलने से दूषित और हल जीत कर उत्पन्न हुआ अन्न भी हिंसारूप दोष से दूषित है और हल जीते विना ग्राम के समीप में उत्पन्न हुआ हो तो सङ्ग दोष से ग्राम की अशुद्धि उस में अवश्य लगेगी अग्नि में पकाये वा विना पकाये आदि खाने के विकल्प केवल शक्ति भेद दिखाने के लिये हैं । यदि अग्नि में पकाये विना अन्न को पचा सकता है तो पकाने से न पकाना उत्तम है और न्यूनाधिक संचय के भेद वैराग्य की न्यूनाधिकता दिखाने वा अन्न मिलने की भिन्न २ दशाओं के लिये हैं अर्थात् जहां एक वर्ष में एक ही वार अन्न उत्पन्न होता है वहां एक वर्ष के लिये संचय करके रखलेवे परन्तु जो तपस्वी किसी निर्दोष स्थान से तत्काल नित्य २ लाकर अन्न खाता जोड़ के नहीं रखता अथवा समय पर पके स्वयं गिरे केवल पुष्प मूल फलों को ही खाता और जोड़ना भी अच्छा नहीं मानता वह जितेन्द्रिय तपस्वी वानप्रस्थ अर्थों की अपेक्षा उत्तम है ॥२१॥

भूमौविपरिवर्तत तिष्ठेद्वाप्रपदैर्दिनम् ।

स्थानासनाभ्यांविहरे--त्सवनेषूपयन्नपः ॥

ग्रीष्मेपञ्चतपास्तुस्या--द्वर्षास्वभावकाशिकः ।

आर्द्रवासास्तुहेमन्ते--क्रमशोवर्द्धयंस्तपः ॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्चतर्पयेत् ।

तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥

अग्नीनात्मनिर्वैताना--न्समारोप्यथयाविधि।

अनग्निरनिकेतःस्या--न्मुनिर्मूलफलाशनः ॥

अप्रयत्नःसुखार्थेषु ब्रह्मचारीधराशयः ।

शरणोष्वसमश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥

तापसेष्वेवविप्रेषु यात्रिकंभैक्षमाहरेत् ।
 गृहमेधिषुचान्येषु द्विजेषुवनवासिषु ॥
 ग्रामादाहृत्यवाशनीया-दष्टौग्रासान्वनेवसन् ।
 प्रतिगृह्यपुटेनैव पाणिनाशकलेनवा ॥
 एताश्चान्याश्चसेवेत दीक्षाविप्रोवनेवसन् ।
 विविधाश्चौपनिषदी--रात्मसंसिद्धयेश्रुतीः ॥
 ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेवसेविताः ।
 विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्थचशुद्धये ॥
 अपराजितांवास्थाय ब्रजेद्विशमजिह्मगः ।
 आनिपाताच्छरीरस्थ युक्तोवार्यनिलाशनः ॥
 आसांमहर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमयातनुम् ।
 वीतशोकभयोविप्रो ब्रह्मलोकेमहीयते ॥३२॥

अ०-पूर्णादिवसे सायमवधि भूमौ विपरिवर्त्तत न ति-
 ष्ठेन्नापि संविशेत् । यद्वा प्रपदैः पादाग्रभागैः सन्ध्यापर्यन्तं
 तिष्ठेदेव । यद्वा सवनेषु कालत्रयेऽपउपयन् त्रिःस्नानं कुर्वन्
 स्थानासनाभ्यां विहरेन्मध्येऽगच्छेत्तिष्ठेदासीत च । ग्रीष्मे च-
 तुर्दिक्ष्वग्निं प्रज्वाल्योपरिष्ठात्सूर्याग्निं सहमान आसीत ।
 वर्षास्वभावकाशिकः स्यात्-न क्वाप्याच्छादिते कुट्यादिस-
 द्नन्यासीत वर्षणकालादन्यत्र कुट्यादिस्थितौ कामचारः ।
 हेमन्ततौ तु वासांस्याद्राणि कार्याणि सर्वं चैतत्क्रमेण का-

र्यम् । प्रातर्मध्याह्ने सायाह्ने च त्रिवारं स्नानं कुर्वन् पितॄन्
 देवांश्च तर्पयेत् स्नानशुद्ध्या देवाइन्द्रियादयः पितरो मनश्चा-
 दयश्च तृप्यन्ति । एवमुग्रतरं तपश्चरन्नात्मनः स्वस्य देहं
 स्थूलत्वं शोषयेत् । अस्मिन्नेवाश्रमे धर्मानुष्ठानकांष्ठां प्राप्त-
 श्रेयथाविधि मन्त्रपुरस्सरं वैतानान् श्रौतानग्नीन्गार्हप-
 त्यादिनामकानात्मनि समारोप्यानग्निस्त्यक्ताग्निसाधनो-
 ऽनिकेतो गृहेष्ववसन् यथाप्राप्तमूलफलाद्यशनो मुनिः कृ-
 त्वाक्संधमः स्यात् । सुखार्थेषु सुखसाधनेष्वप्रयत्नो धराश-
 यो ब्रह्मचारी शरणेषु वृक्षमूलादिष्वप्यममो वृक्षमूलेषु कृतनि-
 वासश्च स्यात् । तापसेषु विप्रेषु वनवासिष्वन्येषु गृहमेधिषु
 गृहस्थेषु द्विजेषु यात्रिकं प्राणयात्रासिद्धिप्रयोजनायैव भैक्ष-
 माहरेत् । यद्वा वने वसन्नष्टौ ग्रासान् ग्रामात्पुटेनैव पर्ण-
 निर्मितेन,केवलेन पाणिना, शकलेन कर्परखण्डेन वाऽह-
 त्याश्रीयात् । वने वसन् विप्रगताश्चान्याश्च दीक्षाः सेवेत ।
 आत्मसंसिद्धये विद्यातपोविवृध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ऋषि-
 भिर्राह्यणैर्गृहस्थैरेव सेविता विविधा अपनिषदीः श्रुतीः
 सेवेत । अपराजितां वा दिशमास्थाय योगयुक्तो वार्य-
 निलाशनः सन् शरीरस्यानिपातादजिह्व गोत्रजेत् । आसां
 महर्षिचर्याणां मध्ये कयापि रीत्या तनुं त्यक्त्वा विप्रो वी-
 तशोकभयः सन् ब्रह्मलोके ब्रह्मैव लोको लोक्यस्तस्मिन् म-
 हीयते पूजां प्रसादं नैर्मल्यं चाप्नोति ॥

भा०—भूमौ विपरिवर्त्तनं प्रपदैः स्थितिर्ग्रीष्मे पञ्चाग्नि-
 तापादिकं च सर्वं तपः क्रमेणैव वर्धनीयम् । यदा च तपो-

ऽनुष्ठानरूपो वानप्रस्थधर्मः काष्ठां गच्छति तदा श्रौताग्नी-
नात्मनि समारोपणादि कर्त्तव्यम् । अस्मिन् पक्षे संन्या-
साश्रममन्तरेणास्मिन्नेवाश्रमे कृतकृत्यः सर्वदुःखेभ्यो मुक्तो
जायते संन्यासाश्रमस्य नास्ति तदा नामतो विशिष्टं प्रयो-
जनमर्थतस्तु यदाऽऽत्मन्यग्नयः समारोप्यन्ते, शरणेष्वम-
मत्वं वृक्षमूलनिकेतनत्वं च जायते तदाऽस्त्येव संन्यासा-
श्रमः । अतएव प्रकृष्टवैराग्येण विना नास्ति दुःखेभ्यः क-
स्यापि मोक्षस्तस्मान्नाम्ना संन्यासं कुर्यादिति नास्ति वि-
शिष्टमपेक्षितम् । यदा च तपस्तपस्यन् तपसः परां काष्ठां
न गच्छति तदा प्रसिद्धेन प्रतिज्ञातेन च वैराग्येण संन्यास-
धारणं वक्ष्यमाणरीत्या कार्यम् ॥ ३२ ॥

भावार्थः—(दिनं भूमौ विपरिवर्त्तितं प्रपदैर्वा तिष्ठेत्) उग्रतप के द्वारा अ-
पनी शुद्धि करता हुआ वानप्रस्थ दिन भर इधर उधर कुटी के सब ओर डोला
करे न बैठे और न लेटे अथवा एक स्थान में मौन होकर पगों की अङ्गुलियों
के सहारे दिन भर खड़ा रहे (सवनेष्वप उपयन्स्थानासनाभ्यां विहरेत्) वा प्रातः
मध्याह्न और सायंकाल में तीन वार स्नान करता हुआ अपने स्थान और आ-
सन पर कभी बीच २ चले खड़ा रहे वा बैठे और सब दशा में मन तथा वाणी
को शुभ कृत्य में लगावे (ग्रीष्मे तु पञ्चतपाः स्यात्) ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि
तपने वाला ही अर्थात् चारों दिशा में अग्नि जलाकर बैठे और ऊपर सूर्य का
प्रबल धूप हो (वर्षास्वभावकाशिकः) वर्षा ऋतु में खुले में रहने वाला ही
किन्तु किसी छये पटे घर में निवास न करे परन्तु वर्षा न होते समय चाहे
तो छये में भी बैठ सकता है । (आर्द्रवासास्तु हेमन्ते) और हेमन्त-अगहन
पौष महिनों में जल में भिगोये गीले वस्त्र पहिने (क्रमशो वर्धयंस्तपः) परन्तु
यह सब तप क्रम से बढ़ावे अर्थात् पहिले चतुर्थांश वा आधा दिन घूमते हुए
वा खड़े हुए काटे और आगे २ बढ़ावे तथा पहिले २ घड़ी २ दो २ घड़ी प-
ञ्चाग्नि तपे और धीरे २ क्रम से बढ़ावे तभी कर सकेगा एक साथ ऐसा कर स-
कना दुस्तर है (त्रिषवणमुपस्पृशन् पितृन्देवांश्च तर्पयेत्) प्रातः सायं और मध्याह्न

में तीनवार स्नान करता हुआ स्वशरीरस्य इन्द्रियादिस्य अग्न्यादि देवों और मन आदि पितरों को तृप्त संतुष्ट प्रसन्न करे इस प्रकार (उग्रतरं तपश्चरन्नात्मनो देहं शोषयेत्) उग्रतर तप करता हुआ अपने शरीरस्य मांस रुधिरादि की स्थूलता को सुखा देवे । यदि इसी आश्रम में धर्मानुष्ठान की काष्ठा-हृद् तक पहुँच जावे तो (यथाविधि वैतानानग्नीनात्मनि समारोप्य) मन्त्रपूर्वक श्रौत-गार्हपत्यादि तीनों अग्नियों को अपने भीतर आरोपण कर के (अग्निरतिकेतः) प्रसिद्धाग्नि के सेवन से रहित और किसी कुटी आदि छाये पाटे छत्रिम घर का निवास छोड़ कर (मूलफलांशनो मुनिः स्यात्) मूल वा फल आदि जो प्राप्त हो जाय उसे खाने वाला मौन हो कर विचरे (सुखार्थेष्वप्रयत्नः) सुख भोग के लिये विषयों के संचय में प्रयत्न वा परिश्रम न करने वाला (धराशयो ब्रह्मचारी) पृथिवी पर सोने वाला हो ब्रह्मचर्याश्रम के नियम और चिह्न धारण करे (शरणेषु चैवाममो वृक्षमूलनिकेतनः) वृक्ष की जड़ों को अपना निवास स्थान रखता वा मानता हुआ पर उन में किसी वृक्ष के नीचे अपनी ममता न जमावे जिस में अन्य कोई आसन कर ले तो दुःखित होने पड़े किन्तु सामान्य वृक्षों में कहीं बैठ लेट रहूँगा जब जहाँ बैठा लेटे तब उतने ही काल को उसे भी अपना स्थान माने (तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्) अपने निर्वाहमात्र थोड़ी सी भिक्षा तपस्वी ब्राह्मणों से मांग लिया करे किन्तु पेट भर खाने की चेष्टा कदापि न करे (वनवासिषु-गृहमेधिष्वन्येषु द्विजेषु च) अथवा भिक्षा मांगने को तपस्वी ब्राह्मण न मिलें तो अन्य वनवासी गृहस्थ मध्यम ब्राह्मणों के घरों से भी प्रयोजनमात्र भिक्षा मांग कर ले आना अच्छा है (वा वने वसन् ग्रामादष्टौ ग्रासानाहृत्याशनी यात्) अथवा वन में कोई भी भिक्षा देने वाला न मिले तो वन में रहता हुआ ही वानप्रस्थ ग्राम से आठ ग्रास लाकर एक वार खा लेवे अर्थात् यही आठ ग्रास प्रयोजनमात्र भिक्षा है (प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा) वह भिक्षा किसी पत्तों के दोना वा पत्तल वा खाली हाथों अथवा खपर में लाया करे (वने वसन् विप्र एताश्चान्याश्च दीक्षाः) वन में वसता हुआ ब्राह्मण इन पूर्वोक्त तथा अन्य उत्तम २ नियमों दीक्षाओं तथा (ऋषिभिर्गृहस्थैरेव च ब्राह्मणैरात्मसंसिद्धये विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये सेविताः) ऋषियों नाम वनस्थ तपस्वी ब्राह्मणों ने वा मध्यम गृहस्थ ब्राह्मणों ने अपनी सम्यक् सिद्धि के लिये विद्या, तप की वृद्धि और शरीर की शुद्धि के लिये सेवन कियीं । (विविधाश्चोपनिषदीः श्रुतीः सेवित) विविध प्रकार की उपनिषद् पुस्तकों में कहीं [परीक्ष्यलो-

कान् कर्मचितान्० इत्यादि] श्रुतियों का सेवन करे (वा युक्तो वार्यनिलाशनः) अथवा योग-समाधि के अभ्यास से ठीक सावधान हुआ जल वायु का ही भोजन करता हुआ (अपराजितां दिशमास्थाय शरीरस्थानिपाताद्जिह्मगी ब्रजेत्) ईशान दिशा की ओर मुख करके शरीर के गिर जाने छूट जाने समय तक सीधा चलाजावे न कहीं बैठे न कुछ खावे न किसी अन्य दिशा को देखे (आसां महर्षिचर्याणामन्यतमया तनुं त्यक्त्वा) इन महर्षियों तपस्त्रियों के आचरणों में से किसी एक रीति से शरीर छोड़ कर (वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते) शोक और भय से रहित हुआ ब्राह्मण जानने योग्य ब्रह्म के सम्बन्ध से होने वाली शुद्धि प्रसन्नतादि द्वारा पूजित होता है ॥

भा०—भूमि पर डोलना, पग की अंगुलियों के सहारे दिन भर खड़े रहना और ग्रीष्म में पञ्चाग्नि तपना आदि सब तप क्रम से ही बढ़ाना चाहिये । और जब तपोनुष्ठान रूप वानप्रस्थ का धर्म असीम दशा को पहुंच जावे तब औताग्नियों का अपने में आरोपणादि करना चाहिये । इस पक्ष में संन्यासाश्रम किये बिना इसी वानप्रस्थाश्रम में सब दुःखों से मुक्त हुआ कृतकृत्य ही जाता है । तब संन्यासाश्रम का नाम और चिह्न धारण करने का विशिष्ट प्रयोजन नहीं है । परन्तु जब अपने में अग्नियों का समारोपण करता बैठने के स्थानादि में भी ममता का त्याग और वृक्षों के नीचे निवास करना होता है तब संन्यास का अर्थ वा आशय तो विद्यमान ही है । इसी से उत्तम वैराग्य हुए बिना दुःखों से कोई नहीं मुक्त होता यह ठीक ही है इसी लिये नाममात्र संन्यास धारण करने की आवश्यकता नहीं है और जब वानप्रस्थ पुरुष तप करता हुआ तप की परा काष्ठा तक नहीं पहुंचता तब उस को प्रसिद्ध और प्रतिज्ञापूर्वक वैराग्य के साथ आगे कहे अनुसार विधिपूर्वक संन्यासाश्रम का धारण करना चाहिये ॥ ३२ ॥

वनेषुचविहृत्यैवं तृतीयंभागमायुषः ।

चतुर्थमायुषोभागं त्यक्त्वासङ्गान्परिव्रजेत् ॥

आश्रमादाश्रमंगत्वा हुतहोमोजितेन्द्रियः ।

भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्यवर्धते ॥

ऋणानित्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षेनिवेशयेत् ।
 अनपाकृत्यमोक्षन्तु सेवमानोव्रजत्यधः ॥
 अधीत्यविधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्यधर्मतः ।
 इष्ट्वाचशक्तितोयज्ञै-र्मनोमोक्षेनिवेशयेत् ॥
 अनधीत्यद्विजोवेदा-ननुत्पाद्यतथासुतान् ।
 अनिष्ट्वाचैवयज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥
 प्राजापत्यांनिरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
 आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्
 योदत्वासर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयंगृहात् ।
 तस्यतेजोमयालोका भवन्तिब्रह्मवादिनः ॥
 यस्मादणवपिभूतानां द्विजान्नोत्पद्यतेभयम् ।
 तस्यदेहाद्विमुक्तस्य भयं नास्तिकुतश्चन ॥
 आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितोमुनिः ।
 समुपोढेषुकामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

अ०-एवमुक्तप्रकारेण तृतीयमायुषो भागं ततः कि-
 मपि न्यूनं वा तपस्तप्स्यन् वनेषु विहृत्य वन्यवस्तुभिः सह
 विहारं कृत्वाऽऽयुषश्चतुर्थभागे सर्ववस्तुसङ्गंस्त्यक्त्वा परि-
 सर्वस्मात्पृथग्व्रजेत् । ब्रह्मचर्याद्गृहाश्रमं गच्छेदेवमाश्रमादा-
 श्रमं क्रमशो गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियो भिक्षाबलिपरिश्रान्तो
 भिक्षादानबलिदानादिकर्मणो बहुकालावधि यथाविध्यनु-

ष्ठानेन सर्वतः श्रान्तो यः परिव्रजति स प्रेत्य वर्धते । ऋषिदेवपितृपदार्थानां संबद्धमृणात्रयं निर्यात्य मोक्षे मनो निवेशयेत् । ऋणान्यनपाकृत्य मोक्षं सेवमानस्त्वधो व्रजति । अतएव विधिवद्वेदाध्ययनेनर्षि-ऋणां, विधिवद्वज्ञैरिष्टा देवर्णां, विधिवद्वधर्मतः पुत्रानुत्पाद्य च पितृणामपाकृत्य मोक्षे मनो निवेशयेत् । अतो विरुद्धं वेदाध्ययनाद्यकृत्वा मोक्षमिच्छन् प्रायेणाधो व्रजति । सर्वं वेदो धनं दक्षिणा यस्यां सा तां प्रजापतिदेवताकामिष्टिं निरूप्य-यातेऽग्नेयज्ञियातनूरिति मन्त्रेण गार्हपत्याद्यग्नीनात्मनि समारोप्य ब्राह्मणो गृहात्कुटीतोवा प्रव्रजेत् प्रकर्षेण त्यक्त्वा गच्छेन्न पुनरावर्त्तत । ब्राह्मणकथनात्क्षत्रियादीनां प्रव्रज्याधिकारी नास्ति ज्ञानोत्कर्षे कस्याप्यधिकारश्चेत्तस्य लौकिकं क्षत्रियादित्वमस्तु परमार्थतस्तु स ब्राह्मणः । यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वा कमपि दुःखितमकृत्वा गृहाद्गृहाश्रमाद्वनाद्वा प्रव्रजति तस्य ब्रह्मवादिनस्तेजोमयाः सत्त्वगुणमया लोकाः प्राप्ता भवन्ति यत्र रजस्तमोजन्यं दुःखं न तेनाप्यते । स्वजीवनकाले यस्माद् द्विजादणवपि भयं दुःखं कस्यापि न जायते तस्य कुतोऽपि क्वापि कदापि किमपि दुःखं भयं वा नास्ति । तस्मात्पुत्रकलत्रादीन् भयभीतान् दुःखितानसमर्थान् कृत्वाऽकरमान् न केनापि प्रव्रजितव्यम् । समर्थेषु शिक्षितेषु च सुतेषु प्रसिद्धिपुरस्सरं प्रव्रजने तेषां यत्किंचिद् भयं दुःखं वा नतदल्पत्वाद्व्यपक्षे गणयितुमुचितम् । एवं जपतपस्त्रादिभिः समन्वितश्रागारान्मुनिमैत्री सद्भिनिष्क्रान्तः समुपोदेषु संचितेषु

गृहाश्रमस्थेषु कुटीसम्बद्धेषु वा भोगेषु निरपेक्षः सन् परिव्रजेत् ॥

भा०—अत्र प्रव्रज्याप्रकारः सम्यक्त्वेनोक्तः । ऋणापाकरणं मनस एकाश्रयादुत्थापनं शोधनं वा । यथा चाशुद्धे वाससि न कोऽपि रागो व्याप्नोति यथा वा क्वापि धृतः पादस्तत उत्थापनमन्तरेणाग्रे निधापयितुमशक्यस्तथा मनोऽपि मोक्षे निवेशयितुमशक्यः । तस्मान्मुमुक्षोः पूर्वमृणनिर्यातनं परमावश्यकम् । प्राजापत्येष्टिनिरूपणं प्रसिद्धदृढप्रतिज्ञानेन सह सर्ववस्तुषु ममत्वनिरासार्थम् । यः कस्मात्प्रपि भयं दुःखं वा दत्त्वा प्रव्रजति स यदा स्मरति मयाऽऽसौ दुःखीकृतस्तदा तेन परितप्यमानः पीड्यते न च शर्म लभते नच मोक्षसाधनानि तदानुष्ठातुमुत्सहतेऽपितूभयतो भ्रष्टो जायते । गृहागारादिपदस्यासकृत्प्रयोगाद्दानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमादपि प्रव्रज्यानानुचिता । एवं च कोऽपि ब्रह्मचर्यादपि संन्यासमर्हति । तत्र सर्वत्रैवान्याश्रमाणांमर्थो न लुप्यते यथा कोऽपि गृहे तिष्ठन्नेव संन्यासमिच्छन्गृहाश्रमभोगेभ्यः प्रायेण विरक्तस्तपसि रमते सएव गृहाश्रमात्संन्यस्यति नतु सर्वः तस्य च गृहाश्रमएवान्त्यकालेऽर्थतो वानप्रस्थाश्रमो जायते, अतो भोगानामपेक्षात्यागएव प्रधानः संन्यासो नतु स्थूलभोगानां देशभेदेन त्यागः संन्यासपदवाच्यः केनापि विपश्चिता कदापि स्वीक्रियते ॥ ४१ ॥

भाषार्थः—(एवं तृतीयसायुषो भागं वनेषु च विहृत्य) इस उक्त प्रकार आयु के तृतीय भाग में वनों वा शून्य स्थानादि में विहार वा खेल करके (आयुष्यतुर्थे भागं संगान् त्यक्त्वा परिव्रजेत्) आयु के चौथे भाग में सब पदार्थों

वा प्राणियों के सब प्रकार के सङ्गों को छोड़ कर संन्यासी हो जावे (हुतहीमो जितेन्द्रियः) होमादि जिस ने किये ऐसा जितेन्द्रिय हुआ (आश्रमादाश्रमं गत्वा) ब्रह्मचर्य से गृहस्थ गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यास ऐसे आश्रम से आश्रम-ठाहर से ठाहर में-पड़ाव से पड़ाव में पहुंच कर (भिक्षा-बलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेय वर्धते) गृहाश्रम में भिक्षा देते २ और बहुत अधिककाल तक वैश्व देवादि करते २ यका हुआ जो संन्यास लेता है वह जन्मान्तर में अवश्य बढ़ता अधिक २ सुखी होता है (त्रीणि ऋणान्यपाकृत्य मोक्षे मनो निवेशयेत्) ऋषि ऋण, देवऋण और पितृ ऋण इन तीनों ऋणों को चुकाकर मोक्ष में मन को लगावे (अनपाकृत्य तु मोक्षं सेवमानोऽधोव्रजति) ऋण चुकाये बिना मोक्ष का सेवन करता हुआ पुरुष अधोगति को प्राप्त हो जाता है (विधिवद्भेदानधीत्य) अर्थात् विधिपूर्वक शास्त्र की आज्ञानुसार गुरु मुख से वेदों को पढ़ने द्वारा ऋषि ऋण चुकाके (शबिततीयज्ञैश्चेष्टा) यथाशक्ति बड़े २ यज्ञ करने द्वारा देव ऋण चुका के (पुत्रांश्च धर्मतउत्पाद्य) और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करने द्वारा पितृ ऋण चुका के (मोक्षे मनो निवेशयेत्) मोक्ष में मन लगावे (द्विजो वेदाननधीत्य) ब्राह्मण वेद न पढ़ के (यज्ञैश्चैवानिष्ट्वा) बड़े २ यज्ञ वा इष्टि न करके (तथा सुताननुत्पाद्य) तथा पुत्रों को उत्पन्न न कर के अर्थात् इन तीनों कर्तव्यों द्वारा तीनों ऋण न चुका कर (मोक्षमिच्छन्नधो व्रजति) सुखित चाहता हुआ नोचे गिर जाता है (सर्ववेदसदक्षिणां प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य) अपना सभी वेदस् नाम धन जिस की दक्षिणा में दे दिया जाता ऐसी प्रजापति देवता वाली इष्टि-यज्ञ का निरूपण करके (आत्मन्यग्नींसमारोप्य) और [याते अग्ने यज्ञियातनूः०] इस मन्त्र से गार्हपत्यादि श्रौत स्मार्त्त अग्नियों को अपने भीतर समारोपण करके (ब्राह्मणो गृहात् प्रव्रजेत्) ब्राह्मण घर वा वनस्थ कुटी से वा गृहस्थाश्रम से संन्यास लेलेवे फिरलौट कर वहां का भोग वा निवास कभी न करे। यहां ब्राह्मण कहने से क्षत्रियादि को संन्यास का अधिकार नहीं है यदि कोई क्षत्रियादि ज्ञान की प्रबलता से संन्यास का अधिकारी हो सके तो वह लोक परम्यपरा से भले ही क्षत्रियादि कहावे किन्तु शास्त्रानुसार वह ब्राह्मण ही है। (यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वा) जो अपनी ओर से सब प्राणियों को अभय दान देकर अर्थात् किसी प्राणी को दुःख न देकर (गृहादभयं प्रव्रजति) गृहाश्रम वा वनस्थ कुटी से निर्भय हुआ संन्यास लेता है

[जो किसी को सता कर कहीं को चलता है तो उस को उसी का भय लगा रहता है कि जिस को मैंने सताया है वह कहीं इधर उधर से मुझे सताने को अब आता अब आता है इसी सन्देह में भय भीत रहता है] (तस्य ब्रह्मवा-
दिनस्तेजोमया लोका भवन्ति) उस ब्रह्मवादी ईश्वरनिष्ठ ईश्वरभक्त पुरुष
को सत्त्वगुणरूप प्रकाश की अधिकता वाले लोक प्राप्त होते हैं अर्थात् उन
लोकों में रजोगुण तमोगुण सम्बन्धी दुःख उस को कभी प्राप्त नहीं होता (यस्मा-
द्द्विजाद् भूतानामणवपिभयं नोत्पद्यते) अपने जीवन समय में जिस ब्राह्मण से
लेशमात्र भी भय वा दुःख किसी को नहीं पहुंचता (देहाद्विमुक्तस्य तस्य कुतश्चन
भयं नास्ति) ग्रामादि समुदाय से वा शरीर से अलग होने पर उस को किसी
से कहीं कभी कुछ भी दुःख वा भय उत्पन्न नहीं होता तिस से सिद्ध हुआ कि
स्त्री पुत्रादि को भयभीत दुःखित वा असमर्थ दशा में विलखते छोड़ कर त-
यारी किये बिना अकस्मात् किसी को संन्यास नहीं लेना चाहिये । और उन
पुत्रादि के समर्थ शिक्षित हो जाने पर प्रसिद्धिपूर्वक सब को ठीक २ समझा
बुझा के संन्यास लेने में जो कुछ थोड़ा दुःख वा भय होता वह अति अल्प
होने से भय वा दुःख पक्ष में नहीं गणना चाहिये (पवित्रोपचिता मुनिरागारा-
दभिनिष्क्रान्तः) जप तप आदि पवित्र कर्मों से युक्त हुआ मौन व्रतधारी घर
से निकला (समुपोदेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्) गृहाश्रमस्थ वा कुटी सम्ब-
न्धी संचित भोगों में अपेक्षा रहित हुआ निकले अर्थात् भोगों की अपेक्षा वा स्म-
रण कुछ भी न रखता हुआ संन्यास लेवे ॥

भा०—यहां अच्छे प्रकार से संन्यास की रीति कही है । ऋण का चुका-
ना मन को एक आधार वा बन्धन से छुड़ाना वा उस की मलिनता का शोधन
करना है । जैसे कि अशुद्ध वस्त्र में कोई रंग नहीं चढ़ता वा जैसे पिखला
पग उठाये बिना आगे पग नहीं धरा जा सकता वैसे ऋणरूप बन्धनों से हटाये बिना
मोक्ष में मन लगाना भी दुस्तर है तिस से मुमुक्षु को पहिले ऋण चुका देना
अति आवश्यक है प्रसिद्ध और दृढ़ प्रतिज्ञा के साथ प्राजापत्या इष्टि का नि-
रूपण करना सब पदार्थों में ममता छोड़ने के लिये है । जो किसी को दुःख
वा भय देकर संन्यासी होता है वह जब स्मरण करता है कि मैंने उस को दुःख
दिया तब उस स्मरण से शोक वा परिताप करता हुआ वार २ अधिक २ पी-
ड़ित होता उस को फिर सुख नहीं मिलता, और न मोक्ष साधनों के अनुष्ठान
में उत्साह करता है किन्तु वह पुरुष दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाता है । यहां

गृह और आगार शब्दों के कई वार आने से वानप्रस्थाश्रम किये बिना गृहाश्रम से भी संन्यास लेलेना अनुचित नहीं यह जताया है। इसी के अनुसार कोई पूर्वजन्म का अच्छा ज्ञानी वा विरक्त शुद्ध संस्कारी पुरुष ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ले सकता है। अर्थात् आश्रम से आश्रम में जाने का विचार सर्वसाधारण के लिये और विशेष पुरुषों को यथोचित करने का अधिकार है। उन सभी दशाश्रमों में अन्य प्रसिद्ध में सेवन न किया आश्रम उस की अपेक्षा भी लुप्त नहीं होता क्योंकि जैसे कोई घर में रहता गृहस्थ कहाता हुआ भी वानप्रस्थ वा संन्यासी के तुल्य योग्य हो सकता है। जो गृहस्थ के भोगों से विरक्त रहता हुआ तप करता है वह गृहाश्रम से संन्यास ले सकता है सब कोई नहीं, क्योंकि अन्त्य समय उस का गृहाश्रम ही अर्थानुकूल वानप्रस्थाश्रम ही जाता है। इस से सिद्ध हुआ कि भोगों की अपेक्षा का त्याग ही मुख्य संन्यास है भोगों से स्वयं शरीर से दूर हो जाना विद्वानों की दृष्टि में संन्यास नहीं ॥४१॥

एकएवचरेन्नित्यं सिध्यर्थमसहायवान् ।
 सिद्धिमेकस्यसंपश्य-न्नजहातिनहीयते ॥
 अनग्निरनिकेतःस्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
 उपेक्षकोऽशंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥
 कपालंवृक्षमूलानि कुचेलमसहायता ।
 समताचैवसर्वस्मि-न्नेतन्मुक्तस्थलक्षणम् ॥
 नाभिनन्देतमरणं नाभिनन्देतजीवितम् ।
 कालमेवप्रतीक्षेत निर्देशंभृतकोयथा ॥

[ग्रैष्मान्हेमन्तिकान्मासा-नष्टौभिक्षुर्विचक्रमेत् ।
 दयार्थं सर्वभूतानां वर्षास्वेकत्रसंवसेत् ॥
 नासूर्यहिव्रजेन्मार्गं नादृष्टांभूमिमाक्रमेत् ।
 परिभूताभिरद्विस्तु कार्यकुर्वीतनित्यशः ॥

सत्यांवाचमहिंसांच वदेदनपकारिणीम् ।
 कल्कापेतामपरुषा-मनृशंसामपैशुनाम् ॥३॥]
 दूष्टिपूतंन्यसेत्पादं वस्त्रपूतंजलंपिबेत् ।
 सत्यपूतांवदेद्वाचं मनःपूतंसमाचरेत् ॥
 अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येतकंचन ।
 नचेमंदेहमाश्रित्य वैरंकुर्वीतकेनचित् ॥
 क्रुध्यन्तंनप्रतिक्रुध्ये-दाकृष्टःकुशलंवदेत् ।
 सप्तद्वारावकीर्णांच नवांचमनृतांवदेत् ॥
 अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षोनिरामिषः ।
 आत्मनैवसहायेन सुखार्थीविचरेदिह ॥ ४९ ॥

अ०-एकस्य सिद्धिं संपश्यन्नसहायवानिष्टसिद्धयर्थं नि-
 त्यमेकएव चरेत् सर्वचराचरस्य सङ्गन्यासएव संन्यासः ।
 एवं च सापेक्षसुखदुःखसाधनानि न जहाति न तैः स ही-
 यतेउभयथाऽपि हानरूपवियोगजन्यदुःखान्मुच्यते । अग्नि-
 साध्ययज्ञरहितोऽनग्निरनिकेतोऽनियतनिवासस्थानः । अन्नं
 भिक्षितुमेव ग्राममाश्रयेन्नान्यदा । उपेक्षकः सर्ववस्तुष्वे-
 वोदासीनोऽशङ्कुसुकः स्थिरमतिर्भावेन चेतसा समाहितो
 मुनिर्मौनी स्यात् । कपालादीनामप्युदासीनभावेन स्वीकारः
 समताया आधिक्यं च जीवन्मुक्तस्य पूर्णं लक्षणं सएव च
 विदेहमुक्तोऽपि भवति । मरणं जीवितं वा किमपि नाभि-
 नन्देत् । तथा चेतः समादध्याद्येन जीवनमरणयोरपि स-

मतायामेव चेतो रमेत । सेवेको यथा स्वामिनिर्देशं प्रती-
क्षते तद्वत्कालागमनं प्रतीक्षेत । अस्यैवाग्रे क्वचिदुपलभ्य-
मानं पश्चात्क्षिप्तं पद्यत्रयं विद्यते तस्यार्थः प्राकृतविवर-
णोऽवलोक्यः । निरपेक्षस्त्यक्ताभिलाषो निरामिषस्त्यक्त-
विषयवासनोऽध्यात्मं रममाण एव योगाभ्यासेनासीनश्चाञ्च-
ल्यरहित आत्मनैव सहायेनेह सुखार्थी-विचरेत् ॥

भा०—चेतनाचेतनसाधनाधीन एव सर्वः सुखदुःखानु-
भवः सुखार्थी च परवशतया दुःखमवश्यं भुङ्क्ते त्यक्त-
सुखाभिलाषस्त्यक्तसर्वचराचरसङ्गश्च संन्यासी सर्वं दुःख-
मपि जहात्येव । समत्वं सामान्यं च निरतिशयं यत्र वर्तते
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि । निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात्साम्य-
परायणास्ते ब्रह्मणि तिष्ठन्ति । अत्रत्यैः पद्वैरुच्यमानं सर्वमेव
व्याख्यानं विषमताया निरासकं समतायाश्चोपपादकं कृतम् ।
अनेनैव सर्वः संन्यासः सम्यक्साफल्यं गच्छति न किमपि
कृत्यान्तरमवशिष्यते ॥ ४९ ॥

भाषार्थः—(एकस्य सिद्धिं संपश्यन्) एक की सिद्धि होना सम्यक् देखता हुआ [किसी को साथ रखने वाला रागद्वेषादि दोषों से नहीं छूट सकता एक ही निर्दोष ठीक सिद्ध हो सकता है ऐसा दृढ़ विचार रखता हुआ] (असहायवा-
निष्टसिद्धयर्थमेकएव नित्यं चरेत्) किसी की सहायता न चाहने वाला इष्ट निः-
श्रेयस कल्याण की सिद्धि के लिये अकेला ही नित्य विचरे किसी को साथी न
करे । सुख दुःख विशेष के हेतु चराचर-प्राणी अप्राणी का सङ्ग छोड़ना ही सं-
न्यास कहाता है [यदि वह श्रान्यों से ही मेल करता है तो स्त्री पुत्र कुटुम्बादि को
ही क्यों छोड़े वहां तो मेल बना बनाया ही है] (न जहाति न हीयते) जब सब
का सङ्ग त्याग के सार्थक संन्यासी हो जाता है तब संयोग वियोग हानि लाभ द्वारा
होने वाला सुख दुःख उस को नहीं सताता (भावसमाहितो मुनिः) चित्त से साव-

धान और मीनी रहता हुआ संन्यासी (अग्निरनिकेतः) गार्हपत्यादि अग्नि-सम्बन्धी यज्ञ के नियम का भी त्यागी, किसी निज घर में न रहता हुआ (उपेक्षकोशङ्कुसुकः स्यात्) सब वस्तु वा प्राणियों से उदासीन स्थिरबुद्धि वाला हो और (अन्नार्थं ग्रामसाश्रयेत्) अन्न के लिये ही केवल ग्राम में जावे अन्य समय नहीं (कपालं वृक्षमूलानि कुचेलसहायता) हाथ में भोजन के लिये एक खपर का होना, उत्तम दर्शनीय स्वच्छ वस्त्रों का धारण न करना, वृक्ष की जड़ों के समीप शुद्ध एकान्त वन आदि में बैठना कहीं मकान बनवा के न बैठना किसी को साथी सहायताकारी न बनाना और (समता चैव सर्वस्मिन्) सब राजा रईस-वा दरिद्र दीन आदि को ठीक समदृष्टि से देखना (एतन्मुक्तस्य लक्षणम्) यही जीवन्मुक्त सर्वोत्तम साधु वा संन्यासी का लक्षण है ऐसा पुरुष योगी होना भी सम्भव है । यदि दरिद्रता के कारण खपर आदि रखता होगा तो उस की सब में समता कदापि नहीं हो सकती इस से समता ही मुख्य है (नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्) न तो मरण की इच्छा करे और न जीवन की ही अधिक तृष्णा रखे किन्तु (निर्देशं भृतको यथा कालमेव प्रतीक्षेत) जैसे सेवक स्वामी-के संकेतमात्र की ही प्रतीक्षा करता है । संकेतरूप आज्ञा पाते ही उस काम में झट लगजाता है वैसे ही मृत्यु के संकेतमात्र की प्रतीक्षा करता रहे । मृत्यु का संदेशा पातेही [बहुत आच्छा, तयार हूँ] कह कर प्राण त्याग करे । इसी के आगे पीछे मिलाये तीन श्लोक कहीं २ मिलते हैं उन का संक्षेपार्थः—[ग्रीष्म और शीत काल के आठ महिनों तक संन्यासी देशाटन किया करे परन्तु सब प्राणियों पर दया रखने के लिये वर्षा ऋतु में एक नियतस्थान पर रहे [वर्षा में शतपदी-गिजाई आदि अनेक जीव मार्ग में दब २ के मर जाते हैं उन पर भी दया करना आवश्यक है] सूर्य के न हीने पर रात्रि में मार्ग न चले, अदृष्ट भूमि पर आक्रमण न करे, बहुत से शुद्ध जल से स्नानादि कार्य करे, हिंसा, कठोरता, चुगली, अहितकारिणी, असम्बद्ध व्यर्थ और मिथ्यापन के दोष से रहित वाणी को सत्य ही बोले] (दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्) आंखों से देखता हुआ पगों से चले जिस से कोई जीव जन्तु पगों से दब कर न मर जावे, वस्त्र से छान कर जल पीवे जिस से जल के जीवों की हिंसा न हो (सत्यपूतां वदे-द्वाचं मनःपूतं समाचरेत्) सत्य से पवित्र की हुई वाणी को बोले और मन से पवित्र रहता हुआ सर्वत्र विचरे (अतिवादांस्तितिक्षेत कंचन नावमन्येत) अन्य के कठोर, मिथ्या, वा असम्बद्ध अहितकारी वाष्यों को सुन कर सह लेवे किसी

का अपमान न करे वा करावे (इमं देहमाश्रित्य केनचिदपि वैरं न कुर्वीत) इस अनित्य शरीर की धारण करके किसी के साथ वैर न करे (क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येत्) अपने साथ क्रोध करते हुए से क्रोध न करे (आक्रुष्टः कुशलं वदेत्) कोई संन्यासी को गाली दे कौशे तो उस से कुशल क्षेम नाम उस के हित की बात भी कोमलता से ही कहे किन्तु स्वयं किसी की बुरा न कहे (सप्तद्वारावकीर्णं च वाचमनृतां न वदेत्) मुखादि शिर के सात छिद्रों में जिस का तत्त्व फैला है ऐसी वाणी को मिथ्या कभी न बोले (निरपेक्षो निरामिषः) सब कामना और विषय भोगकी वासना जिसने त्याग दी हों (अध्यात्मरतिरासीनः) अपने आत्मा में ही रमने वाला योगासन के साथ दृढ़ता से बैठा चञ्चलता रहित हुआ (आत्मनैव सहायेन) आत्मा नाम अपनी ही सहायता से (इह सुखार्थी विचरेत्) इस जगत् में सुख चाहता हुआ विचरे ॥

भा०-चेतन वा जड़ पदार्थों का सङ्ग ही सब सुख दुःखों के प्राप्त होने का मुख्य कारण है इस लिये इस संसार में सुख चाहता हुआ परवश होने से दुःख अवश्य ही भोगता है । और सुख भोग की अभिलाषा तथा सब जड़ चेतन पदार्थों का सङ्ग छोड़ने वाला संन्यासी सब दुःखों को छोड़ ही देता है । समता वा सामान्य जिस में सर्वोपरि असीम रहता है वही ईश्वर वा ब्रह्मपन जानो । क्योंकि सम और निर्दोष ब्रह्म है तिस से समता में तत्पर रहने वाले विरक्त लोग ब्रह्म में ही ठहरे माने जाते हैं । इस प्रकरणस्थ श्लोकों से कहा भी व्याख्यान विरक्त की विषमता का हटाने और समता का सिद्ध करने वाला है । इसी समता के धारण से सब संन्यास ठीक सफल होजाता है और कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता ॥ ४९ ॥

नचोत्पातनिमित्ताभ्यां ननक्षत्राङ्गविद्यया ।
 नानुशासनवादाभ्यां भिक्षालिप्सेतकर्हिचित् ॥
 नतापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपिवाश्रवभिः ।
 आकीर्णभिक्षुकैर्वाऽन्यै-रागारमुपसंत्रजेत् ॥
 क्लृप्तकेशनखप्रमश्रुः पात्रीदण्डीकुसुम्भवान् ।

विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥
 अतैजसानिपात्राणि तस्यस्युर्निर्वृणानिच ।
 तेषामद्भिः स्मृतं शौचं च मसानामिवाध्वरे ॥
 अलाबुंदारूपात्रं च मृन्मयं वैदलंतथा ।
 एतानियतिपात्राणि मनुःस्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥
 एककालंचरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
 भैक्षे प्रसक्तो हियति-विषयेष्वपि सज्जति ॥
 विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
 वृत्तेशरावसंपाते भिक्षानित्यं यतिश्चरेत् ॥
 अलाभेन विषादी स्या-ल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
 प्राणयात्रिकमात्रः स्या-न्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥
 अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
 अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥
 अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ।
 ह्रियमाणानि विषयै-रिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥
 इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
 अहिंसया च भूताना-ममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥

अ०-उत्पातो भूमिकम्पादिस्तत्कथनेन तत्फलप्रदर्शने-
 न च नक्षत्रचलनबोधेनाङ्गानां वेदाङ्गानां च विद्यया तथैवा-

नुशासनवादाभ्यां च कदापि यतिर्भिक्षां न लिप्सेत् । ता-
 पसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपिश्वभिर्वाऽन्यैर्भिक्षुकैर्वाऽऽकीर्णमा-
 गारं नोपसंत्रजेत् । ऋप्राणि छिन्नानि केशनखश्मश्रूणि यस्य
 तादृशः पात्री भिक्षार्थं कपालधारी दण्डी कुसुम्भवान् मृदा-
 दिकरकोदपात्रधारी नियतो वशीकृतेन्द्रियः सर्वभूतानि श-
 त्रुभावं गतान्यप्यपीडयन्नित्यं विचरेन्नैकत्र सुखेनासीत् ।
 तस्य भिक्षोर्निर्ब्रणान्यतैजसानि तेजोदीप्तिर्येषु न विद्यते
 तानि पात्राणिमृन्मयादीनि स्युश्चमसानामिवाध्वरे तेषा-
 मद्भिः शौचं स्मृतम् । अलाब्वादीनि यतिपात्राणि तैजसाभावे
 स्युरिति पद्यस्य मेधातिथिभाष्यं नास्ति तेनानुमीयते मे-
 धातिथिभाष्यकरणानन्तरं केनापि धृतं तत्तैजसप्रतिषेधे चा-
 र्थापत्यापि तेषां ग्रहणसम्भवात् । मनुः स्वायंभुवोऽब्रवी-
 दित्यप्रामाण्यभयेनेवोक्तमनुमीयते । एककालं भैक्षं चरे-
 द्विस्तरे न प्रसज्जेत । यतो भैक्षे प्रसक्तो यतिर्विषयेष्वपि
 सज्जति । सर्वसहयोगिषु भोजनकृत्यात्सर्वथा निवृत्तेषु य-
 तिर्नित्यं ग्रामस्थगृहस्थगृहाद् भिक्षामानेतुं व्रजेत् । अला-
 भे विषादी दुःखितो न स्याल्लाभे चैव न हर्षयेदपितु प्रा-
 णयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद् दण्डकमण्डलवादि कमपी-
 दं शोभनमिदमशोभनमित्यनासक्तः सङ्गाद्विवर्जितः । अभि-
 पूजितान्सम्मानसहितान् भिक्षादिलाभान् सर्वशो जुगुप्सेतैव ।
 यतो मुक्तोऽपि यतिरभिपूजितलाभैर्वध्यते । अल्पाद्वाभ्य-
 वहारेण च विषयैर्हिंयमाणानि-इन्द्रियाणि निवर्त्तयेत् ।
 रागद्वेषक्षयेण भूतानामहिंसयेन्द्रियाणां निरोधेन चेति का-
 रणात्रयेण यतिरमृतत्वाय कल्पते ॥

भा०-उत्पातादिविबोधनेन भिक्षालिप्सा वैतनिकवत्कृत्यम् । अन्यैः कैरपि समाकीर्णं स्थाने निवस्तुं विशेषेण स्थातुं च न गच्छेत् । ज्ञानधर्मादिलाभाय तु गमने न दोषः । तैजसानि मूल्यवन्ति पात्राणि कोऽपि चोरयेत्तदा भिक्षोः शोको न स्यादेतदर्थमतैजसपात्रविधिः । भिक्षाधिक्येनेन्द्रियेषु प्राबल्यं विषयवासनोद्बोधकं जायते तस्मान्निषेधः । भोजनकाले गमनेऽसिद्धे चान्ने ग्रामे कालावधि स्थातव्यं स्याद् गृहस्थो वा क्लिश्येदित्यादिसर्वं तस्यानिष्टमतो न तदा भिक्षायै गन्तव्यमपितु दिनस्य चतुर्थं यामे भिक्षामादातुं गच्छेत् । दुःखेभ्यो मोक्षाय यतिना महानुपायोऽनुष्ठेयस्तत्र च समतायाः प्राधान्यं तस्या एव च-लाभालाभयोर्हर्षशोकत्यागः । सम्मानेन भिक्षालाभेच्छादिवर्जनं च सर्वं व्याख्यानम् । अल्पान्नाभ्यवहरणं रहःस्थानमासनं च जितेन्द्रियतासम्पादनस्य प्रधानं कारणं जितेषु च तेषु रागद्वेषहिंसादीनां स्वतएवाभावेऽमृतत्वं सुलभम् ॥६०॥

भाषार्थः-(नोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया) होने वाले भूकम्पादि उत्पात और उन के निमित्त कारण वा फलों के कहने द्वारा (कहिंचिद्विज्ञां न लिप्सेत) संन्यासी कदापि भिक्षा की चाहना न करे और अमुक नक्षत्र अमुक समय अमुक स्थान पर आवेगा इत्यादि नक्षत्र विद्या तथा वेद के अङ्गों में कही विद्या द्वारा भिक्षा न चाहे (नानुशासनवादाभ्याम्) और ऐसा २ करो ऐसा मत करो इत्यादि अनुशासन तथा शास्त्रार्थरूप वाद विवाद से भी संन्यासी भिक्षा की चाहना न करे । अर्थात् भिक्षा चाहना के बिना भी संन्यासी के उद्देश में उत्पात कथनादि कोई कर्तव्य नहीं है तथापि भिक्षा आदि के लालच को छोड़ के आवश्यकता देखे तो धर्म की शिक्षा कभी कोई विरक्त कर सकता है (तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्रवभिः) तपस्वी क्षत्रियादि से भी, ब्राह्मणों से, पक्षियों से, वा कुत्तों से (अन्त्यैर्भिक्षुकैर्वाऽकीर्णमागारं नोपसंभ्रजेत्) अथवा अन्य भिक्षुक संन्यासी

ब्रह्मचारियों से घेरे हुए स्थान में संन्यासी न जावे (क्लृप्तकेशनखमश्रुः) संन्यासी शिर के केश डाढ़ी मौखों को मुड़ाये और नखों को कटाये रहे किन्तु इन को रखाये न रहे (पात्री दण्डी कुसुम्भवान्) भिक्षा के लिये एक खपर हाथ में रखे एक वांस का दण्ड सदा समीप रखे और कुसुम्भ नाम एक मट्टी आदि का करवा सब समय पास रखे [यदि कुसुम्भवान् शब्द का अर्थ कुसुम के फूल से रंगे वस्त्र धारण करना किया जाय तो पूर्व कहे कुचेल से विरोध आवेगा क्योंकि कुसुम का रंग उत्तम केशरिया होता है] (नियतः सर्वभूतान्यपीडयन्नित्यं विचरेत्) इन्द्रियों को सर्वथा वश में रखता हुआ शुद्ध शान्त संन्यासी अपने से शत्रुता रखने वालों को भी किञ्चित् भी पीड़ा न पहुंचाता हुआ नित्य विचरे भ्रमण किया करे कहीं एकत्र सुखपूर्वक न बैठे जिस कारण कहीं किसी से रागद्वेष न होने पावे (तस्य चातैजसानि पात्राणि निर्त्रणानि स्युः) उस संन्यासी के कांसा पीतल आदि चमक वाले धातुओं से भिन्न मट्टी काष्ठादि के पात्र छिद्रादि रहित हों अर्थात् फूटे न हों (अश्वरे चमसानामिव तेषामद्भिः शौचं स्मृतम्) यज्ञ में चमसों की जैसे केवल जल से धो डालने मात्र से शुद्धि होजाती है वैसे संन्यासी के मृत्पात्रादि की भी केवल जल से शुद्धि हो जाती है (अलबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा) तूबा, लकड़ी का कमण्डलु, मट्टी का करवा अथवा वांस का पात्र (स्वायम्भुवो मनुरेतानि यतिपात्राण्यब्रवीत्) स्वायम्भुव मनु जी ने इतने पात्र संन्यासी के लिये कहे हैं [इस श्लोक पर सब से पहिले टीकाकार मेधातिथि का टीका नहीं है तिस से तथा तैजस पात्रों का निषेध होने से अर्थात्पत्ति द्वारा भी तूबा आदि पात्र ही आ सकने सेहैं यह श्लोक पुनरुक्त वा निरर्थक होने से पीछे मिलाया जान पड़ता है इसी कारण इस की अप्रमाणाता ठहर जाने के भय से स्वायम्भुव मनुने कहा ऐसा कहा गया] (एककालं भैक्षं चरेत्) एक समय भिक्षा करे (विस्तरे न प्रसज्जेत) वार २ बहुत खाने में न फसे (हि) जिस कारण (भैक्षे प्रसक्तो यतिः) खूब अच्छे २ खाने में लगा हुआ संन्यासी (विषयेष्वपि सज्जति) अन्य विषयों में भी क्रमशः फंस ही जाता है (विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने) ग्रामस्थ गृहस्थों के घर में धुआ उठना, तथा उखली मूसल से कूटने का शब्द वन्द ही जावे, चूल्हों का अग्नि बुत जावे, गृहस्थ के संबन्धी सब खा चुके (शरांसंपाते वृत्ते) मट्टी के शकोरा वा शरवा [परई] आदि उठा कर बाहर फेंक दिये जावें अर्थात् भोजनादि करके गृहस्थ लोग सर्वथा निवृत्त हो जावें तब (यतिर्नित्यं भिक्षां चरेत्) संन्यासी

नित्य भिक्षा मांगने को गृहस्थों के द्वारे पर जाया करे (अलाभे विषादी न स्यात्) भिक्षा न मिलने पर दुःखित न हो (लाभे चैव न हर्षयेत्) और अच्छी भिक्षा मिलने में कुछ हर्ष भी न करे (मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः प्राणयात्रिकमात्रः स्यात्) यह दण्ड कमण्डलु आदि अच्छा है, यह तो अच्छा नहीं इत्यादि प्रकार लेशमात्र भी आसक्ति को छोड़ कर प्राणयात्रा जीवन निर्वाह चलने मात्र के लिये थोड़ा भिक्षान्न एक वार खाया करे (अभिपूजितलाभास्तु सर्वशो जुगुप्सैतैव) सम्मानपूर्वक होने वाले भिक्षादि लाभों को सब ओर से निन्दा वा घृणा ही करे अर्थात् सम्मानपूर्वक भिक्षा की चाहना न करे (अभिपूजितलाभैश्च मुक्तोऽपि यतिर्बध्यते) क्योंकि सम्मानपूर्वक भिक्षादि लाभों में फंसने से मुक्तनाम जीवन्मुक्त हुआ भी संन्यासी बन्धन में पड़जाता है (अल्पान्नाभ्यवहारेण) थोड़ा अन्न खाने तथा (रहःस्थानासनेन च) एकान्त स्थान में रहने बैठने द्वारा (विषयैर्हिंयमाणानीन्द्रियाणि निवर्त्तयेत्) विषयों की ओर खिंचे हुए इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करे (इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च) रागद्वेष के क्षीण होने इन्द्रियों के रोकने (अहिंसया च भूतानाम्) और प्राणियों की हिंसा के सर्वथा त्याग से (अमृतत्वाय कल्पते) संन्यासी मुक्त होने के लिये समर्थ होता है॥

भा०—उत्पातादि ब्रता कर भिक्षा की चाहना नौकरी करने के समान पराधीनता का काम है। अन्य किन्हीं भी प्राणियों से घिरे हुए स्थान पर वसने को वा विशेष कर ठहरने के लिये न जावे परन्तु धर्म वा ज्ञान की चर्चा द्वारा अपना वा अन्यो का लाभ होने की दशा में दोष नहीं है। तैजस कांसे आदि के मूल्यवान् पात्रों को कोई चुराले जावे तो संन्यासी को शोक होने का सम्भव है। सो संन्यासी को शोकादि न व्यापे इसी से अतैजस मट्टी आदि के पात्रों का विधान है। अधिक २ भोजन करने से विषय वासना को सचेत करने वाली प्रबलता इन्द्रियों में होती है तिस से अधिक खाने का निषेध किया है। भोजन होने के समय यदि संन्यासी ग्राम में जावेगा तो भोजन ठीक तयार न होने से ग्राम में अधिक काल तक ठहरने पड़े वा लौट आने से गृहस्थ को क्लेश हो यह सब कुछ संन्यासी के लिये अनिष्ट है इस से उस समय भिक्षा मांगने को न जावे किन्तु १ प्रहर दिन रहे समय गृहस्थ के घर पर भिक्षा मांगने को जावे। दुःख से मुक्त होने के लिये संन्यासी को बड़ा उपाय करना चाहिये। उस में भी समता की प्रधानता अर्थात् उन उपायों में समता मुख्य है। लाभ वा अलाभ में हर्ष शोक का त्याग तथा सम्मान के साथ भिक्षादि का वर्जन भी यह सब उसी

समता का व्याख्यान है । थोड़ा अन्न खाना और एकान्त में रहना जितेन्द्रिय होने का बड़ा प्रधान कारण है और इन्द्रियों के वशीभूत होजाने पर रागद्वेष तथा हिंसादि का स्वयमेव अभाव होजाने पर मुक्ति होना अति सहज है ॥६०॥

अवेक्षेतगतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ।

निरयेचैवपतनं यातनाश्चयमक्षये ॥

विप्रयोगंप्रियैश्चैव संयोगंचतथाऽप्रियैः ।

जरयाचाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥

देहादुत्क्रमणंचास्मात्-पुनर्गर्भंचसम्भवम् ।

योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥

अधर्मप्रभवंचैव दुःखयोगंशरीरिणाम् ।

धर्मार्थप्रभवंचैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥

सूक्ष्मतांचान्वेक्षेत-योगेनपरमात्मनः ।

देहेषुचसमुत्पत्ति-मुत्तमेष्वधमेषुच ॥६५॥

अ०-कर्मदोषैः समुद्भवा नृणामतिगर्हितसूकरादियो-
निषु गतीरधोगमनानि, निरये ततोऽपि निकृष्टे शाश्वतदुः-
खालये नरके पतनं, यमक्षये यातनाश्च पीडाभोगाश्च [यमो-
मृत्युस्तस्य स्थानं निवासी नाभिः । मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं
प्राविशदित्यैतरेयोपनिषदि] प्रियैः पुत्रकलत्रादिभिः केषां
विप्रयोगमप्रियैः शत्रुहिंसकादिभिरन्येषां संयोगं, जरया जी-
र्णादशया चाभिभवनं केषामपि व्याधिभिश्चोपपीडनमन्येषा-
मस्माद्देहादुत्क्रमणं मरणं पुनरन्यस्मिन् गर्भे गर्भाशये सम्भ-

वमुत्पत्तिमस्थान्तराश्मनो जीवस्य योनिकोटिसहस्रेषु सूती
पुनःपुनर्मृत्वाऽसंख्ययोनिषु गमनं शरीरिणामधर्मप्रभवं चैव
दुःखयोगं धर्मार्थप्रभवं चैवाक्षयं सुखसंयोगमवेक्षेत । उत्तमेषु-
ऋषि ब्राह्मणादिषु, अधमेषु मलकृम्यादिषु च देहेषु स्वस्य
समुत्पत्तिं योगेन योगाभ्यासेन परमात्मनश्च सूक्ष्मतामन्व-
वेक्षेत मत्यादीनामवेक्षणं सूक्ष्मतायाश्चान्ववेक्षणम् ॥

भा०—एतत्कथनेन संसारस्य संसारत्वं दुःखमयत्वं च
स्पष्टं प्रतिपाद्यते । “मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता धर्माप्रवि-
च्छेदेनैव प्रवर्त्तमानाः संसारः” इति वात्स्यायनर्षिकृतं सं-
सारलक्षणं सर्वमेवात्र संघटते । जनमारभ्य मरणावधि यावान्
व्यापारः प्राणायानार्थः क्रियते तावान् सर्वएव दुःखानुषक्तो
दुःखेनावियुक्तश्च तच्च सर्वं दुःखानुसक्तं दुःखमयमही !
दुःखमितियः सम्यक् पश्यति स निर्विद्यते निर्विण्णो विर-
ज्यते विरक्तश्चावश्यं विमुच्यते । यथा कोऽपि क्वापि गृहे
देशे स्थाने वा दुःखाधक्यमीक्षणोपपन्नो पश्यति तदैव तदनुपा-
दानेन तज्जन्यदुःखादपि मुच्यतएव । नहि कोऽपि दुःखहे-
तुत्वं कस्याप्यजानंस्ततः कदापि निर्विद्यते नच निर्वदम-
न्तरेण कोऽपि विरज्यते नच वैराग्यमन्तरेण कोऽपि कदापि
विमुच्यते । तस्मात्सर्वदुःखेभ्यो विमोक्षस्य परम्परया मूलं
कारणं संसारस्य संसारत्वेनैवोक्तप्रकारकमीक्षणामेवास्ति ।
विषस्य विषत्वं जानानएव विषभक्षणाद्विरक्तस्तज्जन्यदुःखा-
दपि मुच्यतएव । अतएव दुःखाद्भीतो दुःखकारणमिदमि-
तीक्ष्माणो तत्संयोगजन्यदुःखान् मुच्यते । तस्मात्संन्यासि-
नोक्तविधमीक्षणं कार्यमेव ॥ ६५ ॥

भाषार्थः—(कर्मदोषसमुद्भवा नृणां गतीरवेक्षेत) संन्यासी पुरुष कर्मसम्बन्धी रागादि दोषों से प्रकट होने वाली सूकरादि नीच योनियों में जाना आदि वक्ष्यमाण गतियों का एकान्त बैठ २ शीघ्र विचार करे कि मैं संसार में फसा रहा तो मेरी भी यही दशा होगी इत्यादि (निरये चैव पतनम्) सूकरादि योनियों से भी अत्यन्त नीच सनातन दुःखसागर रूप नरक में गिरना (यमक्षये यातनाश्च) यम नाम मृत्यु के स्थान में पीडाओं का भोगना [अपान का रूप धारण कर मृत्यु ने नाभि में प्रवेश किया है इस से उस का निवास स्थान नाभि वा मध्यम भाग है। सृष्टि में भी अन्तरिक्ष का भी मध्य मृत्यु का निवास स्थान है] (प्रियैश्चैव विप्रयोगं तथाऽप्रियैः संयोगम्) प्रिय स्त्री पुत्रादि के साथ किहीं का वियोग तथा शत्रु वा हिंसक सिंह व्याघ्रदि के साथ किहीं का संयोग होना (जरया चाभिवननं व्याधिभिश्चोपपीडनम्) शिथिल अशक्त दशा से दबाया जाना और बड़े २ प्रबल भयङ्कर रोगों से ग्रस्त होना (अस्माद्देहादुत्क्रमणं पुनश्च गर्भं सम्भवम्) इस सर्वोपरि प्रिय शरीर से निकलना और फिर अन्य किसी महामलिन नरकरूप गर्भाशय में जन्म लेकर नव दश मासतक वहां वसना (अस्यान्तरात्मनो योनिकोटिसहस्रेषु सृतीः) इस अन्तरात्मा जीव का असंख्य प्रकार की घृणित योनियों में वार २ आवागमन करना (शरीरिणामधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगम्) अधर्म से होने वाला दुःख शरीरधारियों को मिलना (धर्मार्थप्रभवं चैवाक्षयं सुखसंयोगम्) धर्म और धन दानादि द्वारा होने वाला सापेक्ष अविनाश सुख स्वर्गादि का मिल जाना इन सब कर्मों से होने वाली प्राणियों की दशाओं को ज्ञानदृष्टि से देखे (उत्तमेष्वधमेषु च देहेषु समुत्पत्तिं च) और उत्तम ब्राह्मण ऋषि, देव पितर आदि देहों में और अति नीच मलसूत्र के कृमि आदि शरीरों में अपनी उत्पत्ति का सूक्ष्म दृष्टि से स्मरण करे (च) और (योगेन परमात्मनः सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत) योगाभ्यास द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता को भी देखें ॥

भा०—इस सब कथन से संसार की संसारता और उस का दुःखमय होना स्पष्ट ही दिखा दिया है “ मिथ्याज्ञान, दोष, प्रवृत्ति, जन्म, दुःख इन सब का लगातार विद्यमान रहना संसार कहाता है ” यह वात्स्यायन ऋषि का कहा संसार का लक्षण सभी यहां संघटित ही जाता है । जन्म से लेकर मरण पर्यन्त जितना व्यवहार जीवन सिद्धि के लिये प्राणी करते हैं वह सभी दुःख से व्याप्त और कभी दुःख से विमुक्त पृथक् होने वाला नहीं है । सो सभी दुःख मिश्रित और दुःखमय है अर्थात् ओही ! आश्चर्य कैसा अपार संसार सागर दुःख से ठ-

साठस भरा है ऐसा जो सम्यक् देखता जानता है वह उदासीन होता उदासीन होके विरक्त और ठीक विरक्त होने पर मुक्त होता है । जैसे कोई पुरुष किसी घर देश वा स्थान में ध्यान देकर दुःख की अधिकता देखता है तभी उस का स्वीकार न करने पर उस से होने वाले दुःख से भी छूट ही जाता है । कोई किसी पदार्थ को दुःख का हेतु न जानता हुआ उस से कदापि उदास नहीं होता और न उदास हुए बिना कोई विरक्त होता है और न वैराग्य हुए बिना कोई कभी मुक्त हो सकता है । तिस से सिद्ध हुआ कि संसार का संसारत्व के साथ उक्त प्रकार ध्यान दृष्टि से निरीक्षण करना ही परम्परागत मोक्ष का मूल कारण है क्योंकि विष का विष होना जानता हुआ ही विषभक्षण से विरक्त होता तभी विष से होने वाले दुःख से छूटता है । इसी से दुःख से डरा हुआ दुःख के कारण को देखता हुआ छूट जाता है तिस से संन्यासी को कहे अनुसार संसार का ईक्षण करना ही चाहिये ॥ ६५ ॥

दूषितोऽपि च रेदूर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।

समः सर्वेषु भूतेषु नलिङ्गं धर्मकारणम् ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।

न नामग्रहणादेव तस्य वारिप्रसीदति ॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनिवासदा ।

शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥

अह्नारात्र्या च याञ्जन्तून्निहनस्त्यजानतो यतिः ।

तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् ।

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।

व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमंतपः ॥

दह्यन्ते धमायमानानां धातूनां हियथामलाः ।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥
 प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ॥
 प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥
 उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
 ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिरस्यान्तरात्मनः ॥
 सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
 दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥
 अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
 तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीहतत्पदम् ॥७५॥

अ०-यत्र तत्र कस्मिन्नप्याश्रमे रतश्चाश्रमलिङ्गत्यागा-
 द्दूषितोऽपि सर्वेषु भूतेषु प्राणिषु समदर्शनः सन् लिङ्गं ध-
 र्मकारणं नास्तीति मत्वा धर्मं चरेत् नान्यैर्दूषितश्चात्मा-
 नमवमन्येत । यद्यपि कतकवृक्षस्य निर्मल्याः फलमम्बुप्र-
 सादकं शोधकमस्ति तथापि तस्य नामग्रहणादेव वारि न
 प्रसीदत्यपितु तदानीय पिष्टोदके यदा क्षिप्यते तदा प्रसी-
 दति तद्वल्लिङ्गं धृत्वाऽधृत्वा वा सर्वथापि कृतसाधनो वि-
 रक्तः सिध्यत्येव । रात्रावहनि वा सदा शरीरस्यात्यये पी-
 डितेऽपि शरीरे जन्तूनां संरक्षणार्थं वसुधां समीक्ष्य सम्यक्
 पश्यन् चरेत् । यतिरज्ञानतोऽह्ना रात्र्या च यान् जन्तून्
 हिनस्ति तेषां हिंसादोषविशुद्ध्यर्थं स्नात्वा षट्प्राणायामान्
 चरेत् । व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विधिवत्कृतास्त्रयोऽपि प्राणाः

यामा ब्राह्मणस्य परमं तपो विज्ञेयम् । यथा धमायमानानां
घातूनां मला दह्यन्ते तथा प्राणस्य निग्रहात्प्राणायामा-
भ्यासादिन्द्रियाणां दोषा दह्यन्ते । प्राणायामैरागद्वेषादिदो-
षान् धारणाभिश्च योगप्रतिबन्धि किल्बिषं प्रत्याहारेण
विषयेभ्यइन्द्रियाणां प्रत्यावर्त्तनेन विषयेन्द्रियसंयोगान्ध्या-
नेनानीश्वरान् कामक्रोधादिगुणानीश्वरस्य ध्यानेन दहेत् ।
उच्चावचेषु भूतेष्वकृतात्मभिर्दुर्ज्ञेयामस्यान्तरात्मनो गतिं
ध्यानयोगेन सम्पश्येत् । सम्यग्दर्शनसम्पन्नः सम्यक्तत्त्वं
जानानो दर्शनशास्त्रमर्मज्ञः संन्यासी कर्मभिर्न निबध्यते
दर्शनेन तत्त्वज्ञानेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यतएव, अहिं-
सया सर्वथा हिंसात्यागेनेन्द्रियासङ्गैरिन्द्रियाणां वशीकरणै-
र्वैदिकैर्यज्ञादिकर्मभिरुग्रैस्तपसश्चरणैश्चैह संयतात्मानो म-
नीषिणास्तत्पदं तत्त्वज्ञानं सर्वदुःखेभ्यो मोक्षकं साधयन्ति
तत्त्वज्ञानस्य मुक्तेश्चैदमेव साधनम् ॥

भा०—अत्र लिङ्गस्य प्राधान्यवारणे प्रयोजनं नतु लिङ्ग-
वैयर्थ्यप्रदर्शने तात्पर्यमस्ति । लिङ्गं धृत्वाऽपि कश्चिदनर्थं
करोति कश्चिच्च लिङ्गमन्तरेणापि तत्कार्यं साधयति । एवं
सति वैयर्थ्यं लिङ्गस्य स्यात् । यो लिङ्गं धृत्वा तात्पर्येण साध-
नान्यनुतिष्ठति स त्यक्तलिङ्गात्साधनतत्परात्साधुतरः । यश्च
लिङ्गं धृत्वाप्यनर्थं करोति सोऽपि त्यक्तलिङ्गादनर्थकारि-
णो वरइति विचारेणोभयथापि लिङ्गधारणमवितथम् ।
लिङ्गमन्तरेण न तदाश्रमकृत्यं कुर्यामिति न मन्येतापितु
तदानीमपि धर्ममेवाचरेदित्याशयः । सर्वपापानां मूलं का-

रणं हिंसा तां सर्वथा प्रयत्नेन विवर्जयेत् । अतएवाहिंसा
 परमो धर्मः स च सेव्यमानो मोक्षस्य मूलं भवति । प्राणा-
 यामैरिन्द्रियदोषदाहाज्ज्ञानं वर्धते ततोऽग्रेऽग्रे ज्ञानजन्यप्र-
 काशेन हिंसादोषादपि यतिर्निवर्त्तते । प्राणायामैरिन्द्रिय-
 दोषाभावे धारणादिभिः किल्बिषादयः स्वतएव निवर्त्तन्ते
 प्राणायामे च सम्यक् सिद्धे धारणादीनां कार्यत्वादस्त्येव सु-
 लभत्वम् । यो हि ध्यानेनान्तरात्मगतिं पश्यति सर्वविध-
 प्राणिषु कथमयमन्तरात्मा प्रविष्टो निब्रहुश्चेति ध्यानयो-
 गेन यः पश्यति स आत्मज्ञः सन् तत्त्वज्ञो भवति । सएव
 धर्मानुष्ठानस्य सीमानं प्राप्तः सम्यग्विदितवेद्योऽनामयं मो-
 क्षपदं प्राप्नोति नान्यः ॥ ७५ ॥

भाषार्थः—(यत्रतत्राश्रमे रतः) जिस किसी आश्रम के कार्य में लगा तत्पर
 रहता हुआ पुरुष (दूषितोऽपि सर्वेषु भूतेषु समः) संन्यासादि आश्रम के चिह्नों
 का धारण न करने वा त्याग देने से अन्यो द्वारा दूषित निन्दित हुआ भी सब
 प्राणियों में सम दृष्टि रखता हुआ (लिङ्गं धर्मकारणं न) चिह्न धर्म का कारण
 नहीं है ऐसा मान कर (धर्मं चरेत्) धर्मावरण ही करे किन्तु अन्यो के दूषित
 कर देने पर अपने आत्मा में श्लानि करके निकृष्ट कर्म न करे (यद्यपि कतक-
 वृक्षस्य फलमम्बुप्रसादकम्) यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल की शोधने वाला
 है तथापि (तस्य नामग्रहणादेव वारि न प्रसीदति) उस फल का नाम लेनेमात्र
 से जल प्रसन्न नहीं होता किन्तु उसको लाकर पीसके जब जल में छोड़ा जाता
 तब जल की मलिनता को छांट कर जल को शुद्ध करता है । उसी के तुल्य
 आश्रम के चिह्न धारण कर वा न करके सब ही दशा में उत्तम साधनों का सेवन
 करने वाला विरक्तमनुष्य सिद्धि को प्राप्त हो ही जाता है (रात्रावहनि वा सदा)
 रात्रि वा दिन में सभी समय में (शरीरस्यात्यये चैव) शरीर के पीड़ित होने
 पर भी (जन्तूनां संरक्षणार्थं वसुधां समीक्ष्य चरेत्) जीव जन्तुओं की रक्षा के
 लिये पृथिवी को ठीक २ देख कर संन्यासी चला करे किन्तु ऊपर को मुख उठा

कर न चला करे (यतिरज्ञानतोऽह्वा रात्र्या च यान् जन्तून् हिनस्ति) संन्यासी दिन वा रात्रि में बिना जाने जिन जीवों को मारता है (तेषां विशुद्ध्यर्थं स्नात्वा षट्प्राणायामान् चरेत्) उन सम्बन्धी हिंसा दोष की निवृत्ति के लिये स्नान करके षट् प्राणायाम करे (व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विधिवत्कृतास्त्रयोऽपि प्राणायामाः) व्याहृति और प्रणव से युक्त विधिपूर्वक ठीक २ किये हुए तीन भी प्राणायाम (ब्राह्मणस्य परमं तपो विज्ञेयम्) ब्राह्मण के कर्त्तव्य में प्रसोत्तम तप वा शोधक जानो (यथा धमायमानानां धातूनां मला दह्यन्ते) जैसे अग्नि में धर के धोंके हुए सुवर्ण आदि धातुओं के मल भस्म होजाते हैं (तथा प्राणस्य निग्रहादिन्द्रियाणां दोषा दह्यन्ते) वैसे प्राण के रोकने रूप प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत हो जाते हैं (प्राणायामैर्दोषाभ्यारणाभिश्च किल्बिषम्) प्राणायामों द्वारा रागद्वेषादि दोषों, धारणाओं के द्वारा योग के विरोधी कलमष-पाप को (प्रत्याहारेण संसर्गान्) विषयों की ओर भागने से इन्द्रियों को लौटाने द्वारा सङ्गजन्य दोषों को और (ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् दहेत्) ईश्वर के ध्यान द्वारा ईश्वर प्राप्ति में मुख्य विघ्नकारी वा जो ईश्वर में सर्वथा ही नहीं हैं ऐसे काम क्रोधादि अनीश्वर गुणों को [जिन की ओर अधिक झुकने वाला जन स्वयं भी ईश्वरपन-स्वामिपन से च्युत होजाता है] नष्ट-भस्मीभूत कर देवे अर्थात् जल में अग्नि को बुता देने के समान प्राणायामादि में रागद्वेषादि को नष्ट करने की स्वाभाविक शक्ति है यही इस धर्म की व्यापकता जानो (उच्चावचेषु भूतेष्वकृतात्मभिर्दुर्ज्ञेयामस्यान्तरात्मनो गतिम्) ऊंचे नीचे सब प्राणिदेहों में विद्यमान मूर्ख लोगों को न जानने योग्य इस अन्तरात्मा जीव की दशा [हालत] को (ध्यानयोगेन संपश्येत्) ध्यानरूप योगाभ्यास द्वारा विचारपूर्वक अपने अन्तःकरण में देखे और शीचे (सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते) दर्शन शास्त्रों का मर्मज्ञ ठीक २ तत्त्व जानता हुआ संन्यासी कर्मों से होने वाली वासनाओं से आगे के लिये बद्ध नहीं होता अर्थात् उस के लिये वर्त्तमान के कर्म भविष्यत्-होने वाले बन्ध के हेतु नहीं होते (दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते) और तत्त्वज्ञान से रहित शून्य संन्यासी संसार के प्रवाह में ही पड़ जाता है मुक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता (अहिंसयेन्द्रियासङ्गैः) सर्वथा हिंसा के त्याग और इन्द्रियों को वशीभूत करने द्वारा (वैदिकैश्चैव कर्मभिः) वेदोक्त अग्निहोत्र स्वाध्यायादि कर्मों के सेवन से (उग्रैस्तपसश्चरन्तश्च) और उग्र-कठोर तप करने द्वारा (इह तत्पदं साधयन्ति) संप्र-

म से रहने वाले विद्वान् विरक्त लोग सब दुःखों से कुड़ाने वाले तत्त्वज्ञानरूप जीवन्मुक्ति के अधिकार को इसी जन्म वा शरीर में सिद्ध कर लेते हैं ॥

भा०-यहां चिह्न की प्रधानता हटाना प्रयोजन है किन्तु चिह्न की व्यर्थता दिखाना यहां इष्ट नहीं है। क्योंकि चिह्न धारण करके भी कोई अनर्थ करता और कोई चिह्न धारण किये बिना भी विरक्त संन्यासी हो जाता अर्थात् पूर्ण विरक्तता के काम करता है। ऐसा होने पर वेध धारण करना व्यर्थ ही सो नहीं क्योंकि जो पुरुष संन्यास का वेध धारण कर तत्परता से ज्ञान वैराग्य के साधनों का अनुष्ठान करता है वह वेध छोड़ के तत्परता से साधनों का अनुष्ठान करने वाले से बहुत अच्छा है। और जो चिह्न धारण करके भी अनर्थ करता है वह भी चिह्नों को त्याग के अनर्थ करने वाले से अच्छा न्यून अनर्थकारी होगा अर्थात् वेध धारण सुकृत करने में कुछ सहायक होगा और दुष्कृत में बाधा पहुंचावेगा। इस से विचारपूर्वक देखो तो दोनों प्रकार संन्यासादि का वेधधारण निरर्थक नहीं किन्तु उपयोगी है। चिह्न धारण किये बिना उस आश्रम का कृत्य कर्तुं ही नहीं यह न माने किन्तु तब भी धर्म का ही आचरण करे यह आशय जानो। सब पापों का मूल कारण हिंसा है उस को सब प्रकार प्रयत्न के साथ छोड़ देवे इसी कारण अहिंसा सर्वोपरि परमोत्तम धर्म है वह सेवन किया हुआ मुक्ति का मूल कारण होता है प्राणायामों द्वारा इन्द्रियों के दोषों का नाश होने से ज्ञान बढ़ता है तिस से आगे २ ज्ञानजन्य प्रकाश से अज्ञान द्वारा होने वाले हिंसादि दोष से भी संन्यासी निवृत्त होता जाता है। प्राणायामों द्वारा इन्द्रियों के दोष नष्ट होने पर धारणादि के द्वारा किल्बिषादि स्वयमेव निवृत्त हो जाते हैं। और प्राणायाम के ठीक सिद्ध होने पर धारणादि प्राणायाम के कार्य होने से सुलभ होजाते हैं। जो पुरुष ध्यान के साथ अन्तरात्मा की दशा को देखता है सब प्रकार के प्राणियों में यह अन्तरात्मा कैसे प्रविष्ट वा निवृत्त हुआ इस प्रकार ध्यानयोग से जो देखता है वह आत्मज्ञ हुआ तत्त्वज्ञानी होजाता है वही धर्मानुष्ठान की सीमा को प्राप्त हुआ सम्यग् जानने वाला निरुपद्रव मोक्ष पद को प्राप्त होता है अन्य नहीं ॥ ७५ ॥

**अस्थिरस्थूणांस्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धुर्गन्धि पूर्णमूत्रपुरीषयोः ॥**

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिसंत्यजेत् ॥
नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
तथा त्यजन्निमंदेहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विसुच्यते ॥
प्रियेषु स्वेषु सुकृत-सप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येतिसनातनम् ॥
यदाभावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥
अनेन विधिना सर्वा-स्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥
ध्यानिकं सर्वमेवैत-द्यदेतदभिषुब्धितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्-क्रियाफलमुपाश्नुते
अधियज्ञं ब्रह्मजपे-दाधिदैविकमेव च ।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥
इदं शरणमज्ञाना-मिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्ग-मिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥
अनेन क्रमयोगेन परिव्रजतियो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

एषधर्मोऽनुशिष्टोवो यतीनांनियतात्मनाम् ।
वेदसंन्यासिकानांतु कर्मयोगंनिबोधत ॥८६॥

अ०-अस्थीन्येव स्थूणाइवास्मिन् स्नायुभिर्युतं मिश्रितं चर्मणावनद्धं बहिःश्छादितं मांसशोणिताभ्यामुपलिप्तं मूत्रपुरीषयोर्मूत्रपुरीषाभ्यां पूर्णमतएव दुर्गन्धि जरावस्थया शोकेन च समाविष्टं विविधरोगाणामाधारं क्षुत्पिपासादिभिरातुरं रजोमूत्रादिमालिन्यनिःसरणशीलं विनश्वरस्वभावं पृथिव्यादिभूतानामावासस्थानं जीवस्य गृहमिवेदं शरीरं त्यजेत् । वृक्षो यथा नदीकूलं नदीप्रवाहाधीनं त्यजति तद्वत्कर्माधीनं देहपतनं यस्यास्ति तस्य कर्मभोगान्ते शरीरपातान्मोक्षो येन च मृत्युर्वशीकृतः स यथा शकुनिर्वृक्षं त्यजति तथा स्वेच्छया देहं त्यजन् कृच्छ्राद् ग्राहाद् ग्राहसहशाद् भयहेतोर्दुःखाद्विमुच्यते प्रकारद्वयेपि मोक्षस्य साम्यम् । स्वेषु प्रियेषु सुकृतं स्वेष्वप्रियेषु च दुष्कृतं ध्यानयोगेन विसृज्य सनातनं ब्रह्माभ्येति प्राप्नोति । यदा भावेन चेतसा सर्वभावेषु सर्वपदार्थेषु निःस्पृहो भवति तदा प्रेत्य चेह च शाश्वतं सुखमवाप्नोति । अनेन विधिना शनैःशनैः सर्वानसङ्गांस्त्यक्त्वा सर्वैर्मानापमानादिद्वन्द्वैर्विशेषेण निर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते । यदेतदभिशाब्दितमस्थिस्थूणमित्यादि यद्वाचोक्तं तत्सर्वं ध्यानिकमथवा यत्किमपि स्नातकादेः कर्तव्यमुक्तं तत्सर्वं ध्यानिकं ध्यानेन विचारेण यः सम्यग्जानाति सोऽध्यात्मविदेव सर्वस्य क्रियाकाण्डस्य फलमुपाश्नुते यश्च वाङ्मात्रेण कथयति किमपि करोति च नासौ

फलमश्नुते । यदा ध्याने चेतो न लगेत्तदा संन्यासी यज्ञ-
मधिकृत्य ब्रह्म वेदं जपेत्पठेत् । एवमाधिदैविकमाध्यात्मिकं
च वेदान्ताभिहितं ब्रह्म चोपासीत । इदं वेदाध्ययनादिकमेव
ज्ञानवतामज्ञानामिदमेव स्वर्गमन्विच्छतामिदमेवानन्त्यमि-
च्छतां शरणमस्ति । अनेन क्रमयोगेन यो द्विजः परिव्रजति
स इह पाप्मानं विधूयामुत्र परं ब्रह्माधिगच्छति । नियता-
त्मनां यथाकर्तुमिच्छन्ति तथैव शक्तिमतां स्वायत्तानां य-
तीनां परमपदाप्तये यत्मानानां विरक्तानां धर्मा वो युष्म-
भ्यमनुशिष्टो मयेति भृगुराह । वेदसंन्यासिकानां वेदेन ज्ञाने-
नैव संन्यासो येषां नतूपरिष्ठाद्वेषधारणगृहत्यागादिर्यैः क्रि-
यते तेषां कर्मयोगं यूयं श्रोतार ऋषयो निबोधत ॥

भा०—अस्थिस्थूणमित्यादिकथनेन शरीरतत्त्वं तथ्यमेव
मलिनस्वरूपं घृणोत्पादाय प्रदर्शितम् । इयमेव विद्याऽत-
एव योगभाष्यउक्तम्—“स्थानाद्वीजादुपष्टम्भान्निःस्पन्दान्नि-
धनादपि । कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिताह्यशुचिं विदुः ”
इति । नच घृणोत्पत्तिमन्तरेण हर्षपुरस्सरं कस्यापि त्यागः
कर्तुं शक्यते । नदीकूलमित्यादिना च विशिष्टमनित्यत्वं
शरीरस्य प्रदर्शितम् । विशिष्टं नियतं चानित्यत्वं कस्यापि
जानानास्तद्विनाशेनाधिकं शोचन्ति दुःखं वानाऽनुभवन्ति
ध्यानेन मर्मावधि तत्तज्जानानएव यस्तत्तद्विरक्तकृत्यं स-
म्यक्सेवते सएव तस्य कर्मणस्तत्तत्फलमाप्नोति न सर्वः ।
अर्थात्सर्वकृत्ये तत्त्वज्ञानस्य प्राधान्यं मन्येत । तेष्वपि त-
त्त्वज्ञानानुमतकर्तव्ये चत्वारि प्रधानानि मत्वाऽधिक्येन

सेवेत । पञ्चमहायज्ञादियज्ञेषु वेदाध्ययनरूपं ब्रह्मयज्ञं श्रेष्ठेषु देवान् प्रकाशप्रधानान्सेवेत । शरीरस्यान्तर्विद्यमानेष्वात्मानमन्विच्छेद्देदान्ताभिहितमेकं ब्रह्म चोपासीत । इदमेव कृत्यं सर्वस्य सर्वदा सर्वथा सर्वापेक्षयाऽऽधिक्येन सुखकरमस्ति । एवमाचरन्नेव यः परिगृहीतं सर्वं सांसारिकं दुःखहेतुकं हित्वा संन्यस्यति स शुद्धः शुद्धं ब्रह्माऽऽप्नोति । एवं चानिष्टहानेनेष्टावाप्तिः सुकरा ॥ ८६ ॥

भाषार्थः—(अस्थिस्यूणं स्नायुयुतम्) संन्यासी इस शरीर को—हड्डियों की जिस में थूनी [थुनकियां] लगी हैं नसों रूप रस्सियों से बंधे (मांसशोणित-लेपनम्) मांस का जिस में लेस किया और उस के ऊपर लोहू से लीपे (चर्मावनतुं मूत्रपुरीषयोः पूर्णं दुर्गन्धि) उस के भी ऊपर चमड़ा—खाल से बन्धे और विष्टा मूत्र जिस के भीतर भरा मलमूत्र से पूर्ण इसी से दुर्गन्धयुक्त थोड़ी देर भी न धोने से दुर्गन्ध प्रत्यक्ष जिस में उठता (जराशोकसमाविष्टम्) शिथिल वा वृद्धावस्था और शोक जिस के भीतर मर्माँ में प्रविष्ट हो रहा है जो अपने २ समय प्रत्यक्ष दीखता है (रोगायतनमातुरम्) रोगों का आधार रोग जिस में रहा ही करते हैं तथा सब समय भूख प्यासआदि किसी न किसी प्रकार की चाहना से दुःखित (रजस्वलमनित्यं च) सब समय जिस से छिद्रों द्वारा रज नाम मल निकलता रहता है और अनित्य जिस का पता नहीं कि कब तक खड़ा है और कब गिर जायगा (भूतावासमिमं त्यजेत्) पांच महाभूत जिस में रहते हैं ऐसे जीवात्मा के इस घर को महामलिन त्याज्य समझता हुआ संन्यासी त्यागने की इच्छा करे वा शरीर छूटने का समय आजायें तब ऐसे विचार से इस को छोड़े (वृक्षो यथा नदीकूलम्) नदी के किनारे को जैसे वृक्ष (वृक्षं वा शकुनिर्यथा) अथवा जैसे पक्षी वृक्ष को त्यागता है (तथेमं देहं त्यजन् कच्छाद् ग्राहद्विमुच्यते) वैसे इस शरीर को त्यागता हुआ बड़े भयङ्कर ग्राह से छूट जाता है अर्थात् जब कर्म भोगने पश्चात् धीरे २ पराधीन दशा में [जैसे कि प्रवाह के आधीन वृक्ष का गिरना है] शरीर छोड़ता है तब नदी किनारे को वृक्ष के समान और वृक्ष को पक्षी के समान शरीर को छोड़ता है तब मृत्यु को अपने आधीन ब्रशीभूत कर लेने से जब चाहता है तभी शरीर वृक्ष को छोड़ के उड़

जाता है । दोनों दशा में कष्टग्रह से छूटना समान ही है पर विदेहमुक्ति से पूर्व जीवन्मुक्त दशा में दोनों का भेद रहता है (स्वेषु प्रियेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतं ध्यानयोगेन विसृज्य) संन्यासी शरीर छोड़ते समय अपने मित्रादि प्रिय उपकारियों में अपने संचित पुण्य को और अपने शत्रु आदि अप्रिय कुपियारे अनुपकारियों में ध्यान योग से दुष्कृत नाम संचित पाप को छोड़ के यदि शरीर त्यागता है तो (सनातनं ब्रह्माभ्येति) सनातन ब्रह्म नाम सदा से बड़े श्रेष्ठ ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है [यद्यपि विरक्त संन्यासी की ओर से कोई भी शत्रु वा मित्र नहीं हो सकता और जो हो सकता है तो उस को संन्यासी नहीं कह सकते तथापि संन्यासी किसी से रागद्वेष न करे तब भी कोई २ लोग स्वभाव से उस का कृतकार्य सुखी होना चाहते और कोई स्वभाव से ही उस का बुरा होना चाहते हैं इस से वे शत्रु मित्र कहांवेंगे इसी से संन्यासी जब सुकृत दुष्कृत दोनों को सत्य चित्त से त्यागता है तब न्यायानुसार जो २ उस के विषय में अच्छा वा बुरा जैसा चाहता था उस २को अपनी २ चाहना रूप कर्मानुसार वह २ फल मिला सो अनुचित नहीं है] (यदा भावेन सर्वभावेषु निःस्पृहो भवति) जब चित्त से सब पदार्थों में तृष्णा छोड़ देता है (तदा प्रेत्य चेह च शाश्वतं सुखमवाप्नोति) तब इस जन्म और जन्मान्तर में सनातन नित्य सुख को प्राप्त होता है (अनेन विधिना शनैःशनैः सर्वान्सङ्गांस्त्यक्त्वा) इस उक्त प्रकार से धीरे २ सब फसावटों वा बन्धनों को त्याग के (सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते) सब मानापमानादि द्वन्द्वों से विशेष कर छूटा हुआ ब्रह्म नाम परमात्मा में ही अवस्थित होता है (यदेतदभिशब्दितं सर्वमेवैतद्दधानिकम्) हड्डी की थूनी आदि जो कुछ यहां कहा है अथवा ब्रह्मचारी सनातकादि का जो कुछ कर्तव्य इस शास्त्र में कहा है वह सब ध्यानगम्य है जो उस को ठीक २ ध्यान देके विचारता है वही उस २ विषय का मर्मज्ञ पुरुष उस २ कर्म का यथार्थ परिणाम वा फल देखता है किन्तु (अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलं न ह्युपाश्रुते) भीतर से ठीक न जानने वाला उस कर्म को ऐसा नहीं कर पाता जिस का उचित फल मिले इसी से उस को क्रिया का फल प्राप्त नहीं होता (अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च) अग्निहोत्रादि क्रिया यज्ञ के छोड़ देने पर भी जब ध्यानादि में चित्त न लगे तब संन्यासी यज्ञ विषय का जिस में वर्णन है ऐसे ब्रह्म नाम वेद का तथा अग्नि आदि देवताओं के गुण वर्णन विषयक वेद का (आध्यात्मिकं च सततम्) तथा अपने भीतरी मन बुद्धि आदि के वर्णन वाले शिवसंकरष सूक्तादि वेद भाग का और (वेदान्ताभि-

हितं च यत्) वेदान्त में जिस एक ईश्वर के सहस्रव का वर्णन है उस विषयक वेद मंत्रों का जप पाठ बड़ी लाग से किया करे (इदमज्ञानामिदमेव विजानतां शरणम्) यही उक्त वेदाध्ययनादि कर्म अज्ञानी वा ज्ञानवानों का भी बड़ा आश्रय-आधार-ठहरने के लिये बड़ा सहारा है (इदमन्विच्छतां स्वर्गम्) यही सुख खोजने वालों को स्वर्ग देने वाला (इदमानन्त्यमिच्छताम्) और अनन्त मुक्ति सुख चाहने वालों को यही मुक्ति दाता है (अनेन क्रमयोगेन यो द्विजः परिव्रजति) इस क्रम से सेवन किये योगाभ्यास के साथ जो ब्राह्मण संन्यास लेता है (स इह पाप्मानं विधूय परं ब्रह्माधिगच्छति) वह यहां इसी जन्म वा शरीर में पूर्व से विद्यमान पाप को छुड़के जन्मान्तर में पर ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है (नियतात्मनां यतीनामेष धर्मा वोऽनुशिष्टः) जैसा चाहते वैसा करने को समर्थ स्वाधीन इन्द्रियों को सर्वथा वशीभूत रखने वाले परमपद मुक्ति को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न वा श्रम करते हुए विरक्त संन्यासियों का यह उक्त धर्म में [भृगु] ने तुम श्रोता ऋषि लोगों से कहा (वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत) वेद नाम ज्ञान से ही जिन का फल भोग विषय में संन्यास है किन्तु घर छोड़ने और वेप धारण करने द्वारा जो संन्यासी नहीं हुए उन का कर्त्तव्य कर्मयोग वा क्रियायोग आगे कहा तुम सुनो ॥

भा०-हड्डी ही घूनी हैं इत्यादि कथन से मलिनतारूप सत्य २ शरीर का स्वरूप घृणा उत्पन्न होने के लिये दिखाया है। यही विद्या है इसी कारण योग भाष्य में कहा है कि «माता के मलमूत्रादियुक्त घृणित गर्भाशय में उत्पन्न होने, शुक्र-वीर्य और रुधिर से बनने, खाये पिये से बने रस रुधिरादि से ठहरने, हर तार इन्द्रिय छिद्रों से मल निकलने, मुर्दा की बड़ी अशुद्धि होने और शरीर शुद्धि का विशेष विधान होने से पण्डित लोग शरीर को अशुद्ध अपवित्र मानते हैं» और किसी वस्तु में घृणा उत्पन्न हुए बिना उस को हर्ष पूर्वक कोई भी त्याग नहीं सकता। नदी तट के वृक्ष की उपमा देने आदि से शरीर की विशेष कर अनित्यता दिखायी है। किसी वस्तु का विशेष और निश्चित अनित्यत्व जानते हुए ज्ञानी ही उसके विनाश वा वियोग में अधिक शोक वा दुःख नहीं मानते। ध्यान के साथ मर्म पर्यन्त उस २ विषय को जानता हुआ ही जो उस २ विरक्त के कर्त्तव्य का ठीक २ सेवन करता है वही उस कर्म के उस २ फल को प्राप्त होता है, अन्य सब कोई नहीं अर्थात् सब कर्त्तव्य में तत्त्वज्ञान

की प्रधानता माने । उन तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत कर्त्तव्यों में भी चार कर्त्तव्यों को प्रधान मान के अधिकता से सेवन करे । यज्ञविषय में ब्रह्मयज्ञ का और श्रेष्ठों में प्रकाश प्रधान देवताओं का सेवन स्तुति आदि, शरीर के भीतर विद्यमानों में आत्मा का खोज और वेदान्त में कहे एक ब्रह्म की उपासना किया करे । यही कर्त्तव्य सब के लिये सब काल में सब प्रकार से सब की अपेक्षा अधिक सुखकारी है । ऐसा आचरण करता हुआ ही जो ग्रहण किये सांसारिक दुःख हेतु सब विषय को त्याग के संन्यास लेता है वह शुद्ध हुआ शुद्ध सनातनब्रह्म का प्राप्त होता है इस प्रकार अनिष्ट के त्याग द्वारा वृष्ट की प्राप्ति सुलभ है ॥८६॥

ब्रह्मचारीगृहस्थश्च वानप्रस्थोयतिस्तथा ।

एतेगृहस्थप्रभवा—श्चत्वारःपृथगाश्रमाः ॥

सर्वेऽपिक्रमशस्त्वते यथाशास्त्रंनिषेविताः ।

यथोक्तकारिणांविप्रं नयन्तिपरमांगतिम् ॥

सर्वेषामपिचैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।

गृहस्थउच्यतेश्रेष्ठः सत्रीनेतान्विभर्त्तिहि ॥

यथानदीनदाःसर्वे सागरेयान्तिसंस्थितिम् ।

तथैवाश्रमिणःसर्वे गृहस्थेयान्तिसंस्थितिम् ॥

चतुर्भिरपिचैवैतै—नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।

दशलक्षणकोधर्मः सेवितव्यःप्रयत्नतः ॥

धृतिःसमादसोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकंधर्मलक्षणम् ॥

दशलक्षणानिधर्मस्य येविप्राःसमधीयते ।

अधीत्यचानुवर्त्तन्ते तेयान्तिपरमांगतिम् ॥

दशलक्षणकंधर्म-मनुतिष्ठन्समाहितः ।
 वेदान्तंविधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणोद्विजः ॥
 संन्यस्यसर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।
 नियतोवेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्यैसुखंवसेत् ॥

[संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकंनसंन्यसेत् ।

वेदसंन्यासतःशूद्र-स्तस्माद्वेदंनसंन्यसेत् ॥]

एवंसंन्यस्यकर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।
 संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोतिपरमांगतिम् ॥
 एषवोऽभिहितोधर्मा ब्राह्मणस्यचतुर्विधः ।
 पण्योऽक्षयफलःप्रेत्य राज्ञांधर्मनिबोधत ॥८७॥
 इति श्रीमानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां
 संहितायां वानप्रस्थसंन्यासवर्णनो नाम
 षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥

अ०-ब्रह्मचर्यादयश्चत्वारः पृथक्पृथगाश्रमा गृहस्थ-
 प्रभवा गृहस्थादुत्पन्ना एवान्याश्रमिणो भवन्ति । सर्वेऽप्या-
 श्रमा यथाशास्त्रं शास्त्रविध्यनुकूलं क्रमशो निषेविता य-
 थोक्तकारिणं विप्रं परमां गतिं नयन्ति । स्वतोऽन्यस्याश्र-
 मत्रयस्य भरणात्परोपकारधर्मस्याधिक्याद् गृहस्थोऽन्यापे-
 क्षया श्रेष्ठ उच्यते । यथा सर्वे नदीनदा गच्छन्तः सागरे
 संस्थितिं यान्ति तथैव सर्वआश्रमिणो गृहस्थे संस्थितिं
 यान्ति भिक्षादिनिर्वाहस्य गृहस्थाधीनत्वात् । यद्वा संस्थितिं

मरणां प्राप्ता गृहस्थएव जायन्ते । चतुर्भिरपि चैवैतैराश्र-
मिभिर्द्विजैर्दशलक्षणको धर्मः प्रयत्नतः सेवितव्यः । धर्मस्य धृ-
त्यादीनि दशलक्षणानि ये विप्राः समधीयते सम्यक् स्मर-
न्ति जानन्ति पठन्ति च स्मृत्वा च तदनुकूलं वर्तन्ते सर्वदा
धृत्यादिकं रक्षयन्तएव व्यवहरन्ति ते परमां गतिं यान्ति ।
समाहितो दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् वेदान्तं च विधिवच्छ्रु-
त्वा गुरुमुखादधीत्य वेदस्यान्तं सिद्धान्तं समधिगम्यान्तः
सन् द्विजः संन्यसेत्—वेदाभ्याससन्ध्योपासनाद्यतिरिक्तम-
खिलं कर्म त्यजेत् । वेदाध्ययनादावेव रमेत । कर्मदोषानपा-
नुदन् सर्वकर्माणि संन्यस्य नियतो जितेन्द्रियः सन् वेदमभ्यस्य
वेदाभ्यासमेव केवलं कर्मानुतिष्ठन् पुत्रस्यैश्वर्यं पुत्रतएव भि-
क्षादिकं निर्वाहमात्रं स्वीकुर्वन् वृत्तिचिन्तारहितः सुखं यथा
स्यात्तथा वसेत् । अत्रैवैकं पदं पश्चात्क्षिप्रमुपलभ्यते तस्यार्थः
प्राकृतेऽवलोक्यः । एवं कर्माण्युपार्जनादिपराणि संन्यस्य
स्वस्य कार्यं स्वाध्यायाभ्यसनमेव परमं प्रकृष्टमस्य तादृशोऽ-
स्पृह ईप्सारहितः संन्यासेन सर्वमेनोऽपहत्य परमां गतिं
प्राप्नोति । ब्राह्मणस्यैष ब्रह्मचर्याद्याश्रमचतुष्टयकृत्यरूपः
पुण्यः पवित्रः प्रेत्याऽक्षयफलश्रुतिर्विधो धर्मा वो युष्मभ्य-
मभिहितोऽग्रे राज्ञां क्षत्रियाणां धर्ममुच्यमानं यूयं निबो-
धत जानीत ॥

भा०—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मइति कथनाद्दु-
र्माचरणमेव मोक्षस्यापि कारणम् । ज्ञानान्मोक्षइति कथ-
मप्यविरुद्धमेव विद्यारूपेण ज्ञानस्यापि धर्मत्वात् । धर्मश्च
परोपकारलक्षणस्तस्य चान्याश्रमापेक्षया गृहाश्रमे प्राधा-

न्यमिति कृत्वा गृहस्थस्य श्रेष्ठ्यम् । विद्यमानेष्वपि भोगेषु
 यः सर्वं परित्यजेदिन्द्रियाणि वशीकुर्वीत स वने निस्सृता-
 प्राप्तभोगपुरुषापेक्षया श्रेष्ठइति कृत्वाऽपि वेदसंन्यासिनोऽत्र
 प्राधान्यम् । तथा चोक्तं महाभारतशान्तिपर्वणि मोक्षधर्म
 पर्वणि «तपोवनेषु ये जातास्तत्रैव निधनं गताः । तेषाम-
 ल्पतरो धर्मः कामभोगानजानताम् ॥ यस्तु भोगान् परित्यज्य
 शरीरेण तपश्चरेत् । न तेन किञ्चिन्न प्राप्तं तन्मे बहुमतं फ-
 लम् ॥ अ० ३२१» सर्वाश्रमेषु धर्मएव परमपदाप्तेः प्रधानं
 कारणमतएवान्याश्रमेष्ववस्थितस्यापि प्राधान्येन धर्मरत-
 स्य परमपदाप्तिः सुलभैव मन्तव्या । धृत्यादिधर्मलक्षणानां
 बहुविधं तारतम्यं काष्ठां गतं च धृत्यादीनां सेवनं निःश्रे-
 यसहेतुकं जायते । मध्यमास्तु संसारे धर्मपदवाच्यास्ततोऽ-
 वकृष्ठास्तु न धृत्यादिपक्षेऽपि परिगणयन्ते । सर्वथा तु क-
 र्मान्तराणां शैथिल्येन त्यागेन वा यत्रकुत्राप्याश्रमे तिष्ठन्
 केवलं स्वाध्याययज्ञरूपं वेदाभ्यासं सर्वात्मना कुर्वन् संसारे
 परत्र च सर्वत्रैव निःश्रेयससुखमाप्नोत्यतएवाधियज्ञं ब्रह्म ज-
 पेदित्यादिना निस्सृतसंन्यासिनेऽपि तदुक्तं तदेव सर्वैः सर्वा-
 त्मना सेव्यमिति ॥९७॥

भाषार्थः—(ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा) ब्रह्मचारी, गृहस्थ,
 वानप्रस्थ और संन्यासी (एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारःपृथगाश्रमाः) ये सब गृहस्थ
 से उत्पन्न होने वाले पृथक् २ चार आश्रम हैं (यथाशास्त्रं क्रमशो निषेविताः
 सर्वेऽप्येते) शास्त्रों में कहे अनुसार क्रम से सेवन किये [प्रथम संन्यासी होके
 फिर गृहस्थ हो इत्यादि क्रम से विरुद्ध अक्रम है] उक्त ये चारो आश्रम (यथो-
 स्तकारिणं विप्रं परमां गतिं नयन्ति) उस २ आश्रम द्वितीयाध्यायादि में कहे
 अनुसार सीमापर्यन्त ठीकर सेवन किया ब्रह्मचर्यादि आश्रम धर्म परम गति—
 मक्ति दशा को प्राप्त कराता है (सर्वेषामपि चैतेषाम्) इन सब आश्रमों में

से गृहस्थ (त्रीनेतान् विभर्ति हि) जिस कारण इन ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमियों का भिक्षादि द्वारा भरण पोषण करता है (वेदस्मृतिविधानतः) वेद और स्मृति-धर्मशास्त्रों में जिस के कर्त्तव्य यज्ञादि का विशेष वर्णन है [अर्थात् वेदादि शास्त्रों के अधिक भाग में गृहस्थ का कर्त्तव्य धर्म वर्णित है अन्य तीन का कृत्य दशांश से भी कम है । इसी लिये निरुक्त में लिखा है कि “ अल्पश आध्यात्मिकाः, अध्यात्मविषयक जिन का विषय वानप्रस्थ संन्यास से संबन्ध रखता ऐसे मन्त्र वेद में अत्यल्प हैं । और इसी से ब्राह्मण आरण्यक वा शाखाओं में से थोड़े २ अंश उपनिषद् बने हैं] इस से (स गृहस्थः श्रेष्ठ उच्यते) वह गृहस्थ श्रेष्ठ कहाता है (यथा सर्वे नदीनदाः सागरे संस्थितिं यान्ति) जैसे सब छोटे बड़े नदी नद समुद्र में जाकर ठहरते हैं समुद्र नहीं मिलता तब तक चलते ही जाते हैं (तथैव सर्व आश्रमिणो गृहस्थे संस्थितिं यान्ति) वैसे ही ब्रह्मचारी आदि सब आश्रमी भिक्षादि का निर्वाह गृहस्थ के आधीन होने से भ्रमते २ गृहस्थ के ही समीप जाकर ठहरते हैं अथवा सब की मुक्ति न हो सकने से सरण को प्राप्त हो कर भ्रमते २ गृहस्थ के यहां ही फिर २ जन्म लेते हैं सब दशाश्रमों में आधार होने से गृहस्थ श्रेष्ठ है (चतुर्भिरपि चैवैतैराश्रमिभिर्द्विजैः) इन उक्त चारो आश्रम वाले ब्राह्मणादि द्विजों को (दशलक्षणको धर्मः प्रयत्नतो नित्यं सेवितव्यः) दश चिह्नों वाले वा दश भागों में बंटे धर्म का प्रयत्न से नाम बड़ी लाग से नित्य २ सेवन करना चाहिये (धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्) १-धीरज, २-क्षमा-सहनशीलता, ३-मन को वश में करना, ४-चोरी का त्याग (शौचमिन्द्रियनिग्रहः) ५-शुद्धि-पवित्रता रखना, ६-इन्द्रियों को विषयों की ओर भागने से रोकना (धीर्विद्या सत्यमक्रोधः) ७-हानि लाभ वा परिणाम को शोच विचार के बुद्धिपूर्वक काम करना, ८-वेदादि शास्त्र को पढ़ना और जानना, ९-सत्य बोलना, १०-क्रोध न करना (ये विप्रा धर्मस्य दश लक्षणानि समधीयते) जो ब्राह्मणादि बुद्धिमान् लोग धर्म के उक्त दश लक्षणों को सम्यक् शोचते विचारते कहते जानते हैं (अधीत्य चानुवर्तन्ते ते परमां गतिं यान्ति) और जो पढ़ जान शोच विचार के उन धर्म लक्षणों के अनुकूल वर्त्ताव करते हैं वे परमगति-मोक्ष को प्राप्त होजाते हैं (समाहितो दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्) सावधान चञ्चलता रहित रहता हुआ ब्रह्मचारी आदि दशलक्षण वाले धर्म का सेवन करता हुआ (विधिवद्देदान्तं श्रुत्वा) शास्त्र की आज्ञानुसार वेद के अन्य सिद्धान्त को श्रेष्ठ गुरु के मुख से सुन जान के (अनृणो द्विजः संन्यसेत्) ऋ-

ध्यादि तीनों ऋण चुकाने पश्चात् संन्यासी होवे अर्थात् वेदाभ्यास और सन्ध्यो-पासन जप तप से भिन्न धनोपार्जनादि के सब कर्मों को त्याग देवे केवल वेदाभ्यास में ही मन को रमावे (कर्मदोषानपानुदन्सर्वकर्माणि संन्यस्य) राग द्वेषादि कर्मों के दोषों को अपने से नष्ट करता हुआ सब कृषि व्यापारादि कर्मों को त्याग के अर्थात् जैसे कर्मों का त्याग किये बिना कर्म दोष भी नहीं छूटते इस से कर्म दोषों को छोड़ता हुआ प्रथम कर्मों को ही छोड़े (नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्यं सुखं वसेत्) जितेन्द्रिय होके वेद को पढ़ता केवल वेदाभ्यास ही एक कर्म करता हुआ पुत्र के ऐश्वर्य में नाम घर के समीप कहीं अपने अनुकूल थोड़ा निर्विघ्न स्थान नियत कर वा नवीन कुटी बनवा के उस में बैठे भिक्षादि-निर्वाह पुत्र से चलावे बने विगड़े में कुछ हर्ष शोक वा ममता न रखे इसी का नाम वेदसंन्यास है । इसी के आगे एक श्लोक पीछे से किसी ने मिलाया है उस का अर्थः—संन्यासी सब कर्मों को छोड़ दे पर एक वेदाध्ययन वा वेदाभ्यास वेद मन्त्रों के जप पाठ को न छोड़े क्योंकि वेद के त्यागने से शूद्र हो जाता है तिस से संन्यास लेकर भी वेद को न छोड़े (स्वकार्यपरमोऽस्पृहः) अपने वेदाभ्यास जप पाठरूप कर्म में तत्पर किसी भोग की इच्छा न रखता हुआ (एवं कर्माणि संन्यस्य) इस उक्त प्रकार धनोपार्जनादि सबन्धी कर्मों को त्याग के (संन्यासेनैनोऽपहत्य) संन्यास द्वारा पूर्वसंचित कुवासनाओं का भी नाश करके (परमां गतिं प्राप्नोति) परमगति को प्राप्त हो जाता है (ब्राह्मणस्यैष पुण्यः प्रेत्याऽक्षयफलश्चतुर्विधो धर्माऽवोभिहितः) जन्मान्तर में अक्षय फल देने वाला ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमों का चार प्रकार का कर्त्तव्य पवित्र धर्म में [भृगु] ने तुम श्रोता ऋषि लोगों से कहा (राज्ञां धर्मं निबीधत) अब आगे तीन अध्यायों में क्षत्रिय राजाओं का धर्म कहेंगे उस को तुम लोग सुनो जानो ॥

भा०—जिस से अभ्युदय और निःश्रेयस नाम संसार परमार्थ के सुख की सिद्धि ही वह धर्म है । इस कथन के अनुसार धर्म का आचरण ही मुक्ति का भी कारण है । ज्ञान से मुक्ति होती है यह किसी प्रकार भी विरुद्ध नहीं पड़ता क्योंकि धर्म के दश लक्षणों में जो विद्या है वही अङ्गी वा प्रधान धर्म वही ज्ञान वा तत्त्वज्ञान वही वेदाध्ययन है अन्य धृत्यादि सब उसी विद्या के अङ्ग वा साधन हैं । धर्म का सामान्य कर बड़ा लक्षण परीपकार है । सो हिंसा में परापकार, अहिंसा में परीपकार, चोरी में परापकार चोरीत्याग में परीपकार इत्यादि प्रकार धर्म के सप्त लक्षणों में परीपकार व्याप्त रहता है वह परीपकार

धर्म अन्य आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम में प्रधानता से बन सकता है इसी से गृहस्थ श्रेष्ठ है भोगों के विद्यमान रहते हुए भी जो सब का परित्याग कर इन्द्रियों को वशीभूत करे वह, जिस को बन में निकल जाने के कारण भोग प्राप्त नहीं होते उस त्यागी पुरुष की अपेक्षा श्रेष्ठ है इस के अनुसार वेदसंन्यासी की यहां प्रधानता है। सो महाभारत मोक्षधर्म पर्व ३२१ अ० में लिखा है कि "तपोवनों में जो उत्पन्न हुए और मरण पर्यन्त वहीं रहे उन कामभोगों का भ्रम न जानने वालों की जितेन्द्रियता का धर्म थोड़ा है और जो लोग विद्यमान भोगों को त्याग के तप करते हैं उन का धर्म और फल बड़ा है, सब आश्रमों में परम पद प्राप्ति का कारण धर्म ही प्रधान है इसी से अन्याश्रम में रहते हुए प्रधानता से धर्म में तत्पर पुरुष को भी परमपद—मोक्ष की प्राप्ति सुलभ ही जानो। धृत्यादि धर्म के लक्षण अनेक प्रकार के न्यूनाधिक होते उस में धृत्यादि का असीम दशा तक सेवन करना मोक्ष का हेतु होता है। और मध्यम धृत्यादि संसार में धर्म कहाते तथा उस से भी न्यून धृत्यादि धर्म पक्ष में भी नहीं गिने जाते। सर्वथा अन्य कर्मों की शिथिलता वा त्याग से जिस किसी आश्रम में ठहरा हुआ केवल स्वाध्याय यज्ञरूप वेदाभ्यास को पूरी लाग से करता हुआ संसार वा परमार्थ में सर्वत्र ही निरन्तर कल्याण वा सुख को प्राप्त होता है इसी लिये (यज्ञविषय में वेद को जपे) इत्यादि के अनुसार घर त्याग के निकले संन्यासी के लिये भी वेदाभ्यास कहा है इस से उसी का सब को सब प्रकार सेवन करना चाहिये ॥९७॥



अथोपसंहारः ॥

अस्य धर्मशास्त्रस्याध्यायषट्के पूर्वार्द्धे चातुराश्रम्यधर्मो बहुप्रकारैरुपपादितस्तस्य सर्वस्य समासेनायमाशयः प्राज्ञैरव-
गन्तव्यः—पञ्चमहायज्ञाएव प्रधानो धर्मस्तस्यैवान्यत्सर्वं व्या-
ख्यानम् । प्राकृतनियमेन—सृष्टिक्रमेण निबद्धा व्याप्ताः सा-
मान्या नित्याएव ये यज्ञास्ते महायज्ञाइति महापदेन तेषां
व्याप्तार्थत्वमवगम्यते । सामान्येन च वाचा मुखेन शुभस्य
तथ्यस्य व्याहरणं शुभव्याहरणान्मुखत्वं वा ब्रह्मयज्ञः, अ-
न्यस्य वस्तुनोऽन्यस्मिँल्लयेन शुभफलनिष्पादनं देवयज्ञः,
सन्तानोत्पादनं पितृयज्ञः । इत्यादिप्रकारकान् महायज्ञान्
तिर्यञ्चुः स्थावराश्चापि कथमपि कुर्वन्ति । एवं सर्वत्र सत्ता-
मपि गुणप्रधानभावकृतस्तेषां विशेषइति यत्र प्राधान्येन
महायज्ञाअनुष्ठीयन्ते तत्रैव सत्ताव्यवहारो नान्यत्र । यथा
स्वाभाविकज्ञानस्य सर्वप्राणिषु सत्त्वेऽपि न सर्वे ज्ञानिनो
गच्छन्तेऽपितु प्रकृष्टज्ञानवन्तएव ज्ञानिनएवमिहापि बोध्यम् ।
यथा पञ्चकलेशेष्वविद्या क्षेत्रं सर्वस्योत्पत्तिस्थानं मूलं का-
रणं च तथैवात्रापि ब्रह्मयज्ञः पञ्चमहायज्ञानांमूलं क्षेत्रं चा-
स्मादेवान्ये महायज्ञाः प्रसूयन्ते । स्वाध्यायः, जपयज्ञः, ऋषि-
यज्ञः, वेदाध्ययनम्, वेदाभ्यासः, अध्यापनम् इत्यादीनि
चास्यैवाद्यमहायज्ञस्य नामान्तराणि विज्ञेयानि । धृत्यादीनि
च धर्मलक्षणान्यस्याङ्गभूतानि सहकारीणि साधनानि स-
न्ति । धृत्यादिकं रक्षयन्नेव वेदमभ्यस्येत् । वेदमेव सदा-
भ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमइति ब्रह्मचर्याश्रमप्रकरणे, सर्वान्
परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनइति—यथातथाध्या-

पर्यस्तु साहाय्यस्य कृतकृत्यतेति च गृहिप्रकरणे, स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यादिति वानप्रस्थप्रकरणे । अधियज्ञं ब्रह्मजपेदित्यादिसंन्यासे, इदंशरणमज्ञानामित्यादिसर्वार्थउपसंहारः एवं सर्वत्रर्षियज्ञः संस्तूयते । अभ्युदयं निःश्रेयसं च सर्वं ब्रह्मयज्ञपराएव लभन्ते । चत्वारोऽपि वर्णाः स्वस्वाभीष्टं सुखमभीप्सवः स्वाध्याययज्ञं यथाकथमपि सेवन्तां सेवनार्थं यतन्तां वा । ब्रह्मयज्ञश्च ब्राह्मणस्यैव प्रधानं कृत्यम् । यद्वा यः कौऽप्यन्यत्सर्वं गौणं कृत्वा स्वाध्यायं जपयज्ञमेव प्रधानीकृत्य सेवेत स क्षत्रियादिरपि कालेन ब्राह्मणत्वं लभते यथाविश्वामित्रादिभिः कृतम् । अतः सुखमिच्छता शास्त्राशयेन धर्मस्य मूलं द्रष्टुमनाऽङ्गीकार्यं सेव्यं चेत्यलम् ॥

भाषार्थः—इस धर्मशास्त्र के पूर्वाह्नरूप छः अध्यायों में ब्रह्मचारी आदि चारों आश्रमों का धर्म बहुत प्रकारों से वर्णन वा सिद्ध किया है उस सब का संक्षेप से विद्वानों को यह आशय जानना चाहिये कि—पांच महायज्ञ ही सर्वत्र मुख्य धर्म है और अन्य सब उन्हीं का व्याख्यान है। प्राकृत नियम जो सृष्टिक्रम है उस से संयुक्त व्याप्त सामान्य वा नित्य कर्मरूप जो यज्ञ हैं वे ही महायज्ञ कहाते हैं इस प्रकार यहां महाशब्द से उन यज्ञों का व्याप्तार्थ होना दिखाया है। और सामान्य कर वाणी वा मुख से अपने कल्याणार्थशुभ और सत्य कहना वा कहने की और तत्पर होना यह ब्रह्मयज्ञ, अन्य वस्तु का अन्य में लय करने द्वारा शुभ फल प्रकट करना देवयज्ञ, सन्तानोत्पत्ति करना पितृयज्ञ इत्यादि प्रकार के महायज्ञों को कुछ न कुछ पशवादि तथा स्थावरादि भी करते ही हैं [देवयज्ञों के अनेक अवान्तर भेदों में अग्निहोत्र नामक महायज्ञ को व्याप्त होने से ही याज्ञिक लोगों ने सब अन्य यज्ञों का प्रकृति माना है] इस प्रकार सब चराचर में महायज्ञों के विद्यमान होने पर भी उन के गौण और प्रधान भाव में विशेषता मानी जायगी। जहां प्रधानता से महायज्ञों का अनुष्ठान होता है वहीं उन २ की विद्यमानता का व्यवहार होता अन्यत्र नहीं। जैसे स्वाभाविक ज्ञान के सब प्राणियों में विद्यमान होने पर भी सब ज्ञानी नहीं कहे जाते किन्तु प्रकट

ज्ञान वाले ही ज्ञानी कहाते हैं वैसे यहां भी जानो । जैसे पांच क्षेत्रों में अ-
विद्या सब का खेत सब की उत्पत्ति का स्थान मूल कारण बीजरूप है वैसे यहां
भी ब्रह्मयज्ञ, सब अन्य महायज्ञों का मूलरूप है इसी ब्रह्मयज्ञ से अन्य महायज्ञ
उत्पन्न होते हैं स्वाध्याय, जपयज्ञ, ऋषियज्ञ, वेदाध्ययन, वेदाभ्यास और अ-
ध्यापनयज्ञ आदि इसी पहिले महायज्ञ के नामान्तर जानने चाहिये। और धृति
आदि धर्म के नव लक्षण इसी विद्यारूप अङ्गी के अङ्गभूत सहकारी साधन हैं
इस से धृति आदि को समीप रखता हुआ ही जो वेदाभ्यास वा जपयज्ञ करता
है उसी को ठीक सफलता प्राप्त होती है [इसी से कहा है कि विप्रदुष्ट भाव
वाले का वेदाभ्यासादि निरर्थक है अ० २ । ९७] “तपोरूप ब्रह्मचर्याश्रम करता
हुआ ब्राह्मण वेद का ही सदा अभ्यास करे” यह ब्रह्मवर्ष प्रकरण में “स्वाध्याय
के विरोधी सब लाभों वा कामों को त्याग दे । तथा—जिस किसी प्रकार वेद
का पठन पाठन करने में ही इस गृहस्थ की कृतकृत्यता है ” यह गृहाश्रम प्र-
करण में “स्वाध्यायरूप वेदाभ्यास में नित्य तत्पर रहे इन्द्रियों को वश में करे”
यह वानप्रस्थ प्रकरण में और “यज्ञवर्णन विषयक वेद मन्त्रों का जप करे” यह
संन्यास प्रकरण में कहा और (इदं शरणमज्ञानां०) इस से चारो आश्रम के लिये
वेदाध्ययन ही सर्वोपरि शरण दिखाया है कि अज्ञ ब्रह्मचारी, विशेष ज्ञानी
नाम स्त्री पुत्रादि को भेददृष्टि से देखने जानने वाला गृहस्थ, सुखान्वेबी वान-
प्रस्थ और अनन्त मुक्त दशा चाहने वाला संन्यासी है । ब्रह्मयज्ञ में तत्पर रहने
वाले सांसारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के सुख को प्राप्त होते हैं । चारो
वर्ण अपना २ अभीष्ट सुख चाहते हुए जिस किसी प्रकार स्वाध्याय यज्ञ का
सेवन करें वा उस के सेवनार्थ उद्योग करें । ब्रह्मयज्ञ ब्राह्मण का ही प्रधान कर्म
है अथवा जो कोई क्षत्रियादि कहाने वाला भी अन्य सब कर्मों को गौरव करके
स्वाध्याय जपयज्ञ को ही सर्वोपरि प्रधान मान के सेवन करे वह भी काल पा
कर ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो सकता है जैसे कि विश्वामित्रादि हुए । इस से सुख
चाहने वाले को चाहिये कि शास्त्र के आशयानुसार धर्म के मूल ब्रह्मयज्ञ का
दृढ़ता से स्वीकार और सेवन करे ॥

इति भीमसेनशर्मनिर्मिते मानवधर्ममीमांसाभाष्ये

वानप्रस्थसंन्यासविषये षष्ठोऽध्यायः पूर्णः॥

मानवधर्ममीमांसाभूमिकायाविषयसूचीपत्रम्

पृ० से पृष्ठ तक विषय ।

- १-७-भाष्यबनाने का प्रयोजन रूप प्रस्ताव ।
८-१३-मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञा ।
१४-२४-वे मनु कौन थे जिन्होंने इस धर्मशास्त्र का उपदेश किया ।
२५-३६-कब और किस ने इस मनुस्मृति को पुस्तकाकार में बनाया ।
३७-४२-सामान्यकर शास्त्र के विषय का विचार ।
४३-५२-धर्मशब्द के अर्थ का विचार ।
५३-६१-विधि, निषेध, अर्थवाद और सिद्धानुवाद का विचार ।
६२-७६-धर्म के लक्षणों की परस्पर उत्तमता निकृष्टता और मध्यमता का विचार
७७-८८-सृष्टिप्रकरण का सामान्य विचार ।
८९-९९-सृष्टिप्रसङ्ग में विरोध कहने वालों का समाधान ।
१००-१०६-मानसी और मैथुनी सृष्टि का भेद ।
१०७-११५-रचना के क्रम का विचार ।
११६-१२५-प्रथमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार ।
१२६-१३०-गर्भाधानादि संस्कारों का विचार ।
१३१-१३८-द्वितीयाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार ।
१३९-१५०-विवाहनिर्णय और पुनर्विवाहों का विचार ।
१५१-१६४-पञ्चमहायज्ञ और आहुतर्पण का विशेष विचार ।
१५३-१६४-आहु में पूज्य देव और पितर कौन हैं ? आहु नित्य कर्म है वा नैमित्तिक ?
१६५-१८६-आहुतर्पणविषय में अनेक शङ्काओं का समाधान ।
१८७-१९४-पिण्डदान और अन्य के किये कर्म का फल अन्य को पहुंचता है वा नहीं इत्यादि विचार ।
१९५-१९९-तृतीयाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार ।
२००-२०३-अनध्याय का विचार ।
२०४-२०९-दानधर्म का विवेचन ।
२१०-२१२-मूर्तिपूजा का विचार ।
२१३-२२२-चतुर्थाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार ।
२२३-२३४-भक्त्याऽभक्त्य का विचार ।

मानवधर्ममीमांसाभूमिकायाविषयसूचीपत्रम् ॥

- १५-२४७-मांस के खाने न खाने का विचार ।
१८-२५४-सूतकशुद्धि और द्रव्यशुद्धि का विचार ।
१५-२६४-पञ्चमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार ।
६५-२६८-वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का विचार ।
६९-२७७-राजधर्म विचार ।
७८-२८२-सप्तमाष्टमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा ।
८३-२८९-दायभाग विचार ।
९०-२९७-सपिण्डता और स्त्रीदाय का विचार
१९८-३०६-नवमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार ।
१७७-३३१-ब्राह्मणादि वर्ण जन्म से वा कर्माँ से किस प्रकार मानने चाहिये इत्यादि
का विचार ।
३३२-३३५-वर्णसङ्करों का विचार ।
३३६-३४१-आपदुर्म का विचार ।
३४२-३४६-दशवें अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा ।
३४७-३५२-प्रायश्चित्त का विचार ।
३५३-३५८-ग्यारहवें अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा ।
३५९-३६४-कर्मफल और मुक्ति का विचार ।

इति विषयसूचीपत्रम् ॥

अथ मानवधर्ममीमांसोपोद्घातस्यशुद्धिपत्रम्

पृष्ठ पं०	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ पं०	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१४	१७ वेवरसाहवः	व्यूलरसाहवः	१०३	१९ शुश्रुत	सुश्रुत
”	२५ साविभवति	साविर्भवति	”	२५	”
१५	२ श्रुतुर्वेद	श्रुतुर्वेद	१०९	८ शब्दस्य स्पर्श ।	शब्दस्पर्श
१९	३ निष्ठम् ।	निष्ठम् ।	११०	१२ मवयविविधो	मवयवविविधो
१९	१५ वेवर	व्यूलर	११७	१९ त्खण्डद्वयेन	त्खण्डद्वयेन
”	२१ वेवर	व्यूलर	११८	१४ सापन्ना	सापन्नास्त्री
२०	१६ प्रका	प्रक	११८	१८ प्राणब्दा	प्राणशब्दा
२५	६ दिखा	दिखाया	१२०	८ क्यशते	शक्यते
२७	२३ पुस्तकाकृ०	पद्याकृति०	१२२	२२ कियेउ नमें	किये उन में
२८	१६ पुस्तकाकारेण	पद्यकारेण	१२९	२४ सकसा	सकता
२८	२० प्रक्षिप्त	प्रक्षिप्त	१३१	२२ मानमर्थ	मानमर्थ
३२	१७ समय	समय	१४०	७ पुरुषेणे	पुरुषेणै
३३	११ आवश्ययकता	आवश्यकता	१४०	१६ नेकामिः	नेकामिः
३८	११ वैदिङ्कर्म	वैदिकङ्कर्म	१४३	२१ सादृश	तादृश
३८	३१ कर्तु	कर्तु	१४६	१९ द्विचन	द्विवचन
४६	९ क्वचिज्	क्वचिज्	१४६	२० होती है	होता है
५०	२ तिरोहित	तिरोहित ही	१५०	३ घोड़े	घोड़े
५५	१४ प्रजयते	प्रसजयते	१५३	५ आदुभुक्त	आदुभुक्त
६३	२१ चिदानृशं	चिदानृशं	१५४	१६ सेव्यते	सेव्यन्ते
७७	९ धर्म	धर्म	१५९	२९ कराने	कराने
”	२० दम्भ	दम्भ	१६२	११ अन्तत्य	अत्यन्त
७३	२१ इन्द्रियों	इन्द्रियों	१६४	२ आदु	आदु
८१	७ नाछष्टे	नाचष्टे	१६६	५ ब्राह्मणा	ब्राह्मणा
८६	८ जानाना	जानना	”	८ वृत्तं	प्रवृत्तं
८७	७ विरुद्ध	विरुद्ध	१६८	३ नामां	नां
८८	१५ व्यूलर	व्यूलर	”	९ ध्यादि	ध्यायादि
९१	२ मित्यं	मित्यं	१७२	८ तच्छिष्याः	तच्छिष्याः

मानवधर्ममीमांसीपोद्घातस्य शुद्धिपत्रम् ॥

पं० अशुद्धम् । शुद्धम् ।	पृ० पं० अशुद्धम् । शुद्धम् ।
७३ ७ प्रत्याप्यते प्रत्याप्यते	२७१ ४ धर्मा- धर्मात्मा
८२ २४ सञ्चित सञ्चित	२७४ १ पद्यपि यद्यपि
” वर्त्तमान वर्त्तमान	” १५ रर्षिताः दर्षिताः
८९ २० माप्तातै माप्तास्तै	” १६ ता तां
” २३ सम्भवन्ति सम्भवन्ति	२७५ ७ समन्त्य समीह्य
१०३ ५ चाहिजे चाहिये	२८४ ६ त्तितीयं द्वितीयम्
१०८ ५ दुःखसागर दुःखसागर मे	२८९ २४ सापिण्ड सपिण्ड
११२ ८ चिन्त चिन्तन	३०० १८ तिथिना तिथिना
१२ १८ आनन्दस्वरूप आनन्दस्वरूप	३०७ २६ मन्युः मनुः
१३ ८ हेतुं हेतुम्	३१० १२ शुश्रुता शुश्रुता
१८ ३ षट्यु षट्यु	३११ २२ युधिरष्टिर युधिष्ठिर
२४ १२ आहारा आहाराः	३१४ ११ श्चेति श्चैति
२६ १३ गुणो गुणौ	३१६ १४ अवान्तर्भे अवान्तरभे
५३ २९ वस्त्राहि वस्त्रादि	३४० २० मनु से का मनु का
५५ २२ पद्यात्रयो पद्यात्त्रयो	३४४ ८ शदुत्तर शदुत्तर
५६ २१ निषिद्धि । निषिद्धम् ।	३५५ ५ राक्षस राक्षसा
५८ १२ दुषित दुषित	३६३ २९ (जाहिलखाना) (जिलखाना)
६८ १ वानस्थ वानप्रस्थ	

वधर्ममीमांसाभाष्य २ खण्डकाशुद्धिपत्र

म् पङ्क्तिः अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम् पङ्क्तिः अशुद्धम्	शुद्धम्
१३ प्रत्येकश्च०	प्रत्येकच०	१०० २१ जाग्रियात्	जाग्रयात्
१६ ऽयचित्०	ऽयचित्०	१०१ १७ ०रवास०	०रवासु०
७ १२ ०त्यनुमेया।	त्यनुमेयम् ।	१२३ १२ पितृणा०	पितृणा०
७ १३ सम्भवन्त्येव	सम्भवन्त्येव	१३४ १९ परमार्थपथा	परमार्थपथेन
८ १५ भिक्षका०	भिक्षका०	१३५ २५ न्येत	मन्येत
१३ १२ स्वस्येवा०	स्वेषामिवा०	१३६ २ कार्याणि	कार्याणि
१७ १९ ध्यापदी	ध्यापनादी	१४० २३ नैरालस्यत्वेन	नैरालस्येन
१९ २ पर्वयो०	पर्वणो०	१४४ २० ०न्यभिच्छेत्	०न्यभिगच्छेत्
२३ १ धाना०	धाना०	१४७ ४ जीवतिः	जीवति
२३ २ धर्वा	धर्मएववा	१४९ ८ ०नाच्छादि०	नाच्छादनादि
२३ ५ ०स्तना०	०स्तेना०	१५२ २० ०माप्त०	०माप्तु०
" ११ ०वृत्सु०	वृत्सु०	१५२ २३ ०पराद्दुर्दो०	०पराद्दुर्दो०
" १३ ०वृत्या	०वृत्या	१५६ २० ददन्	ददत्
३० २ उज्ज्वलं	उज्ज्वलं	१६४ ९ गृहिणं	गृहिणे
३३ ६ ०सुखयोर्हेतूनि०	सुखहेतवः	१६८ १७ क्षथा	क्षुधा
३६ १५ नवस्येष्टया	नवसस्येष्टया	१६८ १९ दातृणां	दातृणां
५० २२ मनोज्ञाघव०	मनोज्ञाघव०	१७४ ११ प्रतिगृहीत्रा	प्रतिग्रहीत्रा
५१ १६ महत्परि०	महापरि०	" २० ०च्छलेन	०च्छलेन
६० १४ हनि०	हानि०	१७५ २२ क्षुधादि०	क्षुदादि
६७ १५ प्रतपेत् ।	प्रतापयेत्	१८५ १६ ०लक्षकम्	लक्षकम्
९६ १५ ०हेतुस्त०	०हेतुस्त०	१८७ १२ चव	चैव
७० १२ विघ्नानि	विघ्नाः	१८८ १९ ०मन्नम्	०मन्नम्
७२ ७ यादृशं	यादृशं	१९२ ८ ०त्यनूनं	०त्यनूनं
७४ ३ रोचयेत् ।	रोचयेत्	१९३ ९ क्षरप्र०	क्षुप्र०
८३ १२ वृक्षमूलानि	वृक्षमूलानि	१९४ १८ प्रायिको०	प्रायिको०
८४ ४ ०वशुद्धौ०	वशुद्धे	२०० २५ ०सैष्टिक०	०सैष्टिक०
८५ २१ साह्याशयेन	साहाशयेन	" २६ शक्तिः॥	शक्तिः॥
९३ २१ सनास०	सूनास०	२१७ १९ वार्हृषेः।	वार्हृषेः ।

[२]

मानवधर्मनीमांसाभाष्य २ खण्ड का शुद्धिपत्र-

पृष्ठम् पङ्क्तिः अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम् पङ्क्तिः अशुद्धम्	शुद्धम्
२२३ ५ ०मान—	०मात्मान—	३०० १६ कुर्वन्	कुर्वता
२३६ २० येयूषं	येयूषं	३३३ १५ शकुनिः	शकुनेः
२६० १५ सुखमश्नुते।	सुखमश्नुते ।	३६९-१ षष्ठमोऽध्यायः	षष्ठोऽध्यायः
" १९ ०भक्षणात्ति०	०भक्षणात्ति०	३६९ ८ ऋक्षेष्टिआ०	ऋक्षेष्टि, आ०
२६२ ६ ०कर्तृवत्त	०कर्तृवत्त०	३७१ १ पञ्चमोऽध्यायः	षष्ठोऽध्यायः
" २३ ०स्ताड्यते०	स्ताड्यते	३७३ १५ स्वयंशीरो०	स्वयंशीरो०
२७९ ९ हर्षेणापि	हर्षेणापि	" १ षष्ठमो०	षष्ठो०
२८३ १८ स्यालादि०	०श्यालादि०	३७५ १ षष्ठमो०	षष्ठो०
२९३ ११ गर्भद्रुहा०	गर्भद्रुहा०	३८५ ७ ०मशक्यः।	०मशक्यम्।
१२ भर्तृद्रुहां	भर्तृद्रुहां	" ८ ०दृढप्र०	०दृढप्र०

गुरु विद्यालय दण्डा
 सन्तर्भ पु
 पु परिग्रहण क्रमांक 2761
 दयानन्द महिला महाविद्यालय, कुम्हण

मूल्य घटायें हुए पुस्तकों का सूचीपत्र-

“आर्यसिद्धान्त पूर्व का छपा आठ भाग ९६ अङ्क तक टूटा लेने पर सब का मूल्य ४) होगा पृथक् २ प्रति भाग ॥=) ईश =) केन =) कठ ॥=) प्रश्ना ॥ सु-गडक ॥) माण्डूक्य =) ॥ तैत्तिरीय ॥=) ऐतरेय ॥-) श्वेताश्वतर ॥=) इन नव ९ उपनिषदों पर संस्कृत और नागरी में अब तक अच्छा भाष्य हो चुका है । ९ उपनि० भाष्य इकट्ठे लेने वालों को ३।=) मनुस्मृति का धर्मान्दोलन सहित संस्कृतना-गरी में भाष्य ३ अध्याय १ प्रथम जिल्द मूल्य २॥) भगवद्गीता का ठीक शुद्ध २ संस्कृत नागरी में भाष्य १॥) पं० चिन्तामणि की बनाई आल्हा ॥ गणरत्नमहोदधि -व्याकरण गणपाठ की संस्कृत व्याख्या और मूल श्लोक तथा अकारादि शब्द सूची सहित १) अष्टाध्यायी भाषाटीका १॥) आयुर्वेदशब्दार्थकोष ॥) भर्तृहरि नीतिशतक भाषाटीका =) ॥ भर्तृ० वैराग्यशतक भाषाटीका =) यमयमीसूक्त का अच्छा ठीक २ व्यवस्थायुक्त संस्कृत और भाषा भाष्य -) ॥ ब्राह्मणसमाज के मन्तव्य की परीक्षा =) जीवसान्तविवेक -) विदुरनीति मूल टिप्पणी सहित =) सद्भिचारनिर्णय -) सांसभोजन के तीनों भागों का प्रबल युक्ति प्रमाणों के साथ नागरी में खण्डन-प्रथम भाग का -) द्वितीय =) तृतीय का =) ॥ स्थावर में जीवविचार -) पुत्रकामेष्टिपद्धति -) पुनर्जन्म का पूरा व्याख्यान =) ॥ अष्टा-ध्यायी मूल प्रकरणों सहित =) देवनागरी की वर्णमाला ॥ १०० पुस्तक १) में ध-र्मलक्षण वर्णन (देखने योग्य) =) ऐतिहासिकनिरीक्षण मू०=) सुमतिमुधाकर मू० =) ॥ गणितारम्भ प्रथम पढ़ाने योग्य -) नीतिसार -) द्वितीय पुस्तक =) ॥ प्रोत्तर शतक मू०=) दशोपनिषद् मूल ॥) स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी मू० -) ॥ शा-स्त्रार्थखुर्जा -) सभाप्रसन्न ॥) संस्कृतप्रथमश्रेणि -) पाखण्डमतकुठार -) सत्यसंगीत भजन ॥) सद् ३श भजन आधा पैसा । आरती नित्य वा उत्सव पर गाने के लिये ॥) में दी । आर्यसमाज के नियम =) सैकड़ा । व्याख्यान का सामान्य विज्ञापन =) प्रति सैकड़ा । अबलाविनय =) धर्मवलिदान आल्हा-लेखराम वर =) जगद्गुशीकरण -) कस्तूरी -) बालबोध -) शिक्षाध्याय ॥ न्यायदर्शनसूत्रसूत्र पाठ =) भजनामृतसरोवर =) संगीतरत्नाकर =) भामिनीभूषण ॥) आर्यतत्त्वदर्पण =) कुरीतिनिवारण -) ॥ कन्यासुधार -) संगीतसुधासागर -) वेश्यालीला नई ॥) सजीवव्यूटीआल्हानई -) ॥ सत्यार्थप्रकाश पुष्ट कागज का २॥) सामान्य कागज का २) ऋग्वे०भूमिका २॥) संस्कारविधि १।) आर्याभिविनय ॥) पञ्चमहायज्ञविधि =) ॥ इत्यादि । विशेष वृत्तान्त बड़ा सूची संगीत देखो । ५) रु० में ६।) के पुस्तक मिलेंगे । १०) से आगे २ अधिक २ कमीशन दिया जायगा धर्मलक्षण वर्णन =) धर्मवलिदान =)

पता-भीमसेन शर्मा सस्वादक आर्यसिद्धान्त-इटावा (पश्चिमोत्तरदेश)